

शोध दिशा

ISSN 0975-735X

शोध अंक 12

अक्टूबर-दिसंबर 2010

100 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)
फोन : 01342-263232, 09368141411
ई-मेल : giriraj3100@gmail.com
वेब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

दिल्ली एन०सी०आर०

अनुभूति

सी-106, शिव कला

बी 9/11, सैक्टर 62, नोएडा

फोन : 09952070700

हरियाणा

गीतिका गोयल

ए-801, पार्क व्यू सिटी-2

सोहना रोड, गुडगाँव (हरियाणा)

फोन : 0124-4012173, 09582845000

हरियाणा, हिमाचल एवं पंजाब

डॉ० हरिशरण वर्मा

710/35 जनता कालोनी

रोहतक (हरियाणा) 124001

फोन : 01262-248211, 09355676460

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक

डॉ० मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक

डॉ० शंकर क्षेम

सह संपादक

डॉ० रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक

गीतिका गोयल

अनुभूति

उपसंपादक

डॉ० अशोककुमार

विधि परामर्शदाता

अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता

ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी०ए०

शुल्क

आजीवन : तीन हजार रुपए

वार्षिक शुल्क : चार सौ रुपए

यह प्रति : एक सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डा० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी आफसेट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

- डॉ० आर.पी.सिंह (पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय) प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ०प्र०)
- डॉ० अशोक चक्रधर, प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- डॉ० हरिमोहन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, के०एम०मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
- डॉ० हरमहेंद्रसिंह बेदी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर
- डॉ० रामसजन पांडेय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
- डॉ० आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी अध्ययन मंडल, डॉ० हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर
- डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
- डॉ० आदित्य प्रचंडिया, प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट (डीम्ड यूनिवर्सिटी) दयालबाग, आगरा (उ०प्र०)
- डॉ० माया टाक, प्रोफेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
- डॉ० संतराम वैश्य, प्रोफेसर हिंदी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)
- डॉ० अनिलकुमार जैन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
- डॉ० हनुमानप्रसाद शुक्ल, प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)
- डॉ० बाबूराम, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र
- डॉ० मुकेश गर्ग, रीडर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- डॉ० पद्मा पाटिल, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा०)
- डॉ० जितेंद्र वत्स, रीडर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
- डॉ० दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
- डॉ० लालबहादुर रावल, प्राचार्य, आर०एस०एम० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ०प्र०)
- डॉ० महेश दिवाकर, अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुलाबसिंह कॉलेज, चाँदपुर (उ०प्र०)
- डॉ० शाहबुद्दीन शेख, प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा०, औरंगाबाद (महा०)
- डॉ० महेशचंद्र, रीडर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ०प्र०)
- डॉ० हरेराम पाठक, अध्यक्ष हिंदी विभाग, डिगबोई महिला महाविद्यालय, डिगबोई (तिनसुकिया) असम
- डॉ० शंभुनाथ तिवारी, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भीलवाड़ा (राज०)
- डॉ० सुरेंद्र विक्रम, अध्यक्ष हिंदी विभाग, लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज, लखनऊ (उ०प्र०)
- डॉ० श्यामधर तिवारी, प्रोफेसर हिं०वि०, संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
- डॉ० प्रवीणकुमार वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, सनातन धर्म कॉलेज, पलवल (हरियाणा)
- डॉ० संतोषकुमार गौड़, रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ०प्र०)
- डॉ० उपारानी वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रुद्रपुर (उत्तराखंड)
- डॉ० सभापति मिश्र, प्राचार्य, हंडिया पोस्टग्रेजुएट कॉलेज, हंडिया (इलाहाबाद)
- डॉ० घनश्याम अरोरा, पूर्व रीडर इतिहास विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ०प्र०)

लेखक तथा औसत और साधारण पाठक

क्या साहित्यिक गतिविधियाँ निरुद्देश्य होती हैं? क्या साहित्यकार केवल अपनी इच्छापूर्ति के लिए इस मैदान में आता है? पाठक की उसे कितनी आवश्यकता है और क्यों? ये प्रश्न ऐसे हैं, जिन पर मैं बार-बार विचार करता रहा हूँ। उद्देश्य से हमारा क्या अभिप्राय है? और क्या उद्देश्य तथा संदेश में कोई अंतर करना आवश्यक है? यह सवाल भी मेरे विचार का केंद्र-बिंदु रहे हैं।

आइए, पहले इन प्रश्नों पर क्रमशः चर्चा करते हैं। मेरा कहना है कि साहित्यिक गतिविधियाँ निरुद्देश्य कैसे हो सकती हैं? कोई भी ऐसा व्यक्ति, कोई ऐसा कार्य कर ही नहीं सकता, जिसका कोई उद्देश्य न हो। ज़रूरी नहीं कि वह उद्देश्य किसी भौतिक लाभ से जुड़ा हो; पर मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि का कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है। जो आदमी भाग रहा है, सड़क पर सरपट दौड़ा चला जा रहा है, उसका भी इस दौड़ में कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होगा। प्रातःकाल लोग चहलकदमी के लिए निकलते हैं, इसके पीछे भी एक उद्देश्य छिपा होता है। हँसने की प्रक्रिया हो या रोने की, सोने की अवस्था हो या जागने की स्थिति मनुष्य के सभी कार्य किसी-न-किसी उद्देश्य से जुड़े होते हैं। केवल मानसिक स्तर पर विक्षिप्त लोग ही ऐसे हैं, जो निरुद्देश्य बोल सकते हैं, हँस सकते हैं, चीख सकते हैं, पत्थर फेंक सकते हैं, किसी पर आक्रमण कर सकते हैं। जो बुद्धिसंपन्न हैं और संतुलित मानसिक अवस्था में हैं, वे निरुद्देश्य हो ही नहीं सकते। और तो और पशु-पक्षियों की गतिविधियाँ भी किसी-न-किसी उद्देश्य के साथ बँधी होती हैं। पक्षियों की उड़ान निरुद्देश्य नहीं होती, कुत्ता अकारण नहीं भौंकता, बाघ अकारण हिंसक नहीं हो जाता। जहाँ जीवन और बुद्धि है, वहाँ उद्देश्य भी है। तब साहित्य, जो मानव की सर्वोत्तम मानसिक प्रक्रिया है, निरुद्देश्य कैसे हो सकती है? साहित्य के ऐसे पंडित भी, जो अभिव्यक्ति को लेखक की मनोवृत्ति या इच्छापूर्ति की ललक मानते हैं, यह दावा नहीं कर सकते कि रचनाकार शब्दों से या रंगों से, थिरकन से या स्वरों से जो कुछ अभिव्यक्त कर रहा है, वह उसकी एक ऐसी इच्छापूर्ति है, जिसका कोई उद्देश्य नहीं है।

मैं कुछ कहना चाहता हूँ, यह अपने-आपमें एक उद्देश्य है। इस आधार पर जब हम यह मान लेते हैं कि कुछ भी कहने के प्रति कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है, तब हमें यह भी मान लेना पड़ेगा कि हमारे कथन का कुछ-न-कुछ अर्थ भी अवश्य होगा और जब अर्थ होगा तो यह भी मान लेना पड़ेगा कि हम अपना अर्थपूर्ण कथन अपने अतिरिक्त किसी और तक भी पहुँचाने के इच्छुक हैं। मनुष्य एकांत में हमेशा अपने-आपसे वार्तालाप करने में ही व्यस्त नहीं रह सकता। उसे सुननेवाला चाहिए। उसे ऐसा व्यक्ति चाहिए, जो उसकी अभिव्यक्ति में भागीदारी कर सकता हो। लेखक के संदर्भ में यहीं से पाठक की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है।

दूसरा प्रश्न जो हमने आरंभिक पंक्तियों में उठाया था, यह था कि क्या उद्देश्य और संदेश में कोई अंतर है। उत्तर है कि हाँ है। वार्ताकार हमेशा ही कोई संदेश दे रहा हो, यह आवश्यक नहीं है। बातचीत करने में उसके उद्देश्य भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। यही स्थिति साहित्यकार की भी है। जब वह अपने विचारों को व्यक्त कर रहा होता है तो आवश्यक नहीं कि वह सुनने या पढ़नेवालों को कोई संदेश ही दे रहा हो। हो सकता है कि वह कोई ऐसा अनुभव आपके सामने रख रहा हो, जो आपकी अनुभूति में नहीं था या जीवन अथवा मानव-प्रकृति का कोई ऐसा रहस्य खोल रहा हो, जो आपको इससे पहले ज्ञात नहीं था। ज्ञात था तो ऐसे नहीं, जिस तरह साहित्यकार ने प्रस्तुत किया। हो सकता है कि वह केवल भावनात्मक स्तर पर आपकी संतुष्टि कर रहा हो, मनोरंजन कर रहा हो। ये सारे ही पक्ष किसी-न-किसी उद्देश्य से जुड़े हैं। संदेश देने के लक्ष्य से नहीं जुड़े। इस सुदीर्घ और तार्किक चर्चा के बाद हम इस परिणाम पर पहुँच गए हैं कि साहित्यकार अथवा कोई लेखक जब शब्दों के माध्यम से अपनी भावनाओं या विचारों को व्यक्त करता है तो इसमें उसका कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है। अभिव्यक्ति निरुद्देश्य नहीं होती, किंतु उद्देश्य सदैव संदेश देना ही हो, यह आवश्यक नहीं है।

अभिव्यक्ति का निश्चित ही कोई उद्देश्य होता है तो हमें तर्क के स्तर पर यह भी स्वीकार कर लेना होगा कि यह उद्देश्य लेखक के निजी और व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नहीं होगा। कोई दूसरा पक्ष भी इसकी सीमा में अवश्य होना चाहिए, क्योंकि अभिव्यक्ति सुबह की चहलकदमी-जैसी क्रिया नहीं है। व्यक्ति के सड़क पर दौड़ने जैसा काम नहीं है। ऐसी अवस्थाएँ पूर्ण रूप से निजी और व्यक्तिगत होती हैं, इसमें दूसरों की भागीदारी नहीं होती। ऐसी क्रियाओं का जो भी उद्देश्य हो, वह व्यक्ति का अपना है, व्यक्तिगत है, निजी है; किंतु जब वह बोलने की अवस्था में आता है तो स्वाभाविक रूप से उसके साथ एक-न-एक सुननेवाला अवश्य जुड़ जाता है। ठीक यही स्थिति साहित्यकार की भी है। शब्दों के माध्यम से जब वह किसी विचार को व्यक्त करने की प्रक्रिया से गुजर चुका होता है तो उसे अपने लिए अनिवार्य रूप से किसी पाठक या श्रोता की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। यह स्वीकार करना उचित नहीं कि रचनाकार अपने विचारों की अभिव्यक्ति के बाद संतुष्ट हो जाता है और उसे ऐसे व्यक्तियों की उपस्थिति की आवश्यकता नहीं होती, जो उसके द्वारा व्यक्त किए गए विचारों को सुन सकें या पढ़ सकें। पाठकों को नकारना या उनकी अनिवार्यता को अनदेखा करना साहित्यकार का झूठ तो हो सकता है, सच नहीं। ऐसे रचनाकार भी, जो पाठकों को महत्व न देने का दर्शन बघारते हैं, वे भी अप्रत्यक्ष रूप में पाठकों की उपस्थिति से जुड़े रहते हैं। प्रमाण के लिए इस सत्य पर ध्यान दीजिए कि यदि हममें से किसी व्यक्ति के सामने कोई सुननेवाला उपस्थित नहीं है तो हम या हमारे बीच का दूसरा व्यक्ति आप ही आप बोलने की मूर्खता नहीं करेगा। हम तभी बोलते हैं, जब कोई सुननेवाला उपस्थित होता है। इसी तरह लेखक और साहित्यकार भी उसी समय तक लिख या रच सकता है, जब तक उसे यह आभास है कि उसे सुनने या पढ़नेवाले उपस्थित हैं। यदि कोई लेखक यह अनुभव कर रहा हो कि इस भरे-पूरे समाज में उसे कोई सुनने या पढ़नेवाला नहीं है तो निश्चित रूप से यह भी मान लेना चाहिए कि ऐसा लेखक रचनाकर्म से विरत हो

जाएगा। पाठक नहीं हैं तो लेखक भी नहीं है। यह एक ऐसा सत्य है, जिसे नकारा जाना संभव नहीं है।

ये पाठक कौन हैं? यह एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है, जो इस चर्चा से जुड़ा है। लेखक इन पाठकों को कहाँ से प्राप्त कर सकता है? अभी-अभी मैंने ट्रॉजिस्टर ऑन किया है। श्रोताओं की फ़रमाइश पर एक युगल गीत आ रहा है। उद्घोषिका ने कोई दर्जनभर नाम बताए हैं, जिन्होंने यह गीत सुनने की इच्छा व्यक्त की है। गीत सुनने के इच्छुक लोग कई अलग-अलग नगरों के हैं। मुझे लगता है कि ये एक-दूसरे से परिचित भी नहीं हैं; परंतु इनकी पसंद का स्तर एक-जैसा ही है। न होता तो ये सब इसी एक गीत की फ़रमाइश एक साथ न करते। संगीत की मधुर झंकारों के बीच गीत के बोल गूँज उठे हैं।

मैं इस गीत पर ध्यान देता हूँ। मेरी पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि गीत में व्यक्त किए गए भावों को समझने के लिए किसी विशेष प्रतिभा की आवश्यकता नहीं है। इसमें आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग हुआ है। पंक्तियों की भाषा सामान्य जीवन में दिन-रात बोली जाने वाली भाषा है। अर्थ छिपे हुए नहीं हैं। पंक्तियों को सुनते ही हम उनका अर्थ इस तरह समझ लेते हैं, जिस तरह खिलौने बेचनेवाला किसी बालक द्वारा माँगे गए खिलौने के संबंध में बोले गए वाक्य का अर्थ समझ लेता है।

अपनी दूसरी प्रतिक्रिया में मैं अनुभव करता हूँ कि जिस रचनाकार ने उक्त पंक्तियाँ रची हैं, उसे छंदों का ज्ञान नहीं है या वह छंद को गीत के लिए आवश्यक नहीं मानता है। उसने उन भावों को शब्द दे दिए हैं, जो कहानी के दृश्य या 'सिचुएशन' की माँग के अनुकूल थे और संगीत की उस धुन से भी मेल खा रहे थे, जो कवि को पहले ही बता दी गई थी।

अपनी तीसरी प्रतिक्रिया में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि गायन की आधुनिकतम शैली के लिए गीत में छंद का होना अनिवार्य नहीं है। गीत निर्धारित छंदों में न भी हो तो भी गाया जा सकता है। इसे छंदविहीन होने के बावजूद गायकों की आवाज़ ने आकर्षक बना दिया है।

अंतिम प्रक्रिया में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि उक्त गीत की फ़रमाइश करनेवाले श्रोता वही हैं, जो साहित्य के साधारण पाठक भी हैं, जो कि बोलचाल की भाषा को समझने के अभ्यस्त हो गए हैं। उससे ऊपर का साहित्य उनकी पकड़ में नहीं आएगा। बाज़ार की जो भाषा है, वह इनके स्वभाव में रचबस गई है। उच्चस्तर या मध्यम स्तर का जो साहित्य है, अब ये उसे पचा पाने में समर्थ नहीं रहे हैं। यही वे श्रोता हैं, जो कविसम्मेलनों में भीड़ बनकर जुटते हैं। कवियों द्वारा सुनाई जा रही उन कविताओं की प्रशंसा में धरती-आकाश एक करते हैं, जो अपने अर्थों में अत्यधिक सरल होती हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि फ़िल्म-निर्माता ने अपने इन्हीं बहुसंख्यक सिनेदर्शकों को ध्यान में रखकर संगीतज्ञों से उत्तेजनात्मक धुन बनवाई और धुन के आधार पर सीधा-सरल गीत रचने के लिए गीतकार से कहा। गीतकार ने पहले से तैयार किए गए संगीत को ध्यान में रखते हुए सर्वजन सुलभ भाषा में गीत को बोल दिए, वे गायकों द्वारा गाए गए और यह गायन दर्शकों तथा श्रोताओं में लोकप्रिय हुआ।

आइए, अब इस पूरे घटनाक्रम का विश्लेषण करें। प्राथमिक स्तर पर फ़िल्म-निर्माता

की दृष्टि में फिल्मों के वे साधारण दर्शक थे, जो केवल मनोरंजन चाहते थे। सोच के स्तर पर न वे किसी गहराई में उतरना चाहते हैं और न वे इसके अभ्यस्त हैं। प्रतिदिन बोली जानेवाली सामान्य भाषा के अतिरिक्त किसी और भाषा को समझने की क्षमता उनमें नहीं है।

पूरी प्रक्रिया पर दृष्टि डालें तो फिल्म-निर्माता से लेकर संगीतज्ञ तक और संगीतज्ञ से लेकर कवि तक सबके सब इन्हीं साधारण दर्शकों-श्रोताओं की माँग को पूरा करते दिखाई दे रहे हैं। यहाँ कवि या रचनाकार अपनी अभिव्यक्ति में स्वतंत्र नहीं है। वह ठीक वैसा ही माल उत्पादित कर रहा है, जिसकी माँग सामान्य श्रोता या दर्शक (या पाठक) कर रहे हैं। वास्तव में यह कार्य इसी सिलसिले की एक कड़ी है, जो हमें बाजारों, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों और मॉडियों में दिखाई देता है। जहाँ विक्रेता वही माल सजाकर बैठते हैं, जो उनकी दृष्टि में ज्यादा बिकाऊ होता है या उनके विचार में जिसकी खपत अधिक होने की संभावना होती है। बाजार की इस सभ्यता ने सबसे पहला आक्रमण कविसम्मेलनों पर किया। रचनाकार ऐसा 'माल' मंचों पर लेकर आए, जो सीधी, सरल भाषा में हो और श्रोताओं की भावनाओं को प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित कर सकता हो। यही साहित्य के वे सामान्य पाठक भी हैं, जो रचना को गहराई में जाकर समझने की स्थिति में नहीं होते। इन्हीं के लिए प्रकाशक सस्ता साहित्य छापते हैं और बेचते भी हैं। अंतिम निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि इन्हें स्वतंत्र करनेवाला साहित्यकार अपनी अभिव्यक्ति में स्वतंत्र नहीं हैं। वह ऐसा उत्पादक है, जो माँग के अनुसार माल तैयार कर रहा है। वह उस व्यवसाय का हिस्सा है, जो मंचों और सस्ते साहित्य के प्रकाशकों के शोरूमों में फैला हुआ है।

मंच पर अच्छा नाटकीय प्रदर्शन करने या मधुर स्वर में गीत सुनानेवाला एक निम्नस्तरीय कवि आर्थिक लाभ के दृष्टिकोण से उन साहित्यकारों की तुलना में क्यों अधिक सफल रहता है? क्या इसलिए नहीं कि यह उस व्यवसाय का आवश्यक पक्ष है, जो साधारण श्रोताओं (पाठकों) की माँग की पूर्ति में लगा है। कृपया अन्यथा न लें किंतु सत्यता यही है कि जब ललितकलाओं पर निर्णय करने का अधिकार सुधिजनों के हाथों में न रहकर भीड़ के हाथ में आ जाता है तो इसी प्रकार के साधारण पाठक, श्रोता और सिनेदर्शक सामने आते हैं, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। खेदसहित यह सत्य स्वीकार करना होगा कि हम स्वतंत्रता के पचास वर्ष से अधिक बिताने के बाद भी भीड़पन के युग में जीवित हैं। भीड़ ललितकलाओं, विशेषकर साहित्य, चित्रकला और कविता आदि के साथ जो व्यवहार कर रही है, वह उस व्यवहार से पूर्णतः भिन्न है, जो सुधिजन द्वारा किया जाता है या किया जाना चाहिए। मुझे लगता है कि 'भीड़पन' का यह दौर अभी जल्दी समाप्त होनेवाला नहीं है, क्योंकि राजनीति में जो स्तरहीनता आई है, उसका प्रभाव लोकप्रिय कहलाने वाले साहित्य पर भी पड़ा है। कृपया मुझे अनुमति दीजिए कि मैं लोकप्रिय (popular) साहित्य को 'भीड़प्रिय' कहकर परिभाषित करूँ।

इस 'भीड़प्रिय' साहित्य का वास्तविक चित्र हम अपने कविसम्मेलनों में आसानी से देख सकते हैं, जहाँ साहित्य के नाम पर आयोजित इन कार्यक्रमों में भारी भीड़ एकत्र होती है। ऐसे कवि, जिनका साहित्य भीड़प्रिय नहीं होता, वे फ्लाप हो जाते हैं। साहित्य के भीड़प्रिय उत्पादकों की माँग बढ़ती है तो उनकी कीमत भी बढ़ती है। माँग और कीमत का यह गठजोड़

इस भीड़प्रिय साहित्य को एक बड़े व्यवसाय में परिवर्तित कर देता है। संक्षेप में, भीड़प्रिय साहित्य के व्यवसाय में कवि, आयोजक और श्रोता तीनों का एक-ऐसा गठजोड़ तैयार हो जाता है, जो इसे एक उद्योग की तरह चलाता है। सस्ते मनोरंजक साहित्य के यही श्रोता हैं, जिन्हें हम अपने सम्मुख सर्वाधिक संख्या में पाते हैं। यही साहित्य के साधारण पाठक भी हैं और इनमें से एक बड़ी संख्या उन पुस्तकों की ग्राहक भी बनती है, जो भीड़ की माँग के अनुसार कलम का उत्पाद तैयार करने के व्यवसाय से जुड़े हैं। यहीं से एक मौलिक साहित्यकार के सामने पाठक उपलब्ध होने की समस्या खड़ी हो जाती है।

यह समस्या वास्तव में है क्या? मैंने इस विषय में सोचा है और मेरा अनुभव है कि मौलिक साहित्यकार न तो अपने पाठक का बँधुआ प्राणी बनना चाहता है और न ही वह पाठक ही को अपना बँधुआ बनाकर रखने की इच्छा रखता है। मौलिक रचनाकार की प्रवृत्ति स्वयं भी मुक्त रूप से कार्य करने की होती है और वह अपने पाठक को भी स्वतंत्र निर्णय करने की छूट देने का इच्छुक होता है। भीड़प्रिय साहित्यिक उद्योग की स्थिति ऐसी नहीं है। इस व्यवसाय में सर्वप्रथम साहित्यकार, कवि या रचनाकार श्रोताओं की रुचि या उनकी पसंद-नापसंद का दास बनता है और फिर श्रोता भी उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। इन दोनों पक्षों को जोड़ने में मुख्य भूमिका धन की रहती है। धन इस उद्योग को व्यवसाय की तरह चलाता है। यह विस्तृत चर्चा हमें कम-से-कम इस निष्कर्ष तक तो पहुँचा ही देती है कि करोड़ों की संख्या में भीड़प्रिय साहित्य के वे श्रोता, जो बाद में पुस्तक बाज़ार के ग्राहक भी बनते हैं, स्वतंत्र और मौलिक साहित्यकारों की सीमा में नहीं आते। फ़िल्मी गीतों और कविसम्मेलनों के प्रभाव से जो पाठकवर्ग उत्पन्न होता है वह 'प्यार किया तो डरना क्या' जैसी पंक्ति पर नृत्य कर सकता है पर दुष्यंत की इस पंक्ति पर कि 'इन पहाड़ों से कोई गंगा निकलनी चाहिए' पर श्रद्धा से गर्दन तो हिला सकता है, पर झूमगा नहीं।

उक्त व्याख्या ने यह बात स्पष्ट कर दी कि फ़िल्मों और कविसम्मेलनों के प्रभाव के फलस्वरूप देश के विशाल पाठकवर्ग में जो जबरदस्त विभाजन हुआ है, उसने कई साहित्यकारों के सामने कई जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो गईं। करोड़ों पाठकों का बहुत बड़ा वर्ग जो भीड़प्रिय साहित्य के प्रति आकर्षित है, उसका उन मौलिक साहित्यकारों से कुछ लेना-देना नहीं है, जो उसके स्तर का साहित्य रचने पर राजी नहीं है। वह स्वतंत्र और सर्वाधिकार-संपन्न साहित्यकार के रूप में जो कुछ रचते हैं, वह इस पाठकवर्ग के मानसिक स्तर को स्वीकार नहीं है। इसका तार्किक परिणाम यह है कि हमने जिस विशाल पाठकवर्ग को साधारण पाठक का नाम दिया है, वह स्वतंत्र और मौलिक रूप से कार्य करने वाले साहित्यकारों के क्षेत्र से बाहर है। वह इन साहित्यकारों के प्रति श्रद्धाभाव तो व्यक्त कर सकता है, पर इनका अध्ययन नहीं करेगा।

दूसरा वर्ग जिसे हमने औसत पाठक की श्रेणी में रखा है, वह ऐसा वर्ग है, जो मौलिक रचनाकारों को सराहता है, उनसे जुड़ता है और स्वयं भी एक स्वतंत्र इकाई के रूप में उनके कार्य की समीक्षा करना चाहता है। किंतु यह वर्ग संख्या में इतना छोटा है कि यह कोई बड़ी निर्णायक शक्ति बनने की स्थिति में नहीं आ पाता। कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के शिक्षक, छात्र, मध्यमवर्ग के शिक्षित साहित्य-प्रेमी, लिखने-लिखाने में स्वयं रुचि

रखनेवाले लोग, यही सब अच्छे साहित्य के भी पाठक हैं, जिन्हें यहाँ औसत श्रेणी में रखा गया है। इस पाठकवर्ग के साथ दुविधा यह है कि साहित्य इस वर्ग के लिए अनिवार्य नहीं है। अवकाश मिला तो पढ़ लिया अन्यथा समकालीन साहित्य का अध्ययन करना इनके लिए आवश्यक नहीं है। यह औसत श्रेणी का पाठकवर्ग साहित्य-जगत् का सम्मानित वर्ग है और इसकी माँग रहती है कि समकालीन साहित्य के संबंध में प्रकाशित होने वाली पुस्तकें उसे निशुल्क उपलब्ध कराई जाएँ। यहाँ आकर हम दो अंतर स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। साधारण पाठक और भीड़प्रिय पाठक जहाँ पूर्ण रूप से व्यावसायिक सिद्धांतों के बाज़ार से जुड़े हैं, वहीं औसत श्रेणी का पाठक और उसकी रुचि का साहित्यकार दोनों ही इस परंपरा से बिल्कुल अलग-थलग पड़े हैं। मौलिक और स्वतंत्र लेखक न अपनी रचनाओं के ग्राहक ही ढूँढ सके हैं और न ही उन्हें बेच पा रहे हैं। इस तरह औसत दर्जे के पाठक तथा मौलिक एवं स्वतंत्र साहित्यकार के बीच जो भी रिश्ता है वह आर्थिक नहीं, मानसिक स्तर पर स्थापित हो रहा है। साहित्यकार स्वतंत्र रूप में रचनाधर्मिता से गुज़रकर पहले अपना संतोष करता है और अपने अगले कदम के रूप में उस औसत श्रेणी के पाठक का, जो पैसे देकर मनोरंजन नहीं खरीद रहा है बल्कि साहित्य के माध्यम से पहले की तुलना में कुछ बेहतर स्थिति में आना चाहता है।

बहुत छोटे क्षेत्र का औसत पाठक उन औसत साहित्यिक रचनाओं की ओर आकर्षित होता है, जिनमें जटिलता इतनी न हो, जिसे सुलझाने के लिए उसे एड़ी से चोटी का जोर लगाना पड़े। वह अच्छा साहित्य चाहता है लेकिन उलझा हुआ नहीं।

किसी साहित्यिक रचना में उलझाव आने के कई कारण होते हैं। इनमें से हर एक पर यहाँ हल्का-सा प्रकाश डाल लेना चाहिए—

1. रचना यदि प्रतीकात्मक है और उसमें रचनाकार ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है, वे जाने-पहचाने नहीं हैं या रचना में उन्हें पहचान पाने का कोई हल्का-सा संकेत नहीं है, प्रतीकों का संबंध सार्वजनिक जीवन से नहीं है, पूर्णतया निजी और व्यक्तिगत जीवन से है, तब ऐसे प्रतीक पाठक के लिए उलझाव का कारण बन सकते हैं और उनकी गहराई में उतरना उनके लिए मुश्किल हो सकता है।

2. रचना में संकेतों की जो भाषा प्रयोग की गई है, वह अर्थों का ज्ञान कराने से अधिक भ्रम की स्थिति उत्पन्न कर रही है और रचना को बार-बार पढ़ने के बाद भी एक सामान्य पाठक उन संकेतों के माध्यम से रचना तक पहुँचने में सफल नहीं हो पा रहा है।

3. पाठक की परख और बुद्धि का स्तर वह नहीं है, जो रचनाकार का रहा है। भाषा के रचनात्मक प्रयोग और शब्दों के इस्तेमाल की विधियों से पाठक भली प्रकार परिचित नहीं है। वह साहित्यिक अभिव्यक्ति की पूर्वप्रचलित परंपरा से जुड़ा है और साहित्य में नए-नए प्रयोगों को सरलतापूर्वक समझने का अभ्यास उसे नहीं है।

4. साहित्यकार ने अपनी रचना में जो अनुभव प्रस्तुत किए हैं, उसके संबंध में पाठक को प्रारंभिक जानकारी भी नहीं है। ऐसे में बिल्कुल संभव है कि वह रचनाकार के अनुभवों तक पहुँचने में सफल न हो सके।

5. किसी विचार, अनुभूति या विषय-विश्लेषण को व्यक्त करने के संबंध में स्वयं

रचनाकार का अपना दृष्टिकोण स्पष्ट न हो। स्वयं उसके भीतर उलझाव हो, ऐसी स्थिति में जो रचना अस्तित्व में आएगी, वह निस्संदेह उलझी हुई होगी।

6. कई बार कुछ रचनाकार स्वयं ही जानबूझकर बात को उलझाने का प्रयास करते हैं। कभी इसका उद्देश्य पाठक को अपने ज्ञान की श्रेष्ठता से प्रभावित करना होता है और कभी वाद-विवाद का विषय बनकर चर्चा में बने रहना। यह सब स्थिति एक सामान्य पाठक को झेलनी होती है। साधारण पाठकों को इनसे कोई लेना-देना नहीं होता। आवश्यकता से अधिक उलझा हुआ साहित्य औसत पाठकों के क्षेत्र को और छोटा करता जाता है और ऐसे साहित्यकार गिनती के कुछ पाठकों के बीच 'हीरो' बनकर रह जाते हैं।

तब क्या हो? क्या मौलिक और स्वतंत्र साहित्यकारों को साधारण पाठकों के स्तर पर उतर आना चाहिए? नहीं। हमारा उद्देश्य यह कदापि नहीं है। तनिक गहराई में जाएँगे तो हमें यह ज्ञान हो जाएगा कि उच्च श्रेणी के मौलिक साहित्यकार और उसके औसत पाठक को अपने-अपने क्षेत्रों में रहते हुए दो लक्ष्यों की ओर निरंतर बढ़ते रहना होता है।

साहित्यकार के नाते एक रचनाकार का कर्तव्य यह है कि वह अपने औसत श्रेणी के पाठक का मानसिक स्तर उठाने का निरंतर प्रयास करे, भाषा और अभिव्यक्ति दोनों ही स्तरों पर। उधर एक औसत पाठक के लिए यह बात बहुत आवश्यक है कि वह पहले लिखे गए और उसके समय में लिखे जा रहे साहित्य का निरंतर अध्ययन करता रहे, क्योंकि यदि वह अध्ययन के मामले में पिछड़ जाता है तो यह बहुत संभव है कि साहित्य को परखने की उसकी क्षमता क्षीण हो जाए। इस तरह एक औसत पाठक को स्वयं अपने-आपको निरंतर प्रशिक्षित करना आवश्यक है तो एक मौलिक साहित्यकार को ऐसा दृष्टिकोण अपनाने की कोशिश करनी होती है कि 'अभिव्यक्ति' और उसकी 'परख' के बीच कोई ऐसा सूत्र अवश्य बना रहे, जो औसत पाठक और साहित्यकार के संबंधों को कदापि टूटने न दे।

अब बात करते हैं उच्च कोटि के रचनाकारों और उनकी कृतियों से आनंद लेनेवाले बुद्धिजीवियों की। इनकी संख्या औसत पाठकों की संख्या से भी कम है। गिने-चुने प्रोफेसरों, प्रवक्ताओं, शिक्षाविदों, साहित्यिक क्षेत्र के समीक्षकों, समालोचकों को छोड़कर, औसत पाठकों का वर्ग है, इस साहित्य के संपर्क में नहीं आता है। इसलिए 'वैचारिक दर्शनों' से भरा यह साहित्य गिनती के कुछ साहित्यप्रेमियों के बीच ही सिमटकर रह जाता है।

उक्त विस्तृत चर्चा के संदर्भ में यदि हम देखें तो ज्ञात होगा कि हमारे आज के शिक्षित समाज में जहाँ तीन तरह के पाठक हैं, वहीं तीन श्रेणियों के साहित्यकार भी हैं। बुद्धि के स्तर पर ये तीनों एक-दूसरे से भिन्न हैं और इनके बीच कोई सीधा संबंध भी नहीं है। यह वही स्थिति है, जो हमारे वर्गीकृत समाज की है। बात को अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए आप 'अज्ञेय' की ये पंक्तियाँ देखें—

मैं सभी ओर से खुला हूँ—

बन-सा, बन-सा अपने में बंद हूँ

शब्द में मेरी समाई नहीं होगी

मैं सन्नाटे का छंद हूँ।

स्पष्ट है कि उक्त पंक्तियाँ एक साधारण पाठक के लिए कोई आकर्षण नहीं रखतीं।

इनमें जो भी आकर्षण है वह 'औसत' और उसके ऊपर के पाठक के लिए है। साधारण पाठक तो शायद इन्हें पढ़ना और सुनना भी स्वीकार नहीं करेगा। इनसे अलग हटकर नीचे अंकित इन पंक्तियों को देखिए—

बहुत दिनों से मैं
किसी ऐसे आदमी से मिलना चाहता हूँ
जिसे देखते ही लगे
इसी से तो मिलना था
पिछले कई जन्मों से।

स्पष्ट है कि उक्त पंक्तियों में कोई जटिलता नहीं है, एक औसत पाठक के लिए। वह अंतिम पंक्ति पढ़कर जान जाता है कि साहित्यकार का भावार्थ क्या है? अब इस चर्चा को संक्षिप्त करें तो निष्कर्ष निकलता है कि साहित्यकार का अस्तित्व बिना पाठक-श्रोता के नहीं है। वह हवा में अपनी बात नहीं सुना सकता, जीवित मानव-प्राणी को सुना सकता है; और सुनाने अथवा पढ़वाने की भावना के बिना साहित्य की रचना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

साहित्यकार है तो पाठक भी है। पाठक नहीं रहेंगे तो साहित्यकार भी नहीं रहेगा। समस्या केवल एक है कि हम जिसे 'औसत' पाठक कह रहे हैं, उसकी संख्या बढ़ानी होगी, उसे प्रथम श्रेणी के पाठक के स्तर तक पहुँचाना होगा और यह काम शिक्षा एवं साहित्य के विस्तार के बिना नहीं हो सकता।



(डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल)
संपादक

अनुक्रम

लेखक तथा औसत और साधारण पाठक / डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	3
प्रेमचंद के अप्राप्य पत्रों की खोज और उनका महत्त्व / डॉ० कमलकिशोर गोयनका	13
पर्वतीय जीवन का सच्चा दस्तावेज़ 'बीरा' उपन्यास / डॉ० शशिप्रभा त्यागी	21
स्त्री-संघर्ष : दशा और दिशा / डॉ० वंदना शर्मा	27
कहानीकार मिथिलेश्वर : प्रेमचंद की विरासत / डॉ० दीनानाथ सिंह	33
स्वतंत्रता से पूर्व की हिंदी-पत्रकारिता / डॉ० अशोक उपाध्याय	44
बदलते सामाजिक मूल्य और साहित्य की प्रासंगिकता / डॉ० विश्वंभर पांडेय	54
हिंदी-कविताओं में छंद-विधान 1980 से अब तक / अरविंदकुमार	62
लोकतंत्र की अवधारणा और रामसाहित्य की प्रासंगिकता / डॉ० सभापति मिश्र	71
भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी / डॉ० निकेता	80
महर्षि दयानंद की देन : एक अध्ययन / रश्मि मलिक	85
पर्यावरण-प्रदूषण : वैदिक अवधारणा एवं समाधान : अथर्ववेद के परिप्रेक्ष्य में / डॉ० साधना सहाय	90
रामधारीसिंह दिनकर के काव्य में प्रणय / डॉ० किरण वालिया	95
मीडिया और हिंदीभाषा का बदलता स्वरूप / डॉ० बसंत बंसल	102
यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' के पौराणिक उपन्यास / डॉ० निर्मला शर्मा	108
साहित्य एवं पत्रकारिता का अंतर्संबंध / संगीता राव	118
नारी-विमर्श : विविध आयाम / सारिका त्यागी	122
समकालीन कहानी का परिवेश और संदर्भ / डॉ० प्रतिभा मुदलियार	130
भारतभूषण अग्रवाल के काव्य में प्रतीक-योजना / श्रीमती विंदु बराच	137
नई कहानी और उसमें समाहित भारतीय साठोत्तर युग की दशा / अमिता वर्मा	147
भीष्म साहनी के नाटक में जनवादी चेतना / प्रेमवेदा यादव	152
विद्यापति-पदावली में श्रीकृष्ण एवं उनकी रसमाधुरी / रमाकर सिंह	158
'गंगा से ग्लोमा तक' में भारतीय-नॉर्वेजीय संस्कृति का अपूर्व संगम / डॉ० महेश 'दिवाकर'	162
नारी-अस्मिता और उसके औदात्य की पूर्व पीठिका / शशिप्रभा	170
हिंदी दलित-कविता और मार्क्सवाद / सुशील 'शीलू'	178

हिंदी-लेखिकाओं का हिंदी-उपन्यास साहित्य और स्त्री-सशक्तीकरण /	
प्रो० सुमंगला मुम्मिगट्टी	183
‘सुरभि सप्तशती’ एक मूल्यांकन / डॉ० बाबूराम	189
साठोत्तरी हिंदी-उपन्यासों में दलित-नारी / प्रो० दिलीपकुमार कसबे	195
जनसंचार-माध्यमों के परिप्रेक्ष्य में हिंदीभाषा / डॉ० सतीश शर्मा जाफ़रावादी	202
संत ब्रह्मानंद सरस्वती के साहित्य में युगबोध / उषारानी	207
स्वाधीनता-आंदोलन में हरियाणा के हिंदी-साहित्य में स्थितिमूलक राष्ट्रीय चेतना/ सुषमादेवी	212
डॉ० कुँअर बेचैन के पांचाली महाकाव्य में चित्रित जीवनमूल्य/ यज्ञेशकुमार	219
नागार्जुन के उपन्यासों में लोकचेतना का स्वर/ हरमनदीप सिंह	233
कफ़न मर्मांतक पीड़ा एवं हृदयविदारक वेदना की समानुभूतिमयी अभिव्यक्ति है/ डॉ० शंभुनाथ तिवारी	239
भारतीय जीवन-पद्धति में नारी/ डॉ० ईश्वरसिंह सागवाल	247
कितने पाकिस्तान में नारी-पीड़ा की अभिव्यक्ति/ डॉ० कविता त्यागी	250
सामान्य बी०टी०सी० एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापकों की दुर्दिचता का तुलनात्मक अध्ययन / प्रदीपकुमार सिंह	256
प्राथमिक विद्यालयों में कक्षा प्रबंध एवं उसको प्रभावित करने वाले कारक / गीता कुशवाहा	260
संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य / विवेक विक्रम सिंह	265
महिला-उद्यमिता एवं सामाजिक सुरक्षा / डॉ० मधुलिका तिवारी	269
डिण्डौरी ज़िले के पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्षां की शैक्षणिक योग्यता का अध्ययन / डॉ० कुमुद दंबे	274
बचपन की सतरंगी छवियाँ : जादूगर बादल / डॉ० शकुंतला कालरा	279
आधी हकीक़त आधा फ़साना बनाम पूरी हकीक़त पूरा फ़साना / डॉ० विपिनकुमार गिरि	284
ज्ञान एवं मनोरंजन-प्रदायक बालोपयोगी कहानियाँ / डॉ० शकुंतला कालरा	286
जीवंत व्यंग्य-संकलन : 51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ / डॉ० गंगाप्रसाद गुप्त बरसैया	288
जीवन को सुख एवं आनंद देनेवाली रचनाएँ : यादें बोलती हैं / आर्यभूषण गर्ग	290
समय और साहित्य की मीमांसा है : अभिनव मीमांसा / शिवाकांत त्रिपाठी	293

प्रेमचंद के अप्राप्य पत्रों की खोज और उनका महत्त्व

डॉ० कमलकिशोर गोयनका

प्रेमचंद के अप्राप्य साहित्य की खोज में उनके लिखे पत्रों का भी उतना ही महत्त्व है, जितना किसी कहानी या उपन्यास का। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि हिंदी में पत्रों को अनमोल निधि समझने तथा उन्हें सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बहुत ही कम है, यद्यपि विदेशों में लेखक के एक-एक शब्द को संगृहीत करने तथा उसे महत्त्व देने की एक आम प्रवृत्ति दिखाई देती है। पत्र लेखक के अंतर्मन, उसकी भावनाओं एवं उसके वैचारिक संसार का प्रतिबिंब होता है और अनेक बार गोपनीय तथा अज्ञात तथ्यों का उद्घाटन भी उनसे होता है। लेखक के प्रेरणा-स्रोत, रचना-प्रक्रिया, साहित्य-सिद्धांत के साथ उसके जीवन के तनाव, संघर्ष, प्रसंग आदि की महत्त्वपूर्ण जानकारी पत्रों से उपलब्ध हो जाती है। इसी कारण लेखक के जीवन, विचार तथा उसके साहित्य का अध्ययन करते समय लेखक द्वारा लिखे पत्रों को सम्मुख रखना आवश्यक है। प्रेमचंद जैसे साहित्यकार के साथ तो यह और भी आवश्यक है, क्योंकि उनके पत्र-व्यवहार का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। वे उर्दू तथा हिंदी दो भाषाओं के लेखक थे और दोनों ही भाषाओं में वे नियमित पत्र-व्यवहार करते थे। इन दोनों भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में उनकी रचनाएँ नियमित छपती थीं, इस कारण सैकड़ों संपादकों से उनका पत्र-व्यवहार रहता था। उन्होंने 'मर्यादा', 'माधुरी', 'हंस', 'जागरण' आदि पत्रिकाओं का संपादन किया था और उन्हें बराबर संपादकीय पत्र-व्यवहार करना पड़ता था। उनकी रचनाओं के भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में अनुवाद उनके जीवनकाल में ही आरंभ हो गए थे। इसके लिए भी अनुवादकों से पत्र-व्यवहार होता ही था। इसके अतिरिक्त देश में उनके असंख्य पाठक, प्रशंसक तथा आलोचक थे, जो पत्रों के माध्यम से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे और प्रेमचंद उनका बराबर उत्तर देते थे। ऐसी स्थिति में यह सरलता से समझा जा सकता है कि प्रेमचंद ने अपने जीवन में कितने हजार पत्र लिखे होंगे और उनमें उनके जीवन के क्रियाकलाप तथा साहित्यिक गतिविधियों का कितना व्यापक तथा प्रामाणिक चित्रण हुआ होगा। अमृतराय ने जब प्रेमचंद की जीवनी लिखी तो दयानारायण निगम, जैनेंद्रकुमार, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, इमत्याज अली 'ताज' आदि अनेक व्यक्तियों को लिखे गए पत्रों से जो मदद मिली, वह इस जीवनी के पाठक जानते हैं। अमृतराय ने सभी उपलब्ध पत्रों को 'चिट्ठी-पत्री' शीर्षक से दो खंडों में प्रकाशित किया, जिनमें कुल 33 व्यक्तियों को लिखे गए पत्रों को संकलित किया गया है। 'चिट्ठी-पत्री' 1 में दयानारायण निगम को लिखे 281 पत्र हैं, जो सभी उर्दू में लिखे गए हैं तथा 'चिट्ठी-पत्री' 2 में 32 व्यक्तियों को लिखे गए 235 पत्र हैं जो उर्दू, अंग्रेजी तथा हिंदी में लिखे गए हैं।

प्रेमचंद के पत्रों की खोज का जो सिलसिला भीष्म साहनी ने 1941 में आरंभ किया

था, वह मदनगोपाल तथा अमृतराय के प्रयासों से चरम-स्थिति तक पहुँचा और कुल 516 पत्र एकत्र करके प्रकाशित किए जा सके। प्रेमचंद द्वारा लिखे गए पत्रों की संभावित संख्या को देखते हुए यह संख्या बहुत अधिक नहीं है, फिर भी इनके ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में इन उपलब्ध पत्रों के अभाव में प्रेमचंद की प्रामाणिक जीवनी लिखी ही नहीं जा सकती। इस बड़ी उपलब्धि के प्रकाशन के बाद मैंने जब अन्य अज्ञात पत्रों की खोज का कार्य आरंभ किया तो मुझे किसी बड़ी सफलता की आशा नहीं थी, किंतु मुझे इसकी प्रसन्नता है कि प्रेमचंद के 146 नए पत्रों को खोजा जा सकता है। ये पत्र 52 व्यक्तियों को लिखे गए हैं तथा जिनमें से 102 हिंदी में, 27 अँग्रेजी में तथा 20 उर्दू में हैं। इन 52 व्यक्तियों में से 10 व्यक्ति ऐसे हैं, जिनको लिखे गए पत्र चिट्ठी-पत्री 1 तथा 2 में संकलित हैं। इसका अर्थ है कि 42 ऐसे व्यक्ति हैं, जिनको लिखे गए पत्र पहली बार प्राप्त हुए हैं। इसमें कुछ पत्र ऐसे भी हैं, जो मूलतः अँग्रेजी में लिखे गए थे और जिनका हिंदी अनुवाद छप चुका है, लेकिन ऐसे पत्रों की संख्या 8-10 से अधिक नहीं है। अभी पत्रों की खोज का यह सिलसिला समाप्त नहीं हुआ है, क्योंकि सैकड़ों पत्र अभी तक दबे और छिपे पड़े हैं। पं० श्रीराम शर्मा के पुत्र प्रो० रमेशकुमार शर्मा के अनुसार प्रेमचंद के कुछ पत्र अभी पुराने कागज़ों में दबे हुए हैं और शिवपूजन सहाय के पुत्र डॉ० मंगलमूर्ति भी इस दृष्टि से काफी आशावान हैं कि गाँव की लाइब्रेरी में कुछ पत्र और निकल सकते हैं। स्वर्गीय के०एम० मुंशी, चंद्रगुप्त विद्यालंकार की फ़ाइलों में भी प्रेमचंद के पत्र दबे पड़े हैं। विश्वास है, भविष्य में कोई उत्साही शोधार्थी इस सामग्री को भी खोज निकालेगा।

प्रेमचंद के इन 149 पत्रों में उनके जीवन तथा साहित्य के संबंध में अपरिमित महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ तथा विभिन्न प्रकार के तथ्य छिपे हुए हैं। सबसे पहले उनके जीवन को ही लें। 'सोजेवतन' के कारण जब प्रेमचंद को छद्म नाम की आवश्यकता हुई थी तो उन्होंने दयानारायण निगम से सलाह माँगी थी। निगम ने 'प्रेमचंद' नाम सुझाया जो उनके सितंबर, 1910 के पत्र से जाहिर है कि उन्हें पसंद आया, लेकिन वे इस नाम का उपयोग सरकारी पत्रिकाओं में न करके केवल कहानीकार तक सीमित रखना चाहते थे। उन्होंने इसी पत्र में निगम को लिखा था, प्रेमचंद का नाम मैं वहाँ ('एजुकेशनल गजट' आदि पत्रिकाओं में गोपनीय) नहीं देना चाहता। नहीं मालूम ये हज़रत हाथ-पैर सँभालने पर क्या लिखें-पढ़ें? उन्हें किस्सागो ही रहने दीजिए। बैठे-बैठे प्रेम और चीररस के किस्से लिखा करें।' पुत्री कमला देवी के विवाह-प्रसंग को लें तो शिवपूजन सहाय को 31 दिसंबर 28 को लिखे पत्र से स्पष्ट है कि कुंडली पर बहुत विश्वास न होने पर भी उन्होंने प्रसिद्ध पंडित नीलकंठ महाराज से कुंडली मिलवाई थी और संभावित दामाद विपिनबिहारी श्रीवास्तव को लिखे पत्र से तो पुत्री की शिक्षा-दीक्षा, दहेज, लड़के-लड़की के मिलन आदि पर उनके विचार सामने आते हैं। पुत्री के विवाह के बाद उस पर भूत-प्रेत के प्रभाव को लेकर पं० रामदास गौड़ को लिखा 14 नवंबर, 31 का पत्र इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वह एक चिंतित पिता की मनःस्थिति को उजागर करता है। राजेश्वर बाबू (कान्ह जी) को 11 नवंबर, 30 को लिखा पत्र बताता है कि पत्नी के गिरफ्तार होने के बाद प्रेमचंद ने स्वयं को किस प्रकार छोटा अनुभव किया था। जब वे 'माधुरी' के सहकारी संपादक बनते हैं तो जयशंकर प्रसाद, सेठ महादेवप्रसाद आदि को पत्र लिखकर सूचित करते हैं। सेठ

महादेवप्रसाद को 21 फरवरी, 27 को लिखे पत्र से उनके सहकारी संपादक बनने की निश्चित तिथि 18 फरवरी, 27 ज्ञात होती है। 'प्रगतिशील लेखक-संघ' के सभापतित्व के संबंध में सज्जाद जहीर को लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि प्रेमचंद बाहर के व्यक्तियों में के०एम० मुंशी, डॉ० जाकिर हुसैन, जवाहरलाल नेहरू, अमरनाथ झा आदि में से किसी एक को बनाने के पक्ष में थे। उन्होंने 15 मार्च, 36 के पत्र में अपने बारे में लिखा, हमारी संस्था में कोई बाहर का आदमी सभापति बने तो ज्यादा अच्छा हो। मजबूरी दर्जा मैं तो हूँ ही, कुछ रो-गा दूँगा।' इसी प्रकार आनंदराव जोशी को 13 सितंबर, 36 (स्वर्गवास के 21 दिन पूर्व गोयनका) को लिखे पत्र से स्पष्ट होता है कि वे पहले से ठीक हो रहे थे और महात्मा गांधी द्वारा जमानत के कारण 'हंस' का प्रकाशन बंद करने पर स्वयं जमानत जमा करके उसका सितंबर अंक प्रेस में दे चुके थे। ऐसी ही अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ इन पत्रों में यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं।

प्रेमचंद की रचनाओं के प्रेरणास्रोत, रचना एवं प्रकाशन-काल, देश की स्थिति, साहित्य तथा जीवन-संबंधी सिद्धांत, प्रतिबद्धताएँ एवं मान्यताएँ भी इन पत्रों में उद्घाटित हुई हैं। प्रेमचंद के इकबाल वर्मा 'सेहर' हथगामी को 1925 में लिखे पत्र से ज्ञात होता है कि 'रंगभूमि' की सोफिया मिसेज एनीबेसेंट का प्रतिरूप है। इसी प्रकार उग्र को 22 सितंबर, 28 को लिखे पत्र से 'मंत्र' के दो पाठों की जानकारी मिलती है, जिसमें 'जमाना' में छपा पाठ प्रेमचंद को पसंद था। डॉ० रघुवीर सिंह (महाराज कुमार सीतामऊ, मंदसौर गोयनका) को 7 मई, 32 को लिखा पत्र तो ऐतिहासिक महत्व रखता है। प्रेमचंद के दोनों पुत्रों— श्रीपतराय तथा अमृतराय को मैंने इस पत्र की प्रतिलिपि भेजकर इसकी प्रामाणिकता जाननी चाही थी। श्रीपतराय ने अपने 7 अगस्त, 71 के पत्र में इसे 'प्रामाणिक' माना था, जबकि अमृतराय ने 2 अप्रैल, 71 के पत्र से मुझे सूचित किया कि वे इससे 'थोड़ा चौंके' हैं। इस पत्र में प्रेमचंद ने 'प्रेमा' और 'प्रतिज्ञा' उपन्यासों की समानता और अंतर बताते हुए 'प्रतिज्ञा' उपन्यास में विधवा-विवाह न दिखाने का कारण बताते हुए लिखा था, 'प्रेमा' मैंने 1905 में लिखा था। उसमें एक विधवा का विवाह कराया गया था, अर्थात् पूर्णा का अमृतराय से विवाह हुआ था। मैंने विधवा का विवाह कराके हिंदू-नारी को आदर्श से गिरा दिया था। उस वक्त जवानी की उम्र थी और सुधार की प्रवृत्ति जोरों पर थी। उस रूप में मैं उस पुस्तक को नहीं देखना चाहता था। इसलिए मैंने कथा में उलटफेर करके इसे ('प्रतिज्ञा' को गोयनका) लिख डाला।' इसका अर्थ है कि प्रेमचंद की रचना-प्रक्रिया तथा चिंतन पर हिंदू जीवन-दर्शन का इतना गहरा प्रभाव रहा है कि वे अपने पूर्व प्रगतिशील कदमों को वापस लौटाने में भी हिचक अनुभव नहीं करते। इसी प्रकार, यहाँ उनकी मान्यताओं, सिद्धांतों, प्रतिबद्धताओं आदि के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

1. आलोचना का समर्थन :

'मुझे जबांदांनी का दावा न कभी था और न है, व्याकरण से मैं वैसा ही कोरा हूँ, जैसे गंजा बालों से, इसलिए मेरे लिए तो आलोचना कभी शिक्षा से खाली नहीं हो सकती।' (शिवपूजन सहाय को 25 मार्च, 25 को लिखे पत्र से)।

2. साहित्य का उद्देश्य चरित्र-निर्माण :

'मैं साहित्य में नग्न कुवासनाओं का दिग्दर्शन बहुत ही हानिकारक समझता हूँ। ...

साहित्य का प्रभाव चरित्र पर बहुत पड़ता है। साहित्य का उद्देश्य ही चरित्र निर्माण है, इसलिए इस काम में अपने आदर्शों और उद्देश्यों को पवित्र रखना चाहिए।' (पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे नवंबर, 1929 के पत्र से)

3. अतीत गौरव करने योग्य नहीं :

'पूर्वजों की कीर्ति का भविष्य के निर्माण में भाग होता है और बड़ा भाग होता है, लेकिन हमें तो नए सिरे से दुनिया बनानी है। अपनी किस पुरानी वस्तु पर गौरव करें? वीरता पर? दान पर? तप पर? वीरता क्या थी? अपने ही भाइयों का रक्त बहाना। दान क्या था? एकाधिपत्य का नग्न-नृत्य और तप क्या था? वही जिसने आज कम-से-कम 80 लाख बेकारों का बोझा हमारी दरिद्र जनता पर लाद दिया है। अगर पाँच रुपए प्रतिमास भी एक साधु की जीविका पर खर्च हो तो लगभग 20 करोड़ हमारी गाड़ी कमाई के उसी पुराने तप के आदर्श की भेंट हो जाते हैं। किस बात पर गर्व करें? वर्णाश्रम धर्म पर, जिसने हमारी जड़ खोद डाली।' (जयशंकर प्रसाद को 24 जनवरी, 30 के पत्र से)

4. जीवन और साहित्य राजनीति को अर्पित :

My whole career has been devoted to politics I have been dabbling in politics for the last thirty years, although not directly. All my works have a political bearing. (From letter to Anand Rao Joshi, Date Nov. 26, 1930)

5. कहानी की रचना-प्रक्रिया :

मेरे क्रिस्से अक्सर किसी-न-किसी मुशाहिदे (अनुभवों) या ताज़िबे पर मबनी (आधारित) होते हैं। उसमें मैं ड्रामाई क्रैफियत पैदा करने की कोशिश करता हूँ, मगर महज वाक्ये के इजहार के लिए मैं कहानियाँ नहीं लिखता। मैं उसमें किसी फलसफियाना (दार्शनिक) या जज़्बाती हक़ीक़त (भावात्मक यथार्थता) का इजहार करना चाहता हूँ। जब तक इस क्रिस्म की कोई बुनियाद नहीं मिलती, मेरा क़लम ही नहीं उठता। ज़मीन तैयार होने पर मैं कैरेक्टर्स की तखलीक (सृजन) करता हूँ। बाज औकात तारीख (इतिहास) के मताले से भी प्लाट मिल जाते हैं, लेकिन कोई वाक़ेआ अफसाना नहीं होता, तावक्तेकि (जब तक कि) वो किसी नफसीयाती (मनोवैज्ञानिक) हक़ीक़त का इजहार न करे। (संपादक 'नैरेगे खयाल', फरवरी 1934 में छपे पत्र से)

6. प्रेम-विवाह का विरोध :

मेरा विश्वास आत्मलग्न में नहीं है। विवाह एक कांट्राक्ट सही, लेकिन जब कांट्राक्ट पूरा हो गया तो बिना विशेष कारण के ही उसकी उपेक्षा को मैं बेईमानी समझता हूँ। उसका हृदय से पालन होना चाहिए। (प्रभाकर माचवे को 15 सितंबर, 35 को लिखे पत्र से।)

7. बड़े लेखक सबके होते हैं :

बंकिम, रमेश, डी०एल० राय, शरत् और गुरुदेव समस्त भारत के हैं, और इनमें से कुछ तो सारे संसार में प्रसिद्ध हो चुके हैं, लेकिन हम लोगों में एक-दूसरे के साथ जो दिलचस्पी है, वह कम नहीं होनी चाहिए। बड़े-बड़े लेखक किसी एक ही प्रांत या देश के नहीं होते। जब हम लोग एक राष्ट्र के रूप में हैं, तब हमें बंकिम का भी उतना ही अधिक

अभिमान होना चाहिए, जितना इक़बाल या जोशी का।’ (प्रियरंजन सेन को 1935 में लिखे पत्र से)।

ये कुछ थोड़े से उद्धरण हैं, जिनमें प्रेमचंद की मान्यताएँ तथा सिद्धांत बोल रहे हैं। इन पत्रों में अब उनके ज्ञात तथा अज्ञात दोनों ही प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं, जो प्रेमचंद के चिंतक रूप से हमारा परिचय कराते हैं। इसके साथ ही इसी संदर्भ में एक और विशिष्टता इन पत्रों में दिखाई देती है। प्रेमचंद प्रायः अपने विचारों तथा कृतियों पर अन्य लेखकों की आलोचना आमंत्रित करते हैं और आवश्यक होने पर अपना स्पष्टीकरण भी देने में पीछे नहीं हटते। वे पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० पद्मसिंह शर्मा, सेठ महादेव प्रसाद, उग्र आदि को अपनी कृतियाँ भेजते हैं और आलोचना लिखने का आग्रह करते हैं और विलंब होने पर कभी स्नेह से भरा व्यंग्यपूर्ण उलाहना देने में नहीं चूकते। ‘कायाकल्प’ की आलोचना में विलंब करने पर उन्होंने 21 तथा 25 फरवरी, 1927 के पत्रों में सेठ महादेवप्रसाद को इसी रूप में लिखा, ‘कायाकल्प’ की आलोचना शायद क्रयामत में निकलेगी और मेरी रूह पड़ेगी। ... आलोचना निकलेगी, यह तो ठीक है, पर मेरे लाइफ़ टाइम में निकल आती तो अच्छा था। वे दूसरों की तीखी, कटु तथा अनुचित आलोचना का यथावसर समुचित उत्तर भी देते हैं। ‘दो भाई’ कहानी को भगवान कृष्ण तथा बलराम की कहानी मान लेते तथा ‘विश्वास’ कहानी को ‘इर्नल सिटी’ की छाया कहने पर वे संबंधित संपादकों को प्रकाशनार्थ अपनी प्रतिक्रिया भेजकर पाठकों के सम्मुख अपना पक्ष रखते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति में पूर्ण संयम रहता है और अपना पक्ष तर्कपूर्ण भाषा में रखते हैं तथा सत्यता को स्वीकार करने में संकोच नहीं करते।

इन पत्रों में ‘माधुरी’, ‘हंस’ तथा ‘जागरण’ के संपादकीय क्रियाकलापों, पत्रिकाओं तथा व्यापार से होनेवाली हानि, प्रेस का इतिहास तथा उसके तनाव, हड़ताल एवं आर्थिक दबाव, प्रेस के व्यवस्थापक प्रवासीलाल वर्मा से नौकरी एवं साझेदारी का अनुबंध तथा गबन के आरोप में हटाया जाना और पंचायत आदि का विस्तृत एवं प्रामाणिक इतिहास प्राप्त होता है। ‘माधुरी’ के सहकारी संपादक बनने पर वे जयशंकर प्रसाद, पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, पं० पद्मसिंह शर्मा, उग्र, शिवपूजन सहाय, सेठ महादेव प्रसाद, निराला आदि से रचनाएँ माँगने, प्राप्त होने की स्वीकृति देने तथा लेखादि के लिए विषय देने के लिए बराबर पत्र-व्यवहार करते हैं। पं० पद्मसिंह शर्मा को 22 सितंबर 27 के इस पत्रांश से उनकी शैली का अंदाज़ हो सकता है, ‘जनाब, आप माशूकाना वादे ख़ूब जानते हैं। क्या कहना! आपका कल तो कभी आता ही नहीं। तीन सप्ताह से अधिक हुए आपने ‘माधुरी’ के लिए कुछ लिख भेजने को लिखा था, पर अभी तक ख़बर नहीं ली। यहाँ इंतज़ार में दम घुट रहा है।’ इसी प्रकार जब उन्होंने ‘हंस’ आरंभ किया तो जयशंकर प्रसाद, केशोराम सब्बरवाल, आनंदराव जोशी, जनार्दन प्रसाद झा ‘द्विज’, प्रभाकर माचवे, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, रामकुमार वर्मा, रामजी, राजेश्वर बाबू (कान्ह जी) आदि अनेक लेखकों को इसकी सूचना दी और रचनाएँ भेजकर सहयोग आमंत्रित किया। ‘हंस’ निकालने का उद्देश्य तथा ‘कंकाल’ जैसी रचनाएँ माँगते हुए उन्होंने 24 जनवरी, 30 को जयशंकर प्रसाद को लिखा, ‘हंस’ का नाम आ गया। आपसे उसके लिए कुछ याचना करूँ? मैं छोटे-छोटे ‘कंकाल’ चाहता हूँ, या कोई उपन्यास हो तो वह भी बड़े प्रेम और आदर से प्रकाशित करूँगा। काशी से कोई साहित्य की पत्रिका न निकलती थी।

काशी के लोगों के क़लम से दूसरे नगरों को फैज़ (लाभ) पहुँचता है और काशी में सन्नाटा। मस्जिद में दिया जले और घर में अँधेरा। मैं धनी नहीं हूँ, मजदूर आदमी हूँ, लेकिन काशी का यह अभाव मुझे लज्जास्पद जान पड़ा और मैंने 'हंस' निकालने का निश्चय किया। धन तो आपसे अभी नहीं माँगता, शायद कभी वह भी माँगूँ, लेकिन आपकी लेखनी की विभूति अवश्य माँगता हूँ।' प्रेमचंद जिस प्रकार रचनाओं की माँग करते हैं, चाहे वह समवयस्क हो या युवा रचनाकार, उनको स्नेह एवं अधिकार से भरा आग्रह होता है। पं० माखनलाल चतुर्वेदी को 31 अगस्त, 35 के पत्र में आग्रह करते हुए लिखा, 'मैं तो हार गया, मुंशी जी (के०ए० मुंशी गोयनका) बार-बार लिखते हैं खंडवा के पीर से अवश्य लेख माँगवाइए और खंडवा के पीर बेपीर हो रहे हैं। न याचना पर ध्यान देते हैं और न यह समझते हैं कि हिंदी की लाज कौन निबाहेगा।' लेकिन जब वे उस समय के युवा लेखक डॉ० रामकुमार वर्मा से लेख माँगते हैं, तब अधिकार के साथ स्नेह भी मिला रहता है, 'तुम अपना जो 'कबीर' पर एड्रेस पढ़ने जा रहे हो, उसे बराह रास्ते यहाँ भेजना, वरना नाहक झगड़ा हो जाएगा और तुम्हें शिकायत सुननी पड़ेगी।' 'हंस' में प्रकाशित रचनाओं पर पारिश्रमिक देने की नीति थी या नहीं, या कुछ चुने लेखकों को ही पारिश्रमिक मिलता था, इस संबंध में बंबई से प्रेमचंद द्वारा प्रवासीलाल वर्मा को लिखे 29 सितंबर, 34 के पत्र से कुछ स्पष्ट होता है। प्रेमचंद ने पत्र में लिखा है, 'आप पुरस्कार के लिए कहते हैं। मेरी समझ में अगर हम लोग दे सकेंगे तो 20 रुपए महीना पुरस्कारों में ग़रीब लेखकों को देना चाहिए, जैसे पं० आनंदराव जोशी, जैनेंद्र या श्यामनारायण कपूर या भुवनेश्वर प्रसाद अथवा राधाकृष्ण। जैनेंद्र को हम दो रुपए पृष्ठ देते ही हैं। इन सज्जनों में जिसका लेख छपे उसे एक रुपया पृष्ठ देना चाहिए। पचास रुपए का एक पुरस्कार साल-भर में 'हंस' की सबसे सुंदर कहानी को देना चाहिए। 'इस पत्रांश से कई स्थितियाँ साफ होती हैं। एक, इससे पूर्व कुछ ग़रीब लेखकों को छोड़कर पारिश्रमिक देने की कोई सामान्य नीति नहीं थी। दूसरे, जैनेंद्र की विशिष्ट स्थिति थी, जिन्हें दो रुपए पृष्ठ मिलता था। तीसरे, एक रुपए प्रति पृष्ठ का पारिश्रमिक भी ग़रीब लेखकों के लिए था और वह भी भविष्य में देने पर विचार-विनिमय हो रहा था। चौथे, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है, जिससे पचास रुपए का पुरस्कार वर्ष की श्रेष्ठ कहानी को दिया गया हो। इसका अर्थ है कि प्रवासीलाल वर्मा के प्रस्ताव पर प्रेमचंद ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी और उसे उस रूप में कभी क्रियान्वित नहीं किया गया। इसके विपरीत उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि प्रेमचंद ने कभी ही अपनी रचनाएँ बिना पारिश्रमिक के दी हों तथा वे अपनी कहानियों आदि के लिए अपने युग में सर्वाधिक पारिश्रमिक पाते ही नहीं रहे, बल्कि पारिश्रमिक बढ़वाने का बराबर प्रयत्न भी करते रहे।

इन पत्रों में एक महत्वपूर्ण हिस्सा प्रेमचंद की प्रेस के व्यवस्थापक प्रवासीलाल वर्मा 'मालवीय' से संबंधित है। ये 28 पत्र 19 जुलाई, 28 से 15 फरवरी, 36 के बीच लिखे गए हैं तथा 21 अगस्त, 28 से 9 सितंबर, 34 के बीच लिखा कोई पत्र उपलब्ध नहीं है। असल में ये पत्र भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो सके। मैं जब कुछ वर्ष पूर्व इलाहाबाद में प्रवासीलाल वर्मा से मिला था तो वे विक्षिप्त-सा जीवन व्यतीत कर रहे थे और उनकी खाट के सामने रखी 'हंस' की फाइल को दीमक खा रही थी, लेकिन प्रेमचंद से हुआ पत्र-व्यवहार तथा

विवाद से संबंधित अन्य कागज़ात एक अलग थैले में सुरक्षित थे। उनमें से कुछ पत्र उनसे लाने में सफल हो गया, लेकिन शेष बची सामग्री वहीं रह गई। इसी कारण बीच के छह वर्षों के पत्र वहीं रह गए और अब प्रवासीलाल वर्मा के स्वर्गवास के बाद उनकी क्या स्थिति है, कुछ कहा नहीं जा सकता। फिर भी प्रेमचंद के ये 28 पत्र एक सर्वथा अज्ञात घटना-प्रसंग को हमारे सम्मुख उद्घाटित करते हैं, जिनसे सरस्वती प्रेस का इतिहास, प्रेस को चलाने की कठिनाइयाँ और प्रवासीलाल का व्यवस्थापक बनना, 'हंस' तथा 'जागरण' से उत्पन्न आर्थिक तनाव, हड़ताल तथा प्रवासीलाल से गबन पर वाद-विवाद, समझौता प्रस्ताव तथा पंचायत आदि घटनाओं की एक पूरी लड़ी चित्र की तरह साकार होने लगती है। इसके विपरीत अमृतराय ने प्रेमचंद की जीवनी में प्रवासीलाल वर्मा के नाम तक का उल्लेख नहीं किया और आठ वर्षों के इस इतिहास को महत्त्वहीन समझकर अलिखित छोड़ दिया।

प्रेमचंद प्रवासीलाल को जिन शर्तों पर प्रेस का व्यवस्थापक बनाते हैं, वे 27 जुलाई तथा 13 अगस्त, 28 के पत्रों से बिलकुल स्पष्ट है। उस समय उन्हें आशा थी कि प्रेस तथा पुस्तक प्रकाशन दोनों के गुजारे का साधन बन सकता है, लेकिन यह आशा धीरे-धीरे धूमिल होती गई। प्रेस में हड़ताल होने की सूचना पाने के बाद, प्रेमचंद ने जो 9 सितंबर, 34 का पत्र लिखा है, उससे प्रेस, 'जागरण', 'हंस' आदि से हुई हज़ारों की हानि की सच्चाई ज्ञात होती है और वे प्रेस को खोलना अपने जीवन की 'सबसे बड़ी भूल' स्वीकार करते हैं। इसी पत्र से जाहिर होता है कि वे प्रेस को बंद करने तथा प्रेस एवं प्रकाशन को ऋषभचरण जैन को सौंपने जैसे समाधान पर भी सोचने लगे थे, लेकिन प्रेस की हड़ताल समाप्त होने पर उनकी निराशा एक बार फिर खत्म हो जाती है और मजदूरों को भाई मानने तथा उनसे मित्रवत् व्यवहार करने की सलाह देते हुए वे 21 सितंबर, 34 को प्रवासीलाल को लिखते हैं, 'आदमियों से ऐसा मित्रवत् व्यवहार रखिए कि अगर वेतन देर में भी मिले, तब भी उनकी सहानुभूति आपके साथ बनी रहे। घुड़कियों का ज़माना अब नहीं रहा, यह तो आप समझते ही हैं। आदमियों से मेरी तरफ से कह दीजिए कि उन सभी को अपना भाई समझता हूँ और उनकी तकलीफ देखकर मुझे दुख होता है, लेकिन मजबूर हूँ कि काम जैसा चाहिए, वैसा नहीं चल रहा है।' इसके बाद के पत्रों में प्रेस के लिए जगह बदलने, मकान मालिक की डिग्री से बचने आदि का विवरण है और जुलाई, 35 तक वे प्रेस, प्रकाशन तथा पत्रिकाओं से होने वाली आर्थिक स्थिति से हताश-से होने लगते हैं और फिर दिसंबर, 35 से प्रवासीलाल पर एक हज़ार रुपए के गबन का आरोप लगाने के बाद तो उनके पत्रों में प्रेस, प्रकाशन तथा पत्रिकाओं के व्यवसाय से होनेवाली आर्थिक हानि की बार-बार चर्चा मिलती है। वे तर्क और प्रमाण से अपनी स्थिति स्पष्ट करते हैं और पुस्तकों के स्टॉक को नफा मानना अस्वीकार करते हैं, लेकिन उनके पत्रों से प्रवासीलाल पर गबन का आरोप पूर्णतः सिद्ध नहीं हो पाता। प्रेमचंद 18 दिसंबर, 35 के पत्र में स्वयं लिखते हैं, 'दोष किसका है, यह कुछ नहीं कहा जा सकता। आपने मेहनत की ज़रूर, लेकिन भाग्य मेरा आप दोनों का दुश्मन निकला।' इसके बावजूद प्रेमचंद का पक्ष कमज़ोर है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। यदि प्रवासीलाल के इस बीच लिखे सभी पत्र उपलब्ध होते तो इस विवाद की सही स्थिति सामने आ सकती थी। हाँ, इतना सच है कि प्रवासीलाल वर्मा में इस विवाद को निपटाने के लिए पंचायत की थी और महात्मा

गांधी तथा अन्य कुछ प्रतिष्ठित लेखकों को भी पत्र लिखे थे कि प्रेमचंद के साथ उनका विवाद हल कराया जाए, लेकिन तभी 8 अक्टूबर, 36 को प्रेमचंद का देहांत हो गया। इसके बाद श्रीपतराय से उनकी नोटिसबाजी हुई थी, मुकदमा चला या नहीं इस संबंध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी।

इन पत्रों में कुछ और भी महत्वपूर्ण जानकारियाँ मौजूद हैं। आनंदराव जोशी को लिखे पत्रों में उनकी प्रिय कहानियों की सूची मिलती है। जयशंकरप्रसाद, अशक आदि को लिखे पत्रों से सिनेमा पर उनके विचारों का परिचय मिलता है; बनारस के कलैक्टर को लिखे घोषणा-पत्र से सेंसरशिप से उत्पन्न कठिनाइयों की जानकारी मिलती है तथा आनंदराव जोशी को लिखे अंतिम पत्र से हास्यरस की कहानियों का संकलन निकालने की एक अपूर्ण योजना का परिचय प्राप्त होता है। असल में ऐसी छोटी-छोटी सूचनाएँ और तथ्य तो प्रायः प्रत्येक पत्र में मिल जाते हैं, जो हमारी जानकारी में कुछ-न-कुछ नया जोड़ते हैं। सारांश यह है कि प्रेमचंद के ये 149 नए पत्र उनके ज्ञात प्रसंगों, घटनाओं को न केवल और पुष्ट करते हैं, बल्कि उनके सर्वथा अज्ञात जीवन के संदर्भों तथा साहित्यिक प्रसंगों में हमें अवगत कराते हैं और प्रेमचंद की ज्ञात मूर्ति में काफी कुछ नया जोड़ते हैं। अतः प्रेमचंद के जीवन, उनके विचार तथा साहित्य वैज्ञानिक मूल्यांकन के समय इन पत्रों को भी सम्मुख रखना तथा इन्हें उचित महत्त्व देना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना जाना चाहिए।

□ ए-98, अशोक विहार
फेज प्रथम, दिल्ली 110052

पर्वतीय जीवन का सच्चा दस्तावेज़ 'बीरा' उपन्यास

डॉ० (श्रीमती) शशिप्रभा त्यागी
प्राचार्या, ए०के०पी० (पी०जी०) कॉलेज
खुर्जा (उ०प्र०)

डॉ. रमेश पोखरियाल 'निशंक' द्वारा रचित 'बीरा' उपन्यास पर्वतीय जनजीवन का सच्चा दस्तावेज है। इस कृति में मानवीय संवेदना सहजता के साथ अपना मुख कठिनाइयों के दर्पण में निश्छलता एवं प्रगाढ़ता से दिखाती प्रतीत होती है। नारी-जीवन की दृढ़ता एवं विवशता इस उपन्यास में एक साथ प्रकट हुई है। पर्वतीय ग्रामीण एवं शहरी जीवन की सभ्यता, संस्कृति, जीवन-पद्धति एवं जीवनमूल्यों का अंतर स्पष्टतः पाठक को दिखाई देता है। सहृदय मस्तिष्क को यह उद्वेलित करता है एवं चिंतन के लिए विवश करता है। राजनीति किस प्रकार एक सुखी, शांत पारिवारिक जीवन में विष घोल देती है, किस प्रकार आत्मिय रिश्ते संवेदनशून्य हो जाते हैं, इसका चित्रण भी उपन्यास में सहजता परंतु प्रबलता के साथ देखने को मिलता है। शहरी जीवन की दहेज जैसी कुरीति पर्वतीय सरल जीवन को अपने आगोश में लेने के लिए किस प्रकार लालायित हो उठी है, इसका सफल चित्रण करते हुए लेखक ने पर्वतीय जीवन की स्वच्छता एवं विवशता को एक साथ अभिव्यक्त किया है।

वस्तुतः लेखक की आत्मा उस पर्वतीय जीवन में बसती है, वहाँ के लोगों के सुख-दुख, सहजता-कठिनाई, संवेदनाएँ-विवशता, आशाएँ एवं सीमित साधन सभी का लेखक को यथार्थ ज्ञान है। पर्वतीय क्षेत्र में महिलाएँ अधिक परिश्रमी, जुझारू एवं कर्मठ होती हैं। 'सुबह उठते ही गाय-भैंसों को घास देने से लेकर गौशालाओं की सफाई करना, दूर बाँज के पेड़ों की जड़ों से निकलकर आते धारे से पानी लाना, घास लकड़ी के लिए जंगल में जाना, सुबह के नाश्ते से लेकर खाना बनाना और शेष बचे समय में खेतों का काम करना।' पर्वतीय जीवन में भी अब संयुक्त परिवार-प्रथा चरमरा उठी है, परंतु लोक-लाज के नाते 'बीरा' जैसे अनाथ शिशुओं को नाते-रिश्तेदार अपना ही लेते हैं, इतनी गुंजाइश अभी पर्वतीय जीवन में दीख पड़ती है। (मैदानी इलाकों में संवेदना इससे कहीं अधिक शुष्क हो चुकी है।)

सर्वप्रथम इस उपन्यास की सामाजिक स्थिति पर दृष्टिपात करें तो पर्वतीय जीवन की दुरूहता स्पष्टतः लक्षित होती है। डाक की स्थिति दीपक की माँ के इस कथन से भली-भाँति पता लग जाती है- 'चौरी खाल से डाकिया सुसर जी भी तो नहीं दिखाई दिए पिछले एक माह से गाँव में....'² मात्र शिक्षण-संस्थाओं का ही अभाव नहीं है, वरन् संसाधनों का भी पूर्णतया अभाव है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी शिक्षा प्राप्त करना पर्वतीय क्षेत्र में दुर्लभ है। अपवाद-स्वरूप ही अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति से संसाधनों की कमी रहते हुए भी दीपक एवं बीरा जैसे युवक-युवतियाँ शिक्षा प्राप्त करने में सफल होते हैं। बीरा के संदर्भ में तो यह भी लेखक की

इच्छा का ही प्रतिफल जान पड़ता है।

नारी की वही शाश्वत स्थिति, विमला का राकेश के प्रति अनुराग एवं राकेश का विमला के प्रति खिलवाड़ बात ही बात में विमला को असमय अपनी उम्र से दुगुनी उम्र वाले व्यक्ति की पत्नी बना देता है। 'बाल-मन की थोड़ी-सी चंचलता ने आज उसकी जिंदगी को चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया'³ इस वाक्य में समाज का संपूर्ण यथार्थ सिमटकर रह गया है। इस बाल-मन की चंचलता की सज़ा नारी-समाज को ही उठानी पड़ती है।

आशीष के परिवार की कथा समाज की एक नई समस्या की बानगी बन गई है। किस प्रकार व्यक्ति को राजनीति में दिलचस्पी पैदा होती है और फिर चुनाव एवं शराब का दौर चलता है। व्यक्ति पर राजनीति एवं मदिरा का सुरूर चढ़ता है तो नारी पर घर के काम की अधिकता से शारीरिक थकान एवं मानसिक क्लान्ति का बोझ बढ़ता है। परिवार का वातावरण दूषित होता जाता है, नारी का उपेक्षित जीवन एवं बाल-मन पर इन सबका प्रभाव, इस सबकी परिणति किस रूप में होती है, आशीष की कथा से लेखक ने प्रकट कर दिया है। शंभूनाथ को न तो पत्नी की चिंता थी, न बूढ़ी माँ की और न ही जवान बेटी व अबोध बेटे आशीष की।

राजनीति के प्रभाव से मानवीय संवेदनाएँ किस प्रकार शुष्क हो जाती हैं। पंचायत चुनाव में प्रमुख का चुनाव लड़ रहे आशीष के पिता शंभूनाथ को याद करते-करते उनकी बूढ़ी माँ स्वर्ग सिंधार गई। राजनीति की डगर पर दो पग बढ़ाने वाले उनके बेटे ने उनका अंतिम संस्कार अपना प्रभाव जमाने के लिए पगडंडी का संक्षिप्त रास्ता छोड़कर बस द्वारा लंबे मार्ग से यात्रापूर्ण कर किया। तब शराब का दौर चला। आशीष की माँ ने अपने पति की आत्मा को जगाना चाहा तो गाल पर जोरदार थप्पड़ पड़ा 'तड़ाक' आशीष दीपक को अपनी कथा सुनाता है— 'एक तरु माँ की सिसकियाँ और दूसरी ओर शराबियों के हुड़दंग के बीच हमें कब नींद आ गई, पता ही नहीं चला'³ और सुबह माँ नहीं रही। आत्महत्या की इस घटना के बाद भी घर का वातावरण नहीं सुधरता। आशीष के शब्दों में— 'एक धर्मशाला-जैसा हो गया था हमारे घर का माहौल'। शंभूनाथ पत्नी की मृत्यु के बाद पुत्र को पढ़ने के लिए हास्टिल भेज देते हैं, पुत्री का विवाह कर देते हैं और अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए दूसरी शादी कर लेते हैं। इस प्रासंगिक कथा से राजनीति से ओतप्रोत ऐसी मानसिक के वर्ग की विद्रूपता पाठक के सम्मुख आ ही जाती है।

बीरा के विवाह-प्रसंग में पर्वतीय समाज के सामाजिक रीति-रिवाज एवं दहेज-प्रथा के स्वरूप का पता चलता है। सामान्यतः दहेज में 'गाँव में पीढ़ा-पलंग एवं घर-गृहस्थी के बर्तन ही चलते हैं। 'वर-वधू के कपड़े, पारंपरिक गहने, कुछ बर्तन-भांडे। देग, चाशानी, परात आदि शुभ समारोह में काम आनेवाले बर्तन बड़ा दहेज माने जाते हैं। यद्यपि अब इनका स्वरूप कुछ परिवर्तित हुआ है और डबलवैड, सोफा आदि दहेज में अपना स्थान बना चुके हैं, परंतु यहाँ दहेज की माँग नहीं की जाती। वैसे तो संयुक्त परिवार प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी है परंतु विवाह के समय सुरसा की भाँति मुँह खोलकर सामने आती है। बीरा के होनेवाले ससुर स्वयं के चारों भाइयों, उनकी पत्नियों, ताई माँ आदि की गणना के साथ ही चारों भाइयों के बच्चे, दामाद आदि की कुल मिलाकर 25-30 की संख्या बताते हैं। दहेज माँगने वालों को

नीच प्रवृत्ति का समझा जाता है। 'भिखमंगा कहता है उन्हें समाज। ऐसे लोग पहाड़ और समाज के लिए कलंक माने जाते हैं।'⁴ परंतु युवावर्ग जो गाँव से शहर की ओर पलायन कर रहा है, उसके मन में दहेज का लालच पनपता स्पष्ट दीख पड़ रहा है। राजू इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। पिता संतोषी भी हैं और अपने समाज की नब्ज भी पहचानते हैं। वे पुत्र को बड़ी सहजता से समझाते हैं कि ईश्वर की दया से धन, दौलत, पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान और भरापूरा संपन्न परिवार सभी कुछ तो है अपने पास। बड़ी चतुराई से परंतु सहजता से पुत्र पिता को समझाता है— दहेज कहाँ माँग रहे हैं, हम तो आवश्यकता की वस्तु माँग रहे हैं और इसमें खर्च में कोई अंतर भी नहीं आएगा। और जब बीरा के मामा उस दहेज को दुविधा एवं विवशता के बावजूद देने को तैयार हो जाते हैं तो राजू गर्व से अपनी विजय पर अपनी होशियारी पर इतरा उठता है— 'मैं जिद्द न करता तो मिलते वहीं बरतन-भांडे'।

लेखक ने स्वयं अपने मुख से कुछ न कहते हुए भी ग्राम व शहर की अवांतर कथा से शहरी विकृत संस्कृति को बखूबी प्रकट कर दिया है। शहर की झूठी चमक-दमक, शान-शौकत किस प्रकार आदिम जीवन-मूल्यों को ग्रस रही है, राजू का आचरण इसका स्पष्ट उदाहरण है। दहेज में वह बहाने से न केवल टीवी व फ्रिज की माँग करता है वरन् स्कूटर की माँग भी कर बैठा है, जो पर्वतीय जीवन की कल्पना से भी दूर है। राजू के पिता उसकी इस अनुचित माँग पर फट पड़ते हैं— 'किस मुँह से जाऊँ कृपालसिंह जी के पास कि मेरा बेटा दिल्ली की हवा-पानी से अपाहिज हो गया है, इसलिए उसको दिल्ली की सड़कों पर मैराथन दौड़ के लिए अब स्कूटर या मोटरसाइकिल भी चाहिए।'⁵

लेखक ने शहरी जीवन, विशेषतः दिल्ली की अंतरात्मा, का यथार्थ नग्न चित्रण पाठक के सम्मुख रखा है। गुमानसिंह राजू की जिद्द पर दिल्ली पहुँचते हैं और प्रकाश से जगमगाती बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं एवं गाड़ियों को देख रोमांचित हो उठते हैं। परंतु राजू के मकान को देखकर उनके विचार बदलते हैं— 'मकान क्या, यों लगता था जूते के डिब्बे को सीधा खड़ा कर दिया हो'। तब उन्हें दिल्ली को समझते देर नहीं लगती— 'भव्य अट्टालिकाओं के दूसरी ओर झुग्गी बस्तियाँ, गंदगी के ढेर से उठती सड़ांध मक्खियाँ ही तो हैं, जो गंगी के ढेरों पर बैठी हैं।'

और जब गुमानसिंह 'दिल्ली से लौटकर अपने गाँव पहुँचते हैं तो सुकून भरी लंबी साँस लेते हैं। लगता है मानो कितने दिनों से खुलकर साँस ही न ले पाए हों।' यह सर्वथा यथार्थ चित्रण है। स्वच्छ ताजा खुली हवा गाँव में ही मिल सकती है दिल्ली की धुएँ, घुटन जूते के डिब्बे जैसे मकानों में भला वह आत्मिक स्वतंत्रता-उन्मुक्तता कहा.?

शहरी जीवन का बाह्य चित्रण ही लेखक ने नहीं किया वरन् उसका प्रभाव गाँव के युवा-मन को किस प्रकार दिग्भ्रमित कर रहा है, इसका भी बखूबी चित्रण किया है। राजू का कथन इसका प्रमाण है— 'लेकिन ये भी कोई जिद्दगी है, मैंने तो साफ़-साफ़ कह दिया है कि नौकरी तो शहर में ही करूँगा।' वह अपने पिता से कहता है— 'आखिर हम क्यों और कब तक अपने समाज का रोना रोते रहेंगे।' परंतु उसके पिता उसे समझाते हैं— 'यदि दूसरे समाज से कुछ लेना चाहते हो तो उसकी अच्छाइयाँ लो, परंतु तुमने तो कुरीतियाँ ग्रहण कर लीं एवं अपने समाज की अच्छाइयाँ छोड़ दीं।' गुमानसिंह के कथन से लेखकीय दृष्टिकोण ही प्रकट

होता है। दीपक भी लेखक के विचारों का ही प्रतिनिधित्व करता दीख पड़ता है। दीपक अपनी मिट्टी के लिए कुछ करना चाहता है, उसे तो अपनी माँ के अरमान पूरे करने हैं— ‘दबे-कुचले और अशिक्षित समाज को जाग्रत करने का प्रण पूरा करना है।’ यही संकल्प वह आशीष को भी दिलाता है कि ‘पढ़कर तुम्हें कुछ करना है— पूर्वजों की प्रतिष्ठा के लिए, समाज के लिए और गाँव के लिए।’ अपनी जड़ों से दीपक कभी नहीं कटा। शिक्षित होने के बाद, बड़ी कंपनी की अधिक वेतनवाली नौकरी को ठुकराकर वह गाँव के लोगों में शिक्षा-प्रसार का बीड़ा उठाता है। उत्तम खेती एवं अच्छी क्रिस्म के बीज बोने के तरीके बताता है। कृषिउत्पादन का बाज़ार उपलब्ध कराने में मदद करता है। महिला-साक्षरता का बीड़ा उठाता है।

लेखक का प्रेम-संबंधी दृष्टिकोण बीरा एवं दीपक के प्रेम-प्रसंग से प्रकट होता है। शीतल, मंद, सुगंधित झोंकों की भाँति दीपक के मन में ‘बीरा’ को लेकर भाव आंदोलित होते रहते हैं, परंतु इस प्रणय की परिणति सुदृढ़ एवं सच्चे प्रेम में होती है। सच्चा प्रेम दृढ़ता देता है, वियोग सहने की शक्ति देता है। ‘सच्चा स्नेह कभी एक-दूसरे को कमज़ोर नहीं बनाता, बल्कि उसे शक्ति देता है, दृढ़ता देता है।’⁶

लेखक नारी को शिक्षित, सुदृढ़ एवं आत्मसम्मान से भरा हुआ देखना चाहता है। बीरा का दृष्टिकोण वस्तुतः लेखकीय दृष्टिकोण ही है। राजू के दहेज़ की माँग से तंग आकर वह कह उठती है— ‘मुझे अब यह रिश्ता मंज़ूर नहीं। रुपए-पैसे से खरीदा मांस का पिंड नहीं चाहिए मुझे। ये नासूर मेरी जिंदगी को अंदर से खोखला कर देगा।’⁷

वह समाज से भी नहीं डरती और अपने मामा से भी स्पष्ट कह देती है कि जितना डरोगे, यह समाज उतना ही डराएगा और अंततः कठिनाई से परंतु दृढ़तापूर्वक अपना रास्ता चुन लेती है। पढ़-लिखकर नर्सिंग का कोर्स कर, समाज-सेवा का बीड़ा उठा लेती है। वस्तुतः नारी-शिक्षा पर बल ही लेखक का उद्देश्य रहा है।

सहजता इस उपन्यास की एक प्रमुख विशिष्टता है। जीवन-दर्शन को भी लेखक ने बड़ी सहजता से पाठक के सम्मुख रख दिया है। दीपक आशीष से कहता है— ‘हर एक इंसान को कुछ-न-कुछ दर्द तो होता ही है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है इस संसार में, जो पूर्णरूपेण सुखी हो। इसी दुःख-सुख के बीच हर आदमी तब भी जी रहा है। सभी को मन के भावों को अंदर छिपाए, मुखौटा लगाकर समाज में स्वयं को प्रस्तुत करना होता है।’⁸ इसी प्रकार बड़े दार्शनिक अंदाज़ में परंतु सहजता से विमला बीरा को समाज का पाठ पढ़ाती है— ‘ये दुनिया विचित्र है, यहाँ किस पर भरोसा किया जाए और किस पर नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। हर इंसान अपने चेहरे पर मुखौटा लगाए हुए है, पता नहीं कब मुखौटा उतरे और इंसानियत की हैवानियत सामने आ जाए।’⁹ इसी प्रकार वह अनुभव बाँटती हुई एक अटल सत्य को सरलता से बीरा के सम्मुख रखती है— ‘मैं समझ सकती हूँ कि प्यार की टीस कितनी दर्दनाक हो सकती है। किंतु याद रखना, समय बहुत शक्तिशाली होता है, सारे घावों को भर देता है।’¹⁰

इसी प्रकार लेखक ने आशीष के माध्यम से शुष्क होती मानवीय संवेदना को जाग्रत करने का लक्ष्य भी पाठक के सम्मुख रखा है। आशीष दीपक से कहता है— ‘इंसान को प्यार चाहिए, संवेदना चाहिए और रुपया पैसा इसकी कभी पूर्ति नहीं कर सकता।’¹¹

‘बीरा’ उपन्यास में पर्वतीय वातावरण सजीव हो उठा है। गाँवों के नाम हों या छोटे-छोटे स्थान, रीति-रिवाज हों या धार्मिक आस्था-विश्वास, जादू-टोना सब-कुछ इस लघु उपन्यास में वर्णित है। बीरा का कुण्ठ गाँव, उसके मामा का बूंगीधर गाँव, गंगा पार विमला का दोगी भरदार गाँव, इसी इलाके का सलाण गाँव, डाकिया का चौरीखाल स्थान आशीष के गाँव का खाँकरा स्थान, आशीष का सौतेली माँ की पहली ससुराल कटूड गाँव, आशीष के जीजा जी का नौकरी-स्थल, खिरसू के पास, यमकेश्वर ब्लाक आदि सभी नाम पर्वतीय क्षेत्र के अनुकूल हैं। लैन्सडौन स्थान का जिक्र भी आया है, जो अँग्रेजों का दिया नाम है।

पर्वतीय स्थलों से लेखक का गहरा नाता है, तभी तो इतना सटीक एवं सजीव चित्रण उपन्यास में देखने को मिलता है। ‘पहाड़ी टेढ़े-मेढ़े मार्ग, घनघोर जंगल, कई बार खड़ी चढ़ाई फिर ठेठ उतराई’। दहेज के प्रसंग में लेखक पारंपरिक मकानों के छोटे दरवाजों की बात करना नहीं भूलता, खान-पान का चित्रण, इस उपन्यास में कम ही मिलता है, फिर भी कढ़ी और झँगोरा आदि का जिक्र आया है। रीति-रिवाज का पर्याप्त चित्रण हुआ है। जैसे पान-मिठाई प्रथा, सेवा लगाना आदि। पहाड़ की प्रथा के अनुसार लड़का स्वयं अपने वाग्दान-संस्कार में नहीं जाता। राजू इसी कारण बीरा के गाँव बाद में जा पाता है। पर्वतीय जीवन में प्यार दिखाने का भी अपना तरीका है। दीपक के घर पहुँचने पर ‘माँ ने तीन बार उसकी टुड्डी को छूकर अपने हाथों को चूमा’। बीरा की याद में खोये दीपक की मनःस्थिति को समझने में असमर्थ माँ के मन को भूत-प्रेत का भय सता जाता है कि कहीं— ‘भूत पिशाच या आँछरी न लग गई हो इसे। तुरंत अंदर गई और मुट्ठी में उड़द की दाल और चावल मिलाकर ले आई’। लेखक के शब्दों में यही रिवाज है गाँव में बुरी आत्माओं से रक्षा करने का। दाल-चावल व्यक्ति के ऊपर घुमाकर चारों दिशाओं में फेंक दिया जाता है¹² पर्वतीय जाति की धार्मिक आस्था कुलदेवी के प्रति है। बीरा की मामी को भी कुलदेवी पर विश्वास है। ‘कुलदेवी ने चाहा तो तब तक बीरा इंटर पास कर लेगी।’ एक अन्य स्थान पर बीरा भी कुलदेवी को याद करती है ‘बीरा ने दीर्घ निश्वास छोड़ी और उसके होठ स्वतः बुदबुदा उठे— हे कुलदेवी। मुझे शक्ति दो।’ इससे अधिक धार्मिक चित्रण इस उपन्यास में नहीं मिलता।

‘बीरा’ उपन्यास की भाषा में प्रयुक्त उपमान, मुहावरे, स्थानीय शब्द आदि पर्वतीय जनजीवन के चित्रण को जीवंतता प्रदान कर रहे हैं। पंदेरे, डिंडालो, धारे तिबारियों, रैबरा (संदेश) गाड़-गदरों, अडया, घराट आदि शब्दों का स्वाभाविक रूप से प्रयोग हुआ है। भाषा के कुछ नमूने दृष्टव्य हैं—

‘महिलाएँ घास लकड़ी बटोरकर पंदेरे की ओर जा रही थीं’, ‘कुछ एक डिंडालो और तिबारियों में हुक्के की गुड़गुड़ाहट भी सुनाई दे रही थी।’, ‘दीदी अड्या खोलने पहुँच गई।’ इसके अतिरिक्त देगा, चाशनी, परात आदि बर्तनों के नाम भी आए हैं। उपमानों से भी पहाड़ी छवि ही झलकती है। जैसे ‘पहाड़ी हिरनी-सी उछालें मारती वह काकी के पास पहुँच जाती।’ ‘पहाड़ी झरने-सी उसकी मीठी हँसी तो उसकी सुंदरता में चार चाँद लगा देती थी।’ इसी प्रकार ‘बीरा का मुँह बुरास के फूल की तरह लाल हो गया था।’

अंततः लेखक का यह उपन्यास यथार्थोन्मुखी आदर्शवाद की श्रेणी में आता है। विमला की जिंदगी को तबाह करनेवाला राकेश अंततः अपने किए का फल भोगता है। सफ़ेद

दाग से युक्त पीड़ित शरीर को लेकर पत्नी, पुत्र से परित्यक्त एकाकी जीवन जीने के लिए अभिशप्त होता है। इसी प्रकार आशीष के पिता अंत में अपनी गलतियों को न मात्र स्वीकार करते हैं वरन् अपने पुत्र को दुलार करते हुए अपने व्यवहार के लिए क्षमा-याचना भी करते हैं।

‘बीरा’ उपन्यास में पर्वतीय जीवन की विशिष्टता एवं त्रासदी की अभिव्यक्ति भले ही सादगी के साथ उभरकर आई है, परंतु पाठक के हृदय पर गहरा प्रभाव छोड़ती है। पर्वतीय क्षेत्र के विकास की कामना लेखक के हृदय में बसी है। लेखक ने शुष्क होती मानवीय संवेदनाओं को जगाने का स्तुत्य प्रयास किया है। नारी-शिक्षा, ग्रामीण पर्वतीय संस्कृति की उत्तरोत्तर उन्नति एवं शहरी जीवन की विकृति से भोली अल्हड़ संस्कृति को बचाये रखने का स्पष्ट संदेश सुनाई पड़ता है ‘बीरा’ उपन्यास में।

संदर्भ

1. बीरा, डॉ. रमेश पोखरियाल ‘निशंक’, पृ० 5, प्रथम संस्करण 2008 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. बीरा, पृ० 27
3. बीरा, पृ० 22
4. बीरा, पृ० 43
5. बीरा, पृ० 134
6. बीरा, पृ० 154
7. बीरा, पृ० 169
8. बीरा, पृ० 160
9. बीरा, पृ० 51-52
10. बीरा, पृ० 22
11. बीरा, पृ० 36
12. बीरा, पृ० 85

स्त्रीसंघर्ष : दशा और दिशा

डॉ० वंदना शर्मा

अध्यक्ष हिंदी विभाग

एम०एम० (पी०जी०) कालेज, मोदीनगर (उ०प्र०)

हमारे समाज के पूर्ण विकास की राह में कुछ प्रश्न ऐसे भी हैं, जिनका विवेचन किए-बिना स्वयं पर गर्व करना बेमानी है, जिन्हें हल करने में विद्वान समाजशास्त्री, राजनेता, लेखक, चिंतक, शिक्षक एवं पत्रकारगण अपने-अपने तरीके से सतत् प्रयत्नशील हैं। ऐसा ही एक प्रश्न है मानवता का सबसे बड़ा अभिशाप क्या है? एक अमेरिकी कहेगा लादेन का इस्लामिक आतंकवाद; हम कहेंगे डी कंपनी और नक्सलवाद, भ्रष्टाचार और अपराध; इराक या अफगानिस्तान कहेंगे डी कंपनी और नक्सलवाद, भ्रष्टाचार और अपराध, इराक या अफगानिस्तान कहेंगे अमेरिकी निरंकुशता। उक्त चिंतनीय समस्याएँ जिस एक स्रोत की ओर इंगित करती हैं-वह है समाज में व्याप्त धार्मिक एवं सांप्रदायिक वैमनस्य, परस्पर विद्वेष, अविश्वास, शासन करने की प्रवृत्ति, शोषण एवं अन्यान्य विभाजन। इस सामूहिक निरंकुशता के समक्ष कोई ऐसा भी है, जो हिंदू हो या मुस्लिम, यहूदी हो या ईसाई, अमीर हो या गरीब, देश में हो या विदेश में, मारा हर ओर जाता है। यहाँ मेरा आशय हमारे प्लेनेट की उस आधी आबादी से है, जिसका नाम है 'स्त्री'। पुरुष अमीर हो या गरीब, गोरा हो या काला, योग्य हो अथवा अयोग्य, स्त्री का शासक अवश्य बन जाता है। आज से नहीं, युगों-युगों से स्त्री जन्मना दासी है। स्त्री को कोई अभयदान नहीं, उसकी आजादी की कोई तारीख नहीं, उसका कोई सुरक्षित प्रदेश नहीं, वह कहीं स्वतंत्र नहीं। क्या फर्क पड़ता है कि वह एशिया में जन्मी है अथवा यूरोप में एवं कौनसे समाज या संस्कृति से जुड़ी है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था 'आगाज ही ऐसा है तो अंजाम क्या होगा' को चरितार्थ करती है। हमारे आदिग्रंथ ऋग्वेद के तीसरे मंडल अनुवाक 73 में ऋषि वामदेव देवता इंद्र से प्रार्थना कर रहे हैं-

'हम मेधावी स्रोता, गाय, भूमि और सुंदर संतान पैदा करनेवाली नारी की कामना करते हैं।' ¹

उक्त पंक्ति में स्त्री का स्थान एवं स्त्री का उद्देश्य दोनों स्पष्ट हैं। वस्तुतः विश्व के तमाम धर्मों ने नारी को पुरुष के अधीन और पुरुष-उपयोगी ही माना है। हिंदू संस्कृति में तो नारी को शय्या में रंभा, भोजन कराने में माता होना ही चाहिए, केवल यही उसके जीवन की सार्थकता है।

सच तो यह है कि धर्म चाहे कोई भी हो, वह स्त्री को गुलाम और महामूर्ख बना डालने के लिए ही आया है। प्रत्येक धर्म का नियंता, सर्वस्व या कहिए कि गवर्नर पुरुष ही है। प्रत्येक धर्म के संस्थापक और प्रारंभिक प्रचारक भी पुरुष ही हैं। हिंदूधर्म स्त्रीविषयक

फ़रतवों, फ़रमानों और दिशा-निर्देशों से भरे पड़े हैं।

स्त्रियों को कैसे जीना है, क्या पहनना है, क्या खाना है, उसे कितनी आज्ञादी मिलनी चाहिए, यहाँ तक कि उसे जन्म लेना भी है अथवा नहीं, ये निर्णय भी प्राकृतिक न होकर सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक कारणों पर निर्भर है। स्त्री के मुद्दे पर सभी धर्म सुर में सुर मिलाते नज़र आते हैं, उनमें कोई बड़ा फ़र्क़ कहीं नज़र नहीं आता। जैनमान्यता है कि स्त्री मोक्ष प्राप्त कर ही नहीं सकती। यदि वह एक जन्म में घोर साधना कर भी ले तो वह अगले जन्म में पुरुषयोनि प्राप्त करेगी, तब जाकर साधना द्वारा मोक्ष की आशा कर सकती है। महात्मा बुद्ध ने तो बौद्धधर्म में भिक्षुणी बनने का प्रावधान भी नहीं सोचा था। असंख्य स्त्रियों के प्रखर विरोध के परिणामस्वरूप बुद्ध को उनके संघ-प्रवेश की अनुमति देनी पड़ी। क्योंकि पुरुष ईश्वर की बनाई हुई सृष्टि में स्त्री का 'स्वयं में स्वतंत्र' कोई अस्तित्व ही नहीं है, अतः पृथ्वी पर वह सर्वत्र दास रूप में ही विद्यमान है। यह धारणा और भी दृढ़ हो जाएगी यदि आप पश्चिमी देशों में भी स्त्री के प्रति होनेवाले अपराधों के बढ़ते हुए ग्राफ़ पर गौर करेंगे। वस्तुतः पश्चिमी सभ्यता का अतीत और वर्तमान भी स्त्री के प्रति कम असहिष्णु नहीं। वहाँ भी स्त्री के प्रति धर्म का नज़रिया अत्यंत अस्वीकार्य है बाइबिल में स्त्री को 'Original Sin' और 'Satin's Pathway' कहा गया है। '1586 में फ़्रांस में एक कांफ़्रेंस आयोजित की गई, जिसका विषय था कि क्या स्त्री को इंसान माना जाए अथवा दासों और पशु-पक्षियों के समकक्ष ही रखा जाए।'²

यूरोप में मध्यकाल में दो महिलाओं के श्रम का भुगतान एक पुरुष के श्रम के बराबर किया जाता था। स्त्रियों को घर से बाहर जाकर अध्ययन करने की सख़्त मनाही थी। मध्यकाल के पश्चिमी समाज में एक और स्त्रीविरोधी वीभत्स प्रथा ने असंख्य बेगुनाह स्त्रियों के प्राण लिए। यदि कोई व्यभिचारी पुरुष किसी स्त्री को समर्पण के लिए बाध्य नहीं कर पाता था तो वह स्त्री किसी-न-किसी प्रकार 'डायन' अथवा 'पापिनी' घोषित कर मार डाल दी जाती थी।

'मिस्र में तो राजा अथवा किसी भी राजपुरुष की मृत्यु पर उसकी रानियाँ व दासियाँ ज़िंदा ही ममी बना दी जाती थीं ताकि जब वह राजपुरुष स्वर्ग की यात्रा पर जाएगा तो रास्ते में उन सबकी आवश्यकता तो पड़ेगी ही अर्थात् स्त्री का Mummification³' सुकरात और कीटो द्वारा मित्र के संभोग-सुख के लिए पत्नी-दान भी पश्चिमी समाज का स्त्री के प्रति अक्षम्य दृष्टिकोण ही दर्शाता है।

पश्चिमी देशों की ज्ञात-अज्ञात स्त्री-विरोधी प्रथाओं, मान्यताओं पर आश्चर्यचकित मत होइए क्योंकि आप और हम वर्तमान तो क्या अपने 'स्वर्णिम अतीत' में भी पश्चिमी सभ्यता से दस क़दम आगे रहे हैं। बहुविवाह-प्रथा, नियोग-प्रथा, पति-परमेश्वर-संबंधी धारणा, पति-पुत्र (कन्या के लिए नहीं) दीर्घायु की कामना में निर्जल व्रत, पुत्र का ही संपत्ति का वारिस होना, पुत्रवती होने पर ही स्त्री-जीवन की पूर्णता— इन सभी मान्यताओं के बीच स्वयं स्त्री, उसका स्त्रीत्व ढूँढे नहीं मिलता। क्या कोई ऐसा व्रत भी है, जो घर कर्ता-धर्ता, गृहस्थी की धुरी के उत्तम स्वास्थ्य की कामना में भारतीय पुरुष भी रखते हों। क्या किसी कथा-कहानी में किसी ने भी कभी ऐसी चाह भी की है कि उसके घर में एकमात्र संतान

कन्यारूप में ही आए। एकाध पौराणिक कथा में यदि ऐसी कामना आई भी है तो उसकी शर्त बड़ी विकट है कि यदि माँ दुर्गा स्वयं कन्या रूप में ही उपस्थित होंगी तो ही चलेगा। हमारे बच्चे तो पूर्वजों के ये 'पराक्रम' सुनकर ही बड़े होते हैं कि एक राजा के सात रानियाँ थीं। परम पावन मैत्रेयी सर्वोत्तम हो न हो श्रीराम अवश्य पुरुषोत्तम घोषित कर दिए जाते हैं। अंजनि-सुत क्षमा करें, पर कुछ प्रश्न तो हैं ही जहाँ बाल्मीकि और तुलसी भी निरुत्तर हो जाएँ। चाहे माँ सीता की अग्नि-परीक्षा हो या गर्भवती सीता को जंगल में छोड़ देना, पत्नी के प्रति पुरुषोत्तम के दृष्टिकोण में प्रश्नचिह्न लगा ही रहेगा। अग्निपरीक्षा सीता के लिए ही क्यों आवश्यक मानी गई? रघुकुल के गौरव को गर्भ में पाल रही सीता के प्रति राघव के दायित्व क्यों नहीं जागे? भारतीय नारियाँ तो उस समाज में संघर्ष करने को विवश रही हैं, जहाँ स्त्री अतुलनीय योद्धाओं से भरी राजसभा में चीरहरण का अपमान सहती है, संतति की चाह में परपुरुष के पास धकिया दी जाती है, युद्ध में हारने पर शत्रु को भेंट कर दी जाती है, नगरवधू और देवदासी बना दी जाती है, विधवा हो जाने पर अपशकुनी एवं रजस्वला हो जाने पर अस्पृश्य करार कर घर-बाहर कर दी जाती है। ऐसा विद्रूप अतीत पुरुषों के लिए ही स्वर्णिम हो सकता है, हम स्त्रियों के लिए तो कदापि नहीं।

30 करोड़ मुस्लिम जनसंख्या वाले हमारे देश में धार्मिक ग्रंथों के स्त्री संबंधी दिशा-निर्देशों की भेदभावपूर्ण छाया आज भी मुस्लिम स्त्रियों को आपादमस्तक ग्रस्त किए हुए हैं। यहाँ तो औरत का जन्म ही टेढ़ी पसली से हुआ है। 'अरब में कन्या जन्म 'शर्म' का कारण माना जाता था। वह पैदा होते ही धरती में गाड़ दी जाती थी।⁴ 'वहाँ भी स्त्री का रजस्वला होना प्राकृतिक न होकर 'एक गंदगी' है।'⁵

अपनी पत्नियों के प्रति पतियों को दिया गया निर्देश देखिए—

'तुम्हारी बीवियाँ तुम्हारी खेतियाँ हैं, अपनी खेती में जिस तरह चाहो जाओ और अपने भविष्य का सामान पैदा करो।'⁶

यहाँ स्वयं स्त्री की भावनाओं का कोई मूल्य ही नहीं। इसी प्रकार तलाकशुदा औरत को पति के मूड बदलने का इंतज़ार करना चाहिए।

'जिन औरतों को तलाक दी गई है, वह अपने-आपको तीन हैज पूरा होने तक निकाह से रोकें रखें और उनके पति सुलह करना चाहें तो वे इस बीच में उनको वापिस लेने के ज्यादा हकदार हैं।'^{7अ} यहाँ कुर्आन दोनों का एक-दूसरे पर हक कहती तो है, किंतु स्पष्ट शब्दों में बताती है— 'पुरुषों को स्त्रियों पर प्रधानता प्राप्त है।'^{7ब}

तर्क यह है कि पुरुष औरत को कमाकर खिलाता है तब उस अथक् श्रम का क्या जो किसी भी स्त्री से उसका घर-परिवार मरते दम तक माँगता ही रहता है निश्चित सत्य है कि कुर्आन में संशोधन एकदम असंभव है। तब आज की मुस्लिम स्त्री को जो आर्थिक मोर्चे पर भी पुरुष की सहायक बनने की दिशा में चल रही है। क्या धर्म कभी उसे बराबरी का दर्जा देगा? अन्य धर्मों के समान ही मूसवी क़ानून के मुताबिक खुदा के घर में स्त्री को 'पुजारिन' बनाए जाने की भी सख्त मनाही है।

एक ही परिवार में जन्मे बेटे-बेटियों के बीच संपत्ति के बँटवारे का निर्देश देखिए—

'तुम्हारी संतान के बारे में अल्लाह तुमसे कहे रखता है कि लड़के को दो लड़कियों

के बराबर हिस्सा मिलेगा।’⁸ आज भी बहुसंख्यक मुस्लिम स्त्रियों की दशा शोचनीय है। वे प्रायः मुख्यधारा से कटी हुई हैं। उनकी समस्याएँ, उनके समाधान सब पुरुषों के अधिकार-क्षेत्र में हैं। उनके प्रश्न आज भी अनुत्तरित हैं। पुरुषों के अधिकार विकट हैं, कर्तव्य सामान्य। जबकि स्त्रियों के अधिकार असुरक्षित हैं और कर्तव्य दृढ़। यहाँ पुरुषों द्वारा निर्मित धर्म की शृंखलाओं की सबसे बड़ी वकील (अशिक्षित हो शिक्षित) स्वयं स्त्री ही मिलेगी। इससे दुखद स्थिति क्या होगी।

बहुत संभव है कि पुरुषवादी चंद नौकरीपेशा एवं महानगरों की स्वावलंबी महिलाओं का हवाला देकर कहें कि आज की स्त्री की स्थिति पर्याप्त बेहतर है, क्योंकि स्त्री-पुरुष असमानता का मुद्दा 95 प्रतिशत पुरुषों को अरुचिकर लगता है। जिस देश में 100 पुरुषों पर मात्र 70 स्त्रियों का औसत पड़ रहा हो, जिस देश की कुल साक्षरतादर 68.1 फ्रीसदी हो, वहाँ नौकरीपेशा स्वावलंबी स्त्रियाँ होंगी ही कितनी। ‘देश में निरक्षरों की कुल संख्या 35 करोड़ 60 लाख है। देश की 70 प्रतिशत निरक्षर आबादी उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान और पश्चिम बंगाल में है। स्वतः सिद्ध है कि स्त्री की दशा इन राज्यों में क्या होगी।’⁹

एक कटु सत्य और कि यदि ‘तथाकथित आत्मनिर्भर स्त्रियों पर पारिवारिक सदस्यों की निर्भरता, कितनी अधिक है, यह जान लिया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि आज की नारी आत्मनिर्भर होने की क्या कीमत चुका रही है। सत्य है कि घर की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ करने घर से निकली स्त्री दो हिस्सों में बाँट जाती है। उसका मन-मस्तिष्क, उसकी ऊर्जा निरंतर दोहरा बोझ ढोती रहती है। पढ़ी-लिखी होने के कारण स्त्री से अपेक्षाओं के क्षेत्र भी बढ़ते ही जा रहे हैं। जबकि संपत्ति-विषयक नवजात कानून संस्कारों से बँधी स्त्री को हिस्सेदारी का दावा करने की मानसिकता बनाने में सक्षम नहीं कर पाया है, तो ऐसी दशा में पुरुष ही चल-अचल संपत्ति का मालिक है। तब अर्थ के इस राज्य में स्त्री मात्र घर-बाहर की कार्यकर्ता ही तो हुई।

वर्तमान संदर्भ में स्त्री-विमर्श का सबसे गंभीर पड़ाव है, दैहिक मानसिक शोषण का, जिसकी चर्चा के बिना स्त्री-शोषण की बात पूरी ही नहीं हो सकती, क्योंकि यह हिंसा स्त्री के शरीर और आत्मा दोनों पर प्रहार करती है। बलात्कार आधुनिक भारत में स्त्रियों के साथ बड़े पैमाने पर होनेवाला अपराध है— ‘स्त्री-संघर्ष का इतिहास’ में राधाकुमार लिखते हैं—

‘भारत में बलात्कार की घटनाओं की संख्या और आवर्तता चौंकाने वाली है। सच्चाई यह है कि बलात्कार की घटनाओं की असली संख्या कहीं अधिक है, परंतु उनके बारे में रिपोर्ट दर्ज न कराए जाने के कारण उनका पता नहीं चल पाता। अगर पंजीकृत घटनाओं की खोजबीन की जाए तो उनकी संख्या बलात्कार की पंजीकृत घटनाओं की संख्या से बहुत अधिक निकलेगी।’¹⁰

पुरुष के पशुत्व की यह निकृष्ट अभिव्यक्ति स्त्री को समस्त सृष्टि से काटकर नितांत एकाकी अवसाद की ओर डाल देती है। भारत में भी स्त्रियाँ कई सौ वर्षों से इस समस्या से ग्रस्त हैं। इस संदर्भ में पुरुष की विकृत मानसिकता का आधार उसका हिंसक, लोलुप मस्तिष्क और पशुबल ही तो है। यद्यपि इस घृणित हिंसा से किसी भी वर्ग की स्त्री आज सुरक्षित नहीं तथापि दलित-मजदूर या तथाकथित निम्नवर्गीय स्त्री तो बलात्कार एवं सामूहिक बलात्कारों की सामान्य शिकार होती ही रहती है। राधाकुमार के शब्दों में— ‘बलात्कार को कई रूपों में बाँटा जा सकता है—यथा—जमींदार-बलात्कार, जाति-बलात्कार, पुलिस-बलात्कार।’¹¹

पुरुष-मानसिकता स्त्री को प्रायः समकक्ष बर्दाशत कर ही नहीं पाती। ऐसा क्यों है कि स्त्री चाहे 25 वर्ष की हो या 55 की आज भी भारतीय ग्रामीण और क़स्बाई परिवारों में बाहर निकलते समय घर के बड़े बुजुर्ग दस पंद्रह साल के लड़के को ये सोचकर साथ ले जाने की हिदायत दे ही देते हैं कि वह सुरक्षित रहेगी। किससे सुरक्षित रहेगी? शेर, चीते तो शहर में घूमते नहीं। दो पैरों पर चलने वाले चंद अत्यंत धूर्त भेड़ियों से ही तो। ऐसी विषम परिस्थितियों में चंद स्वावलंबी जागरूक महिलाएँ यदि कभी बराबरी का दावा करती हैं तो प्रतिशोधात्मक कार्यवाहियों का शिकार बना दी जाती हैं। उन्हें मानसिकरूपेण अशक्त कर डालने के कुचक्र रचे जाते हैं। इतिहास गवाह है कि परिवार हो या राजनीति अति महत्त्वाकांक्षी पुरुष स्त्री के उत्सर्गों को हाशिये पर करता चला आया है, क्योंकि जो भी श्रेष्ठ है, उसका मुकुट तो किसी-न-किसी मर्द के माथे पर ही बँधना चाहिए। यही वजह है कि आज़ादी के 63 वर्ष बाद भी स्त्री-जाति इतनी पिछड़ी हुई है कि आज मात्र 33 प्रतिशत आरक्षण को भी 'दो बूँद ज़िंदगी' की मान संतुष्ट है। आधी आबादी को आधा हिस्सा क्यों नहीं? जब सरकारें पिछड़े और दलितों को 50 फ़ीसदी आरक्षण दे रही हैं तो स्त्री तो महादलित है, क्योंकि वह चाहे उच्च समाज की हो या निम्न जातियों से, हर स्थान पर अत्यंत शोषित और दमित है। 'स्त्रियों की अब तक की सहयोगात्मक भूमिका को भी पुरुष-प्रधान समाज और राजनीति ने स्वीकार नहीं किया। आज़ादी से पूर्व किए गए उनके प्रयासों को भी समाज ने भुला दिया।'¹²

पराधीनता की बहुरूपी शृंखलाओं को तोड़ने को प्रयत्नशील स्त्री के विरुद्ध पुरुषों की प्रतिक्रियाएँ ठीक वैसी हैं जैसे हज़ारों हज़ार साल से चले आ रहे तिरस्कार और दमन-चक्र के बाद दलित समाज को मिलने वाले सद्यजात आरक्षण के विरुद्ध गला फाड़ते सवर्ण। किसी भी अत्याचार, भेदभाव के विरोधी-आंदोलन एकता एवं दृढ़ता के बिना सफल नहीं हो पाते। अतः हम स्त्रियों को चाहिए कि देश, धर्म, जाति, संप्रदाय से ऊपर उठकर छोटे-बड़े स्तर पर संगठित हों, शिक्षित हों। संगठन में ही बल है। चाहे वह परिवार में हो या आफ़िस में, यदि दो स्त्रियाँ भी साथ हैं तो परिवार और कार्यक्षेत्र में स्त्री के प्रति अन्याय प्रायः असंभव हो जाएगा। तब बहुत संभव है कि हम उन निरुपाय, विवश बहनों के ऊपर हो रहे अत्याचारों का क़ानून-सम्मत विरोध तो कर सकेंगे एवं हमारी आनेवाली पीढ़ियाँ किसी भी क्षण यह कहने को विवश न होंगी—'अगले जनम मोहे बिटिया न कीजौ।'

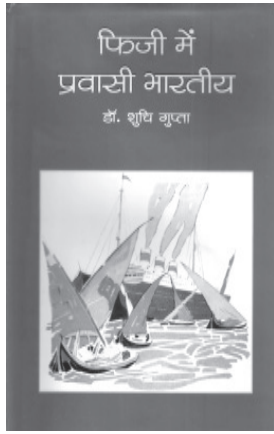
संदर्भ

1. ऋग्वेद, तीसरा अध्याय, अनुवाक 73
2. Political and Historical Encyclopedia of Women, Christine Faure P. 343
3. European Feninism, Kareb N offen, P. 247
4. कुर्आन शरीफ़, अनुवाद नंदकुमार अवस्थी, अध्याय सुरन्तुन्नहूलि आ० 57, 58, पृ० 455 प्र० लखनऊ किताबघर, शेरवानी संस्करण।
5. वही, अध्याय सुर तुल् बकरति 2 आ० 222
6. वही, अध्याय वही, आ० 223
7. अ, ब वही, अध्याय वही, आ० 228
8. सूरातुन्निसा अ 4, अध्याय 12, आ० 11, पृ० 145

9. राष्ट्रीय सहारा (दैनिक) मुख्य, पृष्ठ 8
10. स्त्री-संघर्ष का इतिहास, राधाकुमार, पृ० 261, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
11. वही, पृ० 259,
12. आधी आबादी का संघर्ष ममता जैतली, श्रीप्रकाश शर्मा, पृ० 84, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

□ 2 प्रोफेसर्स लॉज
मोदीनगर (उ०प्र०) 201204
मो. 0999785142

फिजी में प्रवासी भारतीय



प्रस्तुत ग्रंथ रुहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली द्वारा पीएच०डी० उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-ग्रंथ पर आधारित है। इसमें फिजी के लिए शर्तबंद प्रथा के अंतर्गत भारतीयों के उत्प्रवास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया गया है। भर्ती-व्यवस्था से लेकर वापसी-यात्रा तक भोले-भाले भारतीयों के साथ गोरे उपनिवेशियों द्वारा किए गए अत्याचार की यह एक लंबी गाथा है। प्रमुख रूप से भारतीयों की नैतिक व सामाजिक दशा पर अधिक प्रकाश डाला गया है, ताकि औपनिवेशिक शोषण को समुचित तरीके से देखा जा सके। उपलब्ध मौलिक व प्रकाशित सामग्री से स्पष्ट हो गया है कि कुशल भारतीय काश्तकारों के निपुण परिश्रम के परिणामस्वरूप ही फिजी

सहित विभिन्न उपनिवेशों के अस्तित्व को मिटने से बचाया जा सका। लेकिन इन परोपकारी भारतीयों को 'कुली' का केवल संबोधन ही नहीं दिया गया, बल्कि उनके प्रति अर्धदास जैसा कठोर व्यवहार भी किया गया। जागीरी-व्यवस्था के कारण भारतीय स्त्रियाँ तो खरीद-फरोख्त की वस्तु बनकर रह गईं, जबकि जागीरों पर अँग्रेज अधिकारियों ने उनको काम-पिपासा का साधन-मात्र माना। वस्तुतः वे भारत को कुलियों व वेश्याओं का देश समझते थे। घृणित प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा को कार्यरूप देने का मुख्य दायित्व ब्रिटिश इम्पीरियल सरकार का था, जिसने औपनिवेशिक स्वार्थहित को पूरा करने के लिए अपने उपनिवेशों में स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके नीग्रो दासों के स्थान पर भारतवासियों को यूरोपीय लोगों के बागानों में काम पर लगा दिया। जिस दासता को समाप्त करके ब्रिटिश ह्विग सरकार ने विश्व-इतिहास में ख्याति अर्जित की, उसी सरकार ने दासता को बदले रूप में जन्म दिया। ऐसे सिस्टम की कठोरतम आलोचना इस अध्ययन का मुख्य निष्कर्ष है।

फिजी में प्रवासी भारतीय (ऐतिहासिक विवरण); डॉ० शुचि गुप्ता; हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०); 2010; 300 रुपए; पृ० 212

कहानीकार मिथिलेश्वर : प्रेमचंद की विरासत

डॉ० दीनानाथ सिंह

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष एवं प्राचार्य,
स्नातकोत्तर हिंदी-विभाग,
वीर कुँवरसिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)

प्रेमचंद-परंपरा के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार मिथिलेश्वर हैं। यशपाल की कहानियों की सामाजिक चेतना में अधिक आक्रोश है। शिवप्रसाद सिंह, शैलेश मटियानी, मार्कंडेय तथा शेखर जोशी की कहानियों में नई कहानी के शिल्प का प्रभाव है और ग्राम्य-कथाकार होते हुए भी इनकी सहभागिता उक्त आंदोलन के साथ रही है। नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु और विवेकीराय की कहानियों में 'आंचलिकता' प्रच्छन्न है। इस दृष्टि से मिथिलेश्वर की कहानियों में प्रेमचंद की विरासत विद्यमान है।

प्रेमचंद आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं; जितना वे अपने काल में थे। समकालीन कहानीकारों में उदयप्रकाश और संजीव अत्यंत ही ख्यात हैं, किंतु संजीव के आदर्श प्रेमचंद ही हैं। उनके शब्दों में— 'मैं प्रेमचंद को छूना चाहता हूँ। ('हंस' अप्रैल अंक, पृ०: 92, 1998 ई०)

कहानीकार मिथिलेश्वर स्वयं स्वीकार करते हैं— 'प्रेमचंद हिंदी के पहले कथाकार थे, जिन्होंने हिंदी-कहानी को अच्छी तरह पहचाना था, बहुत गहराई के साथ प्रेमचंद को मैंने अपनी आत्मा में बसा लिया है।' ('बंद रास्तों के बीच' पृ०: 8)

यही सही है कि प्रेमचंद और मिथिलेश्वर में लगभग चार दशकों का अंतराल है और इस बीच स्वतंत्रता के पूर्व और बाद के गाँव कई दृष्टियों से बदले हुए हैं, किंतु 'गाँव के इतिहास के पृष्ठ भले ही बदल गए हैं, दुख-दर्द के क्लिप्से पुराने हैं। बिजली ने गाँव के अंधकार को भले ही दूर किया है, ग्रामवासियों के मन का अंधकार जैसा का तैसा है।' (मिथिलेश्वर की कहानियाँ: मूल्यांकन और परिव्याप्ति, पृ०: 7 लेखक: डॉ० निरंजनकुमार सिंह)

मिथिलेश्वर की कहानियों का रचना-संसार बहुत व्यापक है; प्रेमचंद की कहानियों के रचना-संसार जैसा क्योंकि प्रेमचंद की तरह ही इन्होंने सामाजिक कथाकार के रूप में अपनी कहानियों के संसार में संपूर्ण ग्राम-जीवन को रखा है। भले ही इनकी कहानियों में वर्णित घटनाएँ और पात्र काल्पनिक हैं, किंतु ये काल्पनिक होकर भी वास्तविक जीवन को उजागर करते हैं। घटनाएँ, उनके लिए जो ग्रामीण जीवन तथा कृषि-संस्कृति से परिचित हैं, अजनबी प्रतीत नहीं होती हैं। उनके पात्र प्रेमचंद की कहानियों के पात्र की तरह ही प्रतिनिधि पात्र (Typed Characters) हैं, न कि जैनेंद्र की तरह विशिष्ट। प्रेमचंद ने जिस तरह समाज

के हर वर्ग के प्रतिनिधि पात्रों के जीवन-संघर्ष को ग्रामीण परिवेश में प्रस्तुत किया है, उसी तरह मिथिलेश्वर ने भी अपनी कहानियों के रचना-संसार में घटनाओं और पात्रों को ग्रामीण परिवेश की विविध समस्याओं से जोड़ा है। प्रेमचंद की कहानियों में कथा-रस अक्षुण्ण है, मिथिलेश्वर की कहानियों की पाठनीयता के मूल में कथारस की विद्यमानता ही है। दोनों कथा-शिल्पी हैं। दोनों कहानीकार के रूप में भी उतने ही विशिष्ट हैं जितने उपन्यासकार के रूप में। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों के माध्यम से संक्षेप में जनजीवन तथा ग्राम्य-जीवन के संघर्ष को प्रस्तुत किया है, तो 'सेवासदन', 'कर्मभूमि', 'गबन', 'रंगभूमि' तथा 'गोदान' के माध्यम से उसका विस्तार से चित्रण किया है। मेरी दृष्टि में 'कफ़न' का ही विशद पल्लवन 'गोदान' में हुआ है।

मिथिलेश्वर की कहानियों का समुच्चय तथा समग्र रूप इनके उपन्यास हैं। 'झुनिया', 'युद्धस्थल', 'प्रेम न बाड़ी उपजै', 'यह अंत नहीं', 'सुरंग में सुबह' तथा 'माटी कहे कुम्हार से' इनके उपन्यास हैं। जिनके अंतःकरण में इनकी कहानियाँ समाहित हैं। समस्या प्रेमचंद की तरह ही है— कहानीकार प्रेमचंद श्रेष्ठ हैं अथवा उपन्यासकार प्रेमचंद? कहानीकार मिथिलेश्वर श्रेष्ठ हैं अथवा उपन्यासकार? अभी-अभी मिथिलेश्वर का आत्मकथात्मक उपन्यास 'पानी बीच मीन पियासी' लोकार्पित हुआ है। समग्रता में, इस उपन्यास के केंद्र में भी ग्राम्य-जीवन की जटिलताओं, समस्याओं, संघर्षों का सम्यक् और अनुभूत लेखा-जोखा है। आचार्यप्रवर डॉ॰ कुमार विमल कहते हैं कि कोई श्रेष्ठ रचनाकार जीवन में एक ही श्रेष्ठ रचना करता है और अन्य कृतियों में वह अपने को दुहराता रहता है। प्रेमचंद हों अथवा मिथिलेश्वर दोनों के साथ यह कथन सही प्रतीत होता है। मेरी समझ में 'कथाकार प्रेमचंद और कथाकार मिथिलेश्वर का तुलनात्मक अनुशीलन' को विषय बनाकर शोध-कार्य करने की आवश्यकता है।

उत्तर अर्द्धशती के कहानीकारों में मिथिलेश्वर कहानी के विविध प्रयोगों एवं आंदोलनों से मुक्त दूसरे प्रेमचंद हैं; मेरे कथन की संपुष्टि के लिए कुछेक समकालीन शिखर कहानीकारों, संपादकों तथा समीक्षकों के मंतव्यों को जानना अपेक्षित है, जो कहानीकार मिथिलेश्वर की कहानियों के संदर्भ में व्यक्त हुए हैं।

सुप्रसिद्ध कहानीकार (स्व॰) कमलेश्वर ने (सारिका, नवंबर, 1974 ई॰) कहा था— 'मिथिलेश्वर ने गाँवों में बसे लोगों की तकलीफ़ को बहुत करीब से देखा और भोगा है। उन्होंने गाँव की समस्याओं और वहाँ के नए वर्ग-संघर्ष को अपनी कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। उनके पात्र आर्थिक ओर सांस्कारिक विवशताओं में छटपटाते हुए लोग हैं।' श्रेष्ठ कहानीकार भीष्म साहनी की मान्यता है— 'मिथिलेश्वर की कलम में दर्द है। मानवीय सद्भावना है। उनकी कहानियाँ पढ़ते हुए आज का ग्रामीण जीवन अपने पूरे यथार्थ के साथ हमारी आँखों के सामने उभरता है। अपने सभी अंतर्विरोधों और विसंगतियों के साथ कहीं कोई लाग-लपेट नहीं, किसी पहलू को ढँकने की कोशिश नहीं, न ही उसे आंचलिक बनाने की कोशिश है। एक संतुलित वस्तुनिष्ठ दृष्टि हमारे सामने आज के ग्रामीण जीवन के पट खोलती चली जाती है।' (दूसरा महाभारत, 1979, भूमिका)

'धर्मयुग' के सुविख्यात संपादक और नई कहानी के यशस्वी कथाकार धर्मवीर

भारती का कहना है, 'जिन कथाकारों ने प्रबुद्ध पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है, उनमें मिथिलेश्वर का विशेष स्थान है। ग्राम-जीवन के सहज मानवीय परिप्रेक्ष्य और उतनी ही सादी कथा-शैली।' (धर्मयुग, 17 अगस्त, 1975 ई०) अनावश्यक विस्तार से बचते हुए, मैं एक-दो विदेशी विद्वानों की सम्मतियों को उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

आकिरा ताकाहाशि (जापानी कथा-आलोचक) ने (ज्वालामुखी के सितंबर, 1981 अंक में) लिखा, 'एक विदेशी होने के नाते भारतीय गाँवों की प्रत्यक्ष अनुभूतियों से वंचित रहने पर भी हमने अपने मन में एक आदर्श भारतीय गाँव का सपना सँजोये रखा है। हमारे लिए कोई ऐसा पथ-प्रदर्शक नहीं है, जिसके अनुसार हम गाँव के भीतर घुस सकें और अगर कोई मिल जाए तो वह भी ज्यादा से ज्यादा हमें दरवाजे के सामने ले जाकर छोड़ देगा। परंतु मिथिलेश्वर की कहानियाँ हमें घरों के अंदर तक और ग्रामवासियों के हृदय के भीतर तक ले जाती हैं।

उक्त मान्यताओं के आलोक में मिथिलेश्वर की कहानी-यात्रा से गुजरना होगा। वर्ष 1970 ई० से ही हिंदी कहानी-लेखन के क्षेत्र में मिथिलेश्वर कारगर रूप से सक्रिय हैं। इनकी लगभग दो सौ कहानियाँ विविध पत्रिकाओं एवं कहानी-संग्रहों में जगह बना चुकी हैं। प्रेमचंद की तीन सौ कहानियों में दस-पंद्रह कहानियाँ ही उदाहरणीय, स्मरणीय एवं उल्लेखनीय हैं। जबकि मिथिलेश्वर की ऐसी पचास कहानियाँ हैं, जिनकी चर्चा समीक्षा एवं प्रशंसा विविध रूपों में हुई है। अभी तक इनके ग्यारह कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं— बाबूजी (1976), बंद रास्तों के बीच (1978), दूसरा महाभारत (1979), मेघना का निर्णय (1980), तिरिया जनम (1982), हरिहर काका (1983), एक में अनेक (1987), एक थे प्रो० बी० लाल (1993), भोर होने से पहले (1994), चल खुसरो घर आपने (2000) तथा जमुनी (2001)

नई और पुरानी कहानी के तीन संकलन आए हैं— मिथिलेश्वर की प्रतिनिधि कहानियाँ (2009), मिथिलेश्वर की संकलित कहानियाँ (नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, 2010) तथा मिथिलेश्वर की पुरस्कृत कहानियाँ (इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 2010 ई०)।

मिथिलेश्वर की कहानियों की परिव्याप्ति इतनी व्यापक है कि समकालीन कहानीकारों के लिए यह दुर्लभ है। इनकी अनेक कहानियों का अनुवाद विभिन्न भारतीय भाषाओं के साथ कुछ विदेशी भाषाओं में भी हुआ है। इस संदर्भ में साहित्य अकादमी से प्रकाशित तथा प्रख्यात कथाकार भीष्म साहनी द्वारा संपादित 'हिंदी कहानी-संग्रह' नामक संकलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसमें मिथिलेश्वर की कहानी 'हत्यारों की वापसी' भी संकलित है। इस संकलन का अँग्रेजी के साथ कई भाषाओं में अनुवाद हुआ है। राजकमल प्रकाशन की बहुचर्चित पुस्तक-माला 'प्रतिनिधि कहानियाँ' के अंतर्गत मिथिलेश्वर की 'प्रतिनिधि कहानियाँ' सन् 1989 ई० में संकलन के रूप में प्रकाशित हुई। सामयिक प्रकाशन की स्तरीय पुस्तक-माला 'चर्चित कहानियाँ' के अंतर्गत 'मिथिलेश्वर की चर्चित कहानियाँ' नामक पुस्तक का प्रकाशन 1944 ई० में हुआ। किताबघर की पुस्तक-माला 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ' के अंतर्गत 'मिथिलेश्वर की दस प्रतिनिधि कहानियाँ' शीर्षक पुस्तक का प्रकाशन 2003 ई० में हुआ है।

ग्रंथायन प्रकाशन अलीगढ़ (उ०प्र०) से डॉ० राकेश गुप्त एवं डॉ० ऋषिकुमार चतुर्वेदी के संपादन में 'हिंदी-कहानी' नामक एक वार्षिक संकलन प्रकाशित होता था। इस संकलन में

राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कहानियों में से वर्ष की श्रेष्ठ कहानियों का चयन किया जाता था। अब तक बीस वर्षों के संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। जिनमें राष्ट्रीय स्तर पर मिथिलेश्वर की सर्वाधिक कहानियाँ चयनित हुई हैं। इनकी कई-कई कहानियाँ हिंदी के विशिष्ट कहानी-संग्रहों में संगृहीत हुई हैं— 'बीच रास्ते में' (कथा-वर्ष 1975 संपादक डॉ० देवेश ठाकुर), 'बंद रास्तों के बीच' (श्रेष्ठ कहानियाँ, 1976- संपादक डॉ० महीप सिंह) और 'पहली घटना' (हिंदी-कहानियाँ-संपादक डॉ० राकेश गुप्त)। उक्त संकलनों के अतिरिक्त 'समांतर लघुकथाएँ' (1979), समकालीन श्रेष्ठ कहानियाँ (1980) तथा 'हिंदी-कहानी' (1981) आदि कहानी-संकलनों में मिथिलेश्वर की अनेक कहानियाँ सम्मिलित की गयी हैं।

इनकी कहानियों का सफल नाट्यमंचन तथा टेली फ़िल्मों का सफल प्रसारण भी हो चुका है। प्रख्यात नाट्य-निर्देशक ब०व० कारंत के निर्देशन में इनकी 'बाबूजी' कहानी का नाट्य-मंचन राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित रहा है। मिथिलेश्वर के कहानी-संग्रहों पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शताधिक समीक्षाएँ प्रकाशित हुई हैं। अनेक विश्वविद्यालयों में शोधकार्य संपन्न हुए हैं। यथा-वर्ष 1982 में जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (मध्य प्रदेश) में 'मिथिलेश्वर की कहानियाँ : एक अनुशीलन', वर्ष 1985 में राजस्थान विश्वविद्यालय में 'समकालीन हिंदी कहानी में आंचलिकता : विशेष संदर्भ मिथिलेश्वर की कहानियाँ'; वर्ष 1996 में वीर कुँवरसिंह विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में 'हिंदी-कहानी की आंचलिक धारा के संदर्भ में मिथिलेश्वर की कहानियों का अनुशीलन' तथा वर्ष 2000 में, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट, दयालबाग (आगरा) में मिथिलेश्वर कृत कहानी-संग्रह 'चल खुसरो घर आपने का कथ्य एवं शिल्प' विषय पर शोधकार्य का संपन्न होना कहानीकार की श्रेष्ठता का परिचायक है।

अपनी युवावस्था एवं लेखनकार्य की अवधि में किसी कहानीकार के लिए ऐसी उपलब्धियाँ बहुत ही प्रेरक और उदाहरणीय हैं। ऐसा सौभाग्य प्रेमचंद को ही प्राप्त हुआ है कि विद्यालय के स्तर से लेकर विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रमों में इनकी कोई-न-कोई कहानी पढ़ायी जाती है। मिथिलेश्वर निश्चित रूप से एक संदर्भित कहानीकार हैं। एन०सी०ई०आर०टी० द्वारा तैयार राष्ट्रीय स्तर पर 10वीं कक्षा की पाठ्य पुस्तक 'संचयन', भाग 2 में इनकी कहानी 'हरिहर काका' देशभर में पढ़ाई जाती है। इसके पहले मिथिलेश्वर की 'हत्याओं की वापसी' कहानी 10वीं कक्षा में पढ़ाई जाती थी। इससे पहले साहित्य अकादमी और एन०सी०डी० में मिथिलेश्वर की कहानियों के पाठ हो चुके हैं।

प्रेमचंद को कोई राष्ट्रीय स्तर का पुरस्कार नहीं मिला। मिथिलेश्वर भले ही अभी तक 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' (दिल्ली) अथवा 'शिखर सम्मान' (बिहार राष्ट्रभाषा, पटना) से वंचित हैं, लेकिन उनको कई पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं— अखिल भारतीय मुक्तिबोध पुरस्कार (1976), सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार (1979), यशपाल पुरस्कार (1981-1982), अमृत पुरस्कार (1983), साहित्य मार्तण्ड सम्मान (1994), अखिल भारतीय वीरसिंह देव पुरस्कार (2003-2005) आदि उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं।

अगर राजनीति की दुरभिसंधि न हो, तो आने वाले दिनों में कहानीकार मिथिलेश्वर

‘पद्मश्री’ अथवा ‘पद्मविभूषण’ जैसे गरिमापूर्ण सम्मान से अलंकृत होंगे। यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है कि मेरे ही विश्वविद्यालय ‘वीर कुँवरसिंह विश्वविद्यालय, आरा’ (बिहार के स्नातकोत्तर हिंदी-विभाग में मिथिलेश्वर एक ख्यातिलब्ध अध्येयता (रीडर) के पद पर कार्यरत हैं। प्रायः मिलना-जुलना होता रहता है। वे मेरे शिष्य-तुल्य हैं, किंतु मैं आदर के साथ उन्हें प्यार एवं सम्मान देता हूँ। मेरी नई पुस्तक ‘हिंदी-कहानी के सौ वर्ष’ (मीनाक्षी प्रकाशन, शकरपुर, दिल्ली-92) में एक सम्मानित कहानीकार के रूप में इनकी कहानियों पर प्रकाश डाला गया है। मुझे स्मरण है, जिन दिनों मैं हरप्रसाद दास जैन कॉलेज, आरा के हिंदी-विभाग में एक व्याख्याता के रूप में कार्यरत था और कॉलेज के छात्रावास में रहता था, उन दिनों विक्रमगंज कॉलेज के हिंदी-विभाग ने एक कहानी-प्रतियोगिता कराई थी और लगभग बीस कहानियाँ छात्र-प्रतिभागियों द्वारा जमा हुई थीं, जिनका निर्णायक मैं ही था। मेरे पास सभी कहानियाँ थीं। ‘अनुभवहीन’ कहानी, मेरी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ घोषित हुई। उसे प्रथम पुरस्कार मिला। छात्र का नाम मिथिलेश्वर प्रसाद था। कालांतर में वही कहानीकार छात्र मिथिलेश्वर हुआ। बात सातवें दशक के अंत की है। मिथिलेश्वर सर्वप्रथम राँची विश्वविद्यालय में हिंदी के व्याख्याता बने और जब उनका स्थानांतरण जैन कॉलेज में हुआ, तो वे मेरे आत्मीय बन गए। मेरे प्रिय लेखक बने। उनकी सभी कृतियाँ मेरे पास हैं। मुझे स्मरण है कि ‘कारखाना’ मासिक पत्रिका के संपादक रमेश नीलकमल ने ‘कहानीकार’ विशेषांक के लिए मुझसे ‘कहानीकार मिथिलेश्वर’ पर आलेख अपनी पत्रिका के लिए लिया था। मेरी समीक्षा-पुस्तक ‘आधुनिक-साहित्य और साहित्यकार’ में एक समीक्षात्मक निबंध ‘मिथिलेश्वर की कहानियाँ’ शीर्षक से संकलित है। इस विस्तृत विवेचन में इतना ही सिद्ध करना चाहता हूँ कि मैं कई दशकों से कहानीकार को जानता हूँ और इनकी कहानियों को पढ़ता रहता हूँ। उसी के आधार पर मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ। 31 दिसंबर, 1950 को बिहार के भोजपुर जिले के बेसाडीह गाँव में जन्मे मिथिलेश्वर, 1965 से ही कहानी लिख रहे हैं। अब तक चार दशकों से कहानी लिखते हुए उन्होंने कहानी के विभिन्न आंदोलनों को पार किया है, किंतु किसी भी आंदोलन की निर्धारित सीमा में बँधकर Formula writing इन्हें पसंद नहीं हुआ और ये निर्व्याज भाव से लिखते रहे। इतना अवश्य हुआ कि उत्तर अर्द्धशती की कहानियों में परिवर्तन हुआ। कहानी के पारस्परिक स्वरूप में, उसके कथ्य और प्रस्तुति में नूतनता के कई आयाम जुड़े। देश की राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य-जन्य मानसिकता उतार-चढ़ाव को झेलती रही है। सन् 1936 के बाद जब प्रेमचंद के गाँव पीछे छूट गए थे, जैनेंद्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, उपेंद्रनाथ अशक और अमृतलाल नागर आदि कहानीकार बहुत कुछ सार्थक लिखकर भी न तो ‘पूस की रात’ या ‘कफ़न’ के यथार्थ को पकड़ रहे थे और न प्रेमचंद की कहानियों के ‘गाँव की छवि’ को ही निखार रहे थे। यशपाल को छोड़कर उक्त सभी कहानीकार न्यूनाधिक रूप से ‘रोमांटिक स्थूल अथवा सूक्ष्म इतिवृत्त’ को ही प्रस्तुत कर रहे थे। इस गत्यवरोध को सर्वप्रथम कुछ आंचलिक कहानीकारों ने पाँचवें दशक के समाप्त होते-होते समझ लिया था। रेणु, नागार्जुन, शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय एवं विवेकीराय पुनः प्रेमचंद के गाँव की ओर लौटे, किंतु अधिकांश कहानीकार विशेषकर रेणु तथा नागार्जुन जी कहानियों में ‘रोमांटिक छवि’ बनी रही (तीसरी कसम, याद कीजिए)। ‘नई

कहानी' की एक विशेष प्रवृत्ति आंचलिकता की भी है। इसी अवधि में मिथिलेश्वर की पहली कहानी 'अनुभवहीन' का प्रकाशन मई 1973 की 'सारिका के नवलेखन विशेषांक' में हुआ था। अत्यंत ही आर्थिक तंगी में डिप्टी कलक्टर की प्रतियोगिता परीक्षा के शुल्क को लिए एक युवक (कहानी का नायक) अपनी नसबंदी करा लेता है और पत्नी के साथ सहवास करते समय नपुंसकता का अनुभव करता है। मृगमरीचिका में उद्दिग्ग्न एक शिक्षित बेरोजगार युवक की पौरुष-त्रासदी को जिस खूबी से कहानीकार ने 'अनुभवहीन' कहानी में व्यंजित किया था, वह उनकी संभावनाओं की आहट थी। 'नपुंसक समझौते' का प्रकाशन 'धर्मयुग' में 16 सितंबर, 1973 ई० को हुआ। इस कहानी में गाँव के बदलते स्वरूप तथा मध्यवर्गीय समाज की मानसिकता, महँगाई, भ्रष्टाचार तथा बेरोजगारी आदि का चित्रण हुआ है। नवंबर 1974 ई० की 'सारिका' में 'एक और हत्या' कहानी प्रकाशित हुई। गाँवों में व्याप्त शोषण और अन्याय का जिस तरह मूर्त चित्रण प्रेमचंद ने 'सवा सेर गोहूँ' में किया है, मिथिलेश्वर ने 'एक और हत्या' में वैसा ही चित्रण किया है। 'बीच रास्ते में' कहानी का प्रकाशन 9 मार्च, 1975 ई० के साप्ताहिक हिंदुस्तान में हुआ था। संवेदनशीलता की दृष्टि से मिथिलेश्वर की श्रेष्ठ कहानियों में से एक है। 'विरासत में' कहानी का प्रकाशन 'धर्मयुग' (17 अगस्त, 1975) के बाद 'विग्रह बाबू' (धर्मयुग 14 दिसंबर, 1975) और 'संगीता बनर्जी' (साप्ताहिक हिंदुस्तान, 18 जनवरी, 1976) कहानियाँ प्रकाशित हुईं, किंतु कालांतर में वे अपनी श्रेष्ठ कहानियों के संबंध में स्वयं स्वीकार करते हैं— 'नरेश बहू', 'पहली घटना', 'रघुलाल टोला', 'हरिहर काका', तथा 'रिश्ते' नामक लंबी कहानियों की तड़पन की पीड़ा मुझे आज भी याद है।' (मेरी सृजन-प्रक्रिया, संदर्भ, पृष्ठ : 49)

मेरी दृष्टि में, आज अगर मिथिलेश्वर की शीर्ष और श्रेष्ठ कहानियों की सूची तैयार की जाए, जिसमें इनकी लंबी कहानियाँ हों, तो किसी भी तरह 'बाबूजी' कहानी के साथ 'बीच रास्ते में', 'हत्याओं की वापसी', 'चल खुसरो घर आपने', 'एक और मृत्युंजय' तथा 'जमुनी' को नहीं छोड़ा जा सकता है। इतना अवश्य है कि व्यक्ति-सत्य की कहानी 'बाबूजी' है, जबकि प्रेमचंद की तरह मिथिलेश्वर ने सामाजिक सत्य को ही अपनी कहानियों के केंद्र में रखा है। 'बाबूजी' का प्रकाशन 'धर्मयुग' (1 सितंबर, 1974 ई०) में हुआ था। निःसंदेह यह कहानी मिथिलेश्वर की कथा-यात्रा में 'मील का पत्थर' है। यह उनकी कहानी का ऐसा बीजारोपण है, जिसका विकास यानी पल्लवन, पुष्पन तथा फलन भी इसी में सम्मिलित है। उस कहानी को पुनः मिथिलेश्वर नहीं दुहरा सके। बंगला भाषा के कहानीकार रवींद्रनाथ टैगोर तथा शरत्चंद्र की ऐसी अनेक कहानियाँ हैं, जो रोमांटिक होते हुए भी व्यक्ति-सत्य के नग्न यथार्थ को व्यंजित करती हैं। 'बाबूजी' अवश्य ही शरत्चंद्र के 'चरित्रहीन' उपन्यास से प्रभावित है अथवा अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' (प्रथम खंड) की प्रभाव-छाया से आच्छन्न है। इतना अवश्य है कि इस कहानी ने सामाजिक सत्य के पुराने विषय को तोड़ा है और जिस नायक (बाबूजी) को प्रस्तुत किया है, उसकी रोमांटिक छवि एवं न टूटनेवाले व्यक्तित्व जैसा दूसरा नायक आज तक किसी कहानीकार की किसी कहानी में उपलब्ध नहीं है। स्वयं मिथिलेश्वर भी पुनः ऐसा नायक अपनी किसी अन्य कहानी में नहीं दे सके। व्यक्ति-सत्य के कहानीकार जैनेंद्र और अज्ञेय की किसी कहानी में ऐसा नायक नहीं है। हाँ, जैनेंद्र

की 'फाँसी' कहानी के नायक में ऐसे नायक की एक धुँधली छवि बनती है। कभी-कभी ऐसा होता है। प्रसाद ने पुनः 'कामायनी' जैसा प्रबंधकाव्य नहीं लिखा। गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' अकेली ही रह गई, किंतु मिथिलेश्वर ने पुनः 'बाबूजी' कहानी के व्यक्ति-सत्य के मिथक को तोड़ा। अपनी सवेष्ट्रेष्ठ कहानी लिखकर भी उन्होंने अपनी कहानी-यात्रा को रोचक, प्रेरक तथा प्रासंगिक बनाए रखा है। अद्यावधि इतनी अधिक कहानियों में मिथिलेश्वर की खूबी यह है कि कथानक का पिष्टपोषण कहीं नहीं हुआ है। कहानियों में इतनी विविधता एक मिसाल है। संजीव की पुरस्कृत कहानी 'अपराध' के सम्मान-समारोह (अप्रैल-1998) में 'हंस' के यशस्वी संदपादक राजेंद्र यादव ने कहा था— 'हिंदी कथा-साहित्य में प्रेमचंद और यशपाल के बाद संजीव की कहानियों जैसी वेरायटी किसी में नहीं है। कथाकार रेणु में भी नहीं है।' उस कथन में मैं संजीव के साथ एक नाम और जोड़कर कहता हूँ कि मिथिलेश्वर की कहानियों में वेरायटी (विविधता) भी बहुत है। प्रेमचंद की कहानियों की तरह ही उनके पात्र समाज के हर वर्ग से लिए गए हैं— झुनिया, फुलिया (दोनों भोजपुरी कहानियाँ) संगीता बनर्जी, नरेश बहू, शांता, सावित्री, गंगिया फुआ आदि नारी-पात्र तथा विविध वर्ग के भिन्न-भिन्न पुरुष पात्र, जैसे— मोटर कंडक्टर (सरेआम), नौकर (बहादुर कहानी), मजदूर (मेघना का निर्णय), हत्यारा (हत्यारों की वापसी), डाकू (पुलपर), नाई (जहाज का पंछी) तथा चरवाहा बैजू (भोर होने से पहले) आदि सामान्य पात्र उनकी कहानियों में संवेदनात्मक स्तर पर करुणा के पात्र हैं, जिनके शोषण-दमन के प्रति हृदय में पक्षधरता का भाव जगता है और उनकी परिस्थितिजन्य विवशता को देखते हुए उनके प्रति कहीं से भी घृणा उत्पन्न नहीं होती है। मिथिलेश्वर ने प्रेमचंद की तरह आर्थिक एवं सामाजिक विवशताओं के चक्रव्यूह में फँसे पात्रों के प्रति विशेषाग्रह व्यक्त किया है किंतु इन्हें आक्रामक या नक्सलवादी विद्रोही बनाकर सामाजिक चेतना एवं न्याय के लिए तैयार नहीं किया है। वस्तुतः अहिंसक किंतु निर्भीक विद्रोह का स्वर अवश्य ही कहानीकार ने व्यक्त किया है। कहीं-न-कहीं गांधीवादी प्रगतिशीलता का सूक्ष्म प्रभाव इनकी ऐसी कहानियों में प्रच्छन्न है। प्रेमचंद ने भी अपनी कहानियों में समग्र जीवन का चित्र खींचा है। गोर्की, टॉल्स्टॉय, आर्य-समाज, गांधी तथा कार्ल मार्क्स से प्रभावित होकर अंत में वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता को महसूस करने लगे थे। वर्ण-संघर्ष और वर्ग-संघर्ष को वैचारिक स्तर तक लेजाकर उन्होंने अहिंसक विद्रोह को अपने प्रतिनिधिपात्रों द्वारा इंगित किया है। मिथिलेश्वर के प्रेरणा-स्रोत प्रेमचंद हैं और लगभग मिथिलेश्वर की अधिकांश कहानियों का तेवर भी प्रेमचंद जैसा ही है, किंतु अपने समकालीन विजेंद्र अनिल और मधुकर सिंह की कहानियों के तेवर की तरह नहीं। यह कहानीकार का उत्तर मानवतावादी दृष्टिकोण है— परिवर्तन हो किंतु अहिंसक। एक थे 'प्रो० बी० लाल' कहानी-संग्रह की अधिकांश कहानियाँ नगर और गाँव दोनों जीवन पर आधारित हैं। (गाँव का मधेसर, सीमाएँ, सरजू ब्रह्म के गाँव में, उसने ऐसा क्यों कहा, अपने घर से, लापता और एक थे प्रो० बी० लाल) किंतु मिथिलेश्वर की बहुसंख्यक कहानियों की इमारत ग्रामीण जीवन की नींव पर बनी है। उन्हीं के शब्दों में— 'ग्राम-जीवन पर मैंने इसलिए लिखा है कि गाँवों में पला-बढ़ा हूँ और उस जीवन को नज़दीक से जानता हूँ। गाँव और गाँव-सम्मत यथार्थ ने मुझे लिखने के लिए बाध्य किया है और मैं उस पर लिखता गया।' इस बात को विवेकीराय भी

स्वीकार करते हैं— ‘मिथिलेश्वर की ग्राम-कथाओं में अनायास ऐसे शिल्प का उभार हुआ है, जो उन्हें समस्त ग्राम-कथाकारों से पृथक कर देता है। इस नूतन शिल्प को मैं अनौपचारिक शिल्प की संज्ञा देना चाहता हूँ। आज के बदलते ग्राम-जीवन के यथार्थ को उजागर करने में इस शिल्प के कारण कथाकार को अभूतपूर्व सफलता मिली है। ऐसा लगता है कि मिथिलेश्वर की सृजन-प्रक्रिया में आधुनिक कहानी के शिल्पगत नारे, फार्मूले, तेवर, खेमे और तकनीकी विकास आदि से अप्रभावित रहकर गाँव का शोषित-पीड़ित भोलापन सीधे-साधे उतर आया है। इसीलिए उसका स्वाद पारंपरिक भारतीय कथा के निकट होकर भी आधुनिक पाठकों को बेहद आकर्षित करता है। यह स्वाद आचार्य शिवपूजन सहाय की ‘देहाती दुनिया’ से जुड़ते हुए सीधे प्रेमचंद की परंपरा को प्रतिष्ठित करता है।’ (संदर्भ, पृष्ठ : 27)

आज के प्रतिबद्ध और जागरूक कहानीकार के रूप में मिथिलेश्वर ने अपनी कहानियों में सामाजिक वैषम्य और बुराइयों को उजागर कर संक्रमणशील समाज के अंतर्विरोधों तथा विसंगतियों को चिह्नित कर, उनसे संघर्ष करने का वातावरण तैयार किया है। इस तथ्य को डॉ॰ शिवमंगल सिंह ने समझा और ‘बाबूजी’ कहानी-संग्रह को ‘मुक्तिबोध परस्कार’ से पुरस्कृत करते हुए प्रधान निर्णायक के रूप में अपना अभिमत प्रस्तुत किया— ‘प्रेमचंद और रेणु की परंपरा में मिथिलेश्वर का ‘बाबूजी’ कहानी-संग्रह ग्रामीण जीवन की विभीषिकाएँ और उसके यथार्थ को गहराई से चित्रित करता है। मनोवैज्ञानिकता और सामाजिक विद्रोह की अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह संग्रह उल्लेखनीय है।’ हाँ, यह सही है कि मिथिलेश्वर की प्रारंभिक अनेक कहानियों में विवश पात्रों का करुण चित्रण हुआ है। ये पात्र अपनी नियति से बँधे हुए, भाग्य से पीड़ित और सुविधाभोगी वर्ग से शोषित दिखाए गए हैं, किंतु बाद की कहानियों का तेवर बदलता गया है। वे कृत्रिम प्रारब्ध, निष्क्रिय जड़ता और निरर्थक शोषण को व्यर्थ करने में तल्लीन दिखाई पड़ते हैं। संभवतः इसीलिए डॉ॰ नामवर सिंह जैसे प्रखर आलोचक ने ‘हरिहर काका’ कहानी को लक्ष्य करते हुए कहा है— ‘मिथिलेश्वर की हरिहर काका कहानी का कथ्य इतना सशक्त है कि बिना बनाव-सिंगार के भी पूरा असर डालता है। एक ओर मठ और दूसरी ओर अपने ही भाइयों की खींचतान में हरिहर काका आज के सामंती-पुरोहित उत्पीड़न को पूरे तीखेपन से उभारते हैं। पात्रों की जीवंतता मिथिलेश्वर की पात्र-योजना का सर्वोत्तम गुण है।’

डॉ॰ नागेश्वरलाल ने संदर्श, (पृष्ठ : 33) में लिखा— ‘मिथिलेश्वर ने अपनी कहानियों में जिन मनुष्यों का चित्रण किया है, वे अधिकतर सामान्य स्तर के हैं, इतने सामान्य कि समूह के अंग की तरह मालूम पड़ते हैं, पर यह उतनी ही दूरी तक जितनी दूरी तक उनकी यंत्रणाएँ हैं। यंत्रणाओं को झेलने की कभी-कभी उनके निरावरण की प्रक्रिया में वे बिल्कुल जीवंत हैं। अत्यंत ही साधारण पात्रों को असाधारण दिखाने की संवेदनशीलता मिथिलेश्वर की कहानियों में सर्वत्र प्रच्छन्न है। डॉ॰ नागेश्वरलाल के ही शब्दों में— ‘निचले स्तर के कमजोर लोगों के भयावह जीवन का जितना और जैसा चित्रण उन्होंने किया है, उतना और वैसा अभी तक कोई नहीं कर सका है। उन्हीं में वे औरतें भी हैं, जिनकी यंत्रणाओं का इन्होंने बार-बार वर्णन किया है। वस्तुतः मिथिलेश्वर के नारी-पात्रों के संदर्भ में धर्मवीर भारती की प्रसिद्ध कहानी ‘गुलकी बन्नो’ और प्रसिद्ध उपन्यास ‘सूरज का सातवाँ घोड़ा’ के नारी-पात्र स्मृति में

मूर्त हो जाते हैं। मिथिलेश्वर ने छः महिलाओं की कहानियों का एक अतिरिक्त लघु संकलन 'छः महिलाएँ' नाम से निकाला, जिसमें परोक्षतः नारी-मुक्ति की अभीष्टता निहित है। इस संग्रह की भूमिका में कहानीकार ने लिखा है— 'समाज को नारी की देन और नारी की महत्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए मैं बार-बार सोचा करता हूँ कि नारियों पर होनेवाले शोषण और अत्याचार से उन्हें कैसे बचाया जा सके? इस कथा-संकलन की दो महिलाएँ— मीना और संगीता बनर्जी को, जिनके व्यक्तित्व की छाप मैं भारत की हर महिला में देखना चाहता हूँ; ऐसा इसलिए कि मीना या संगीता बनर्जी जैसी नारी समाज की लादी गयी रूढ़ परंपरा तथा खोखली और जटिल मर्यादाओं का तिरस्कार कर, उनसे संघर्ष कर अपने विवेक से जीने का प्रयत्न करती है। यह ऐसी नारियों की आभिजात्यधर्मिता नहीं, बल्कि एक अर्जित आर्यता है। एक नए नारी-समाज की प्रबल आकांक्षा कहानीकार ने व्यक्त की है। 'बाबूजी' के बाबूजी ने बहुत पहले अपने विवेक से इस जीवन-दर्शन को समझा था; पर जीने की कामना का चुनाव करके नहीं, बल्कि स्वेच्छा से मरने की कामना करके। उन्होंने समझा था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अस्मिता के साथ जीने का अधिकार है और यदि उसे जीने नहीं दिया जाए, तो मरने की स्वतंत्रता का अधिकार तो उसे है ही। किंतु, 'छः महिलाएँ' की नारियाँ जीकर समाज से विद्रोह करना चाहती हैं। 'सावित्री दीदी' की सावित्री और 'तिरियाजनम' की सुनयना भले ही अपने जीवन को (नारी-जीवन को) अभिशाप मानती हैं, लेकिन 'संगीता बनर्जी' कहानी की नायिका आधुनिक विचारोंवाली है। वह संघर्ष करना जानती है और अपने जीने के अधिकार की रक्षा करती है। उसी तरह मिथिलेश्वर की नारी-प्रधान कहानियों में— 'पहली घटना', 'नरेश बहू', 'न चाहते हुए भी', 'चर्चाओं से परे', 'शरीर से लाश तक' एवं 'मोल ली हुई मुसीबत' उल्लेखनीय कहानियाँ हैं, जिनके नारी-पात्र विसंगतियों से गुजरते हुए संघर्ष करते हैं।

पुरुष-पात्रों की विसंगतियों, उपेक्षाओं, शोषणों, यंत्रणाओं और संघर्षों को उजागर करनेवाली कहानियों में 'बाबूजी' तथा 'हरिहर काका' के अतिरिक्त 'अनुभवहीन', 'जहाज़ का पंछी', 'एक और हत्या', 'बीच रास्ते में', 'नपुंसक समझौते', 'अभी भी', 'बीजारोपण', 'गृह-प्रवेश' तथा 'विरासत में' आदि कहानियाँ उदाहरणीय हैं। प्रेमचंद की तरह ही मिथिलेश्वर के पात्र समाज के हर वर्ग के पात्र हैं और उनके शोषण तथा उत्पीड़न की कहानी अंतहीन है। आज शोषण और उत्पीड़न की अमानवीय प्रक्रियाएँ सक्रिय हैं। आज के गाँवों की ग्रामीण-संस्कृति उस रूप में नहीं है, जिस रूप में प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में व्यंजित की है। संवेदनशीलता और यथार्थ चित्रण के स्तर पर मिथिलेश्वर ने प्रेमचंद को पुनः प्रतिष्ठित किया है।

'एक में अनेक' (1987) संग्रह की प्रतिनिधि कहानियों में 'कितने भूगुनाथ', 'जी का जंजाल', 'रिश्ते', 'थोड़ी देर बाद' आदि महत्वपूर्ण हैं, जिसके संबंध में 'हंस' (अप्रैल, 1992) में समीक्षात्मक टिप्पणी प्रकाशित हुई— 'इन कहानियों में लेखक का जो अनुभव और मानवीय यथार्थ व्यक्त हुआ है, उसमें एक औसत भारतीय परिवार की टूटन, विवशता, समय के साथ न चल पाने की यंत्रणा, शोषण के विरोध से उत्पन्न विषमताएँ, अपनी वास्तविकताओं में विद्यमान हैं। मिथिलेश्वर की ये कहानियाँ अंतर्विरोधों तथा विसंगतियों के प्रति सचेत करने,

उनके प्रति गुस्सा जगाने में मदद जरूर करती हैं।’

‘भोर होने से पहले’ (1994) की चर्चित कहानियाँ हैं— ‘भोर होने से पहले’, ‘वैतरणी भौजी’, ‘तीन यार’, ‘एक और मृत्युंजय’, ‘गंगिया फुआ’, ‘एक रात एकाएक’ आदि। ये सभी सुगठित तथा परिपक्व कहानियाँ हैं। इण्डिया टुडे (15 दिसंबर, 1994) की टिप्पणी के अनुसार ‘इन कहानियों में ‘मिट्टी की सुगंध’ है। ये कहानियाँ लेखक की अपने जीवन से जुड़ी हुई वहाँ के शोषित, फिर विकसित हो रही औद्योगिक संस्कृति एवं शहरी हवा में कहीं खो गए आदमी की मनोदशा का विश्लेषण करती हैं।’

‘चल खुसरो घर आपने’ (2000) की उक्त कहानी में एक विधवा बूढ़ी माँ शहर में नौकरी करने वाले दोनों पुत्रों के साथ बारी-बारी से रहकर शरीर और मन के स्तर पर पूरी तरह टूट जाती है। पुत्रों, पुत्रवधुओं की उपेक्षा और तिरस्कार से आहत होकर वह पंद्रह वर्षों के बाद नौकरानी मुनरी दाई के साथ अपने मृत पति द्वारा निर्मित मकान (गाँव) में लौटती है, तो सुकून का अनुभव करती है लेकिन मृत पति की सघन स्मृतियों में खोकर उसका प्राणांत हो जाता है। ऐसी घटना प्रायः आम बात हो गयी है।

कहानीकार का अंतिम कहानी-संग्रह ‘जमुनी’ (2001) है। यह मिथिलेश्वर की एक उल्लेखनीय कृति है। ‘जमुनी’ इनकी ही नहीं, बल्कि हिंदी की अनेक लंबी कहानियों में परिभाषित होती है, कृष्णा सोबती की ‘ऐ लड़की’ अथवा ‘यारों के यार’ अथवा ‘तीन पहाड़’ की तरह, किंतु कहानीकार मिथिलेश्वर ने उसका विषय, कृषि-संस्कृति आधारित पारिवारिक अर्थ-व्यवस्था को बनाया है। जिस तरह ‘गोदान’ का होरी एक गाय रखने के लिए अपने अनुकूल वातावरण का निर्माण करता है, उसी तरह जमुनी के लिए जिउत तथा उसका संपूर्ण परिवार समर्पित है। जमुनी भैंस की ही बदौलत उस परिवार में तीन भैंसों और आ गई। होरी के साथ धनिया गाय की देखभाल करती है, तो जिउत के साथ उसकी पत्नी जोगनी। जमुनी उस परिवार की गर्व करने लायक संपदा है। एक रोज़ जमुनी बीमार हो जाती है। पागुर करना बंद कर देती है। जिउत (और उसका परिवार) बेचैन हो जाता है। तरह-तरह की आशंकाएँ होती हैं। किसी ने नज़र लगा दी है। किसी डायन का ऐसा काम है? अब क्या होगा? हर तरह का इलाज और रातभर पूरा परिवार परेशान। होरी की गाय को ज़हर दे दिया था हीरा ने। बस दृश्य याद कीजिए। होरी की मनोदशा का स्मरण कीजिए। जिउत को अपने परिवार का भविष्य अंधकारमय लगता है। कितना अधिक दूध देती थी जमुनी अब क्या होगा? घर में चूल्हा नहीं जला है। जिउत के छोटे पुत्र परभू को भूख लगी है। लगने दो। चिंताओं और आशंकाओं के सागर में डूब रहा है जिउत का परिवार कि सहसा जमुनी पागुर करने लगती है— ‘जिउत का घर उत्साह और उल्लास से गहगहा उठता है। नहीं लगता, उन्होंने सारी रात जागकर काटी है।’ प्रमचंद ने ‘हीरा-मोती’ तथा ‘दो बैलों की कहानी’ खिली है, किंतु ‘जमुनी’ जैसी पशु-प्रेम की कहानी आज तक हिंदी कहानी-साहित्य में नहीं लिखी गयी है। मिथिलेश्वर की कहानी-यात्रा ‘अनुभवहीन’ से चलकर ‘जमुनी’ तक आयी है, लेकिन यह यात्रा का अंत नहीं है। प्रेमचंद की कहानी-यात्रा ‘पंच-परमेश्वर’ से चलकर ‘कफ़न’ तक पहुँचकर उनके निधन के कारण समाप्त हो गयी। मिथिलेश्वर ने अपने एक उपन्यास का शीर्षक रखा है ‘यह अंत नहीं’।

प्रेमचंद की तरह ही मिथिलेश्वर की कहानियों का कोई निश्चित शिल्प नहीं है।

अज्ञेय ने हिंदी-कहानी में अपने शिल्प का नूतन प्रयोग किया। वे हिंदी-कहानी के शिल्पधर्मी कहानीकार हैं। नई कहानी में शिल्प-विधि का चरमोत्कर्ष है। तबसे लेकर अब तक हिंदी-कहानी का शिल्प बदलता रहा है। मिथिलेश्वर उसके अपवाद हैं। इनमें प्रेमचंद और विमल मित्र का किस्सापन विद्यमान है। इनकी कहानियों के शिल्प को परिभाषित करना कठिन है। विवेकीराय की मान्यता है— 'इस नूतन शिल्प को मैं अनौपचारिक शिल्प की संज्ञा देना चाहता हूँ। ऐसा लगता है कि मिथिलेश्वर की सृजन-प्रतिभा में आधुनिक कहानी के शिल्पगत नारे, फार्मूले, तेवर, खेमे और तकनीकी विकास आदि से अप्रभावित गाँव का शोषित-पीड़ित भोलापन उतर आया है।' (माटी की महक, धरती गाँव की, जिल्द पृष्ठ) डॉ० नामवर सिंह को मिथिलेश्वर का सीधे-सपाट ढंग से किस्सा कहना अच्छा लगता है। डॉ० नामवर सिंह, नागेश्वरलाल की दृष्टि में प्रेमचंद की तरह मिथिलेश्वर ने किस्सागो होने का जोखिम अंगीकार किया है। स्वयं मिथिलेश्वर कहते हैं— 'मानवीय बोलियों को अपनी भाषा से संवारते हुए उन्हें उस तरह बोधगम्य बनाने की कोशिश मैं करता हूँ कि उनकी अपनी पहचान और मौलिकता भी बरकरार रहे तथा बहुसंख्यक जनसमुदाय के लिए वे सरस, सुलभ और रोचक भी बनी रहें। अपनी कहानियों की रचना में अक्सर संस्मरण या रिपोर्ताज शैली का मैं प्रयोग करता हूँ। अपनी कहानियों की सृजन-प्रक्रिया के दौरान शिल्प-पक्ष पर मैंने कभी विशेष जोर नहीं दिया है।' (माटी की महक, धरती गाँव की, पृष्ठ : 16-17)।

वस्तुतः शिल्पहीनता इनकी कहानियों की सीमा नहीं, बल्कि शक्ति है। कथ्य की विवधिता और व्यापकता तथा कहानी की प्रस्तुति की सहजता ने मिथिलेश्वर को प्रेमचंद की कोटि का कहानीकार बना दिया है। आज के प्रतिष्ठित कहानीकारों में सर्वाधिक लोकप्रिय तथा सक्रिय कहानीकार के रूप में कहानीकार मिथिलेश्वर शीर्ष पर हैं और अब उन्हें संजीव की तरह ऐसा कहना नहीं पड़ेगा— 'मैं प्रेमचंद को छूना चाहता हूँ।'

□ ग्राम दुर्गापुर

पो० बाहाचौकी

(मुंगेर) 811201 (बिहार)

मो० : 09931645508, 9931702639

स्वतंत्रता से पूर्व की हिंदी-पत्रकारिता

डॉ० अशोक उपाध्याय

अध्यक्ष हिंदी विभाग, बरेली कॉलेज, बरेली।

हिंदी का पहला समाचार-पत्र उदन्त मार्तण्ड था। इसका प्रकाशन 30 मई, 1826 ई० को कलकत्ता से हुआ। इसके संपादक थे पं० जुगलकिशोर शुक्ल, जो कि कलकत्ते में कोलूटोला नामक मुहल्ले के 37 नं० आमड़ातल्ला गली में रहते थे। यह एक साप्ताहिक पत्र था। 16 फरवरी, 1826 ई० को सरकार ने उन्हें इसके प्रकाशन का लाइसेंस निर्गत किया और अन्य तैयारियों के उपरांत 30 मई, 1826 ई० से इसका प्रकाशन आरंभ हुआ। यह एक महत् इच्छा और ऊँचे आदर्श लेकर प्रति मंगलवार को छपने वाला समाचार-पत्र था, जोकि सरकारी सहायता का अभाव तथा ग्राहकों की यथेष्ट संख्या में कमी इत्यादि प्रतिकूलताओं के कारण 4 दिसंबर, 1827 ई० को छपना बंद हो गया। 10 मई, 1829 ई० से प्रकाशित 'बंगदूत' प्रत्येक रविवार को बाँसतल्ला गली स्थित 'हिंदू हेरल्ड प्रेस' कलकत्ता से प्रकाशित होता था। इसके संपादक थे नील रतन हालदार और मुख्य प्रेरणा-स्रोत तथा संचालक थे राजाराम मोहनराय। यह बंगला, अँग्रेजी, फ़ारसी और हिंदी में प्रकाशित होता था। 30 जुलाई, 1829 ई० को राजा राममोहनराय की इससे विरक्ति के कारण यह शीघ्र ही बंद हो गया। यह पुनरुत्थान और सुधारवादी विचारधारा का प्रबल पक्षधर था। देश-विदेश के व्यापार, राजनीति, विद्या-अभ्यास इत्यादि के समाचार इसमें छपते थे। सन् 1845 ई० में पं० जुगलकिशोर शुक्ल ने एक और अख़बार निकाला 'सामदंडमार्तण्ड'। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का भाव प्रवाहित करने वाले इस पत्र की अधिकांश सामग्री स्वयं पंडित जी के द्वारा लिखी जाती थी। सन् 1854 ई० में बाबू श्यामसुंदर सेन का 'समाचार सुधावर्ष 01' कलकत्ता से निकला और सन् 1871 ई० में मुंशी सदानंद सनवाल का 'अल्मोड़ा अख़बार, सन् 1872 ई० में केशवराम भट्ट का 'बिहार बंधु' तथा 17 मई, 1878 ई० दुर्गाप्रसाद मिश्र एवं छोटूलाल मिश्र का 'भारतमित्र' पहली बार छपकर सामने आया। प्रारंभ में यह पाक्षिक था, परंतु दसवें अंक से साप्ताहिक में परिवर्तित हो गया। पं० हरमुकुंद शास्त्री, पं० जगन्नाथ चुतर्वेदी, पं० राधाकृष्ण चुतर्वेदी, बाबू रामदास इत्यादि नामी-गिरामी पत्रकार भी कालांतर में इसके संपादक बने। सन् 1899 ई० में बाबू बालमुकुंद गुप्त इसके संपादक के रूप में खूब प्रसिद्ध हुए। उनके देहावसान के उपरांत पं० अमृतलाल शर्मा, बाबू शिवनारायण सिंह, बाबूराव विष्णुराव पराङ्कर इत्यादि ने भी इसके संपादकीय विभाग के अत्यंत महत्वपूर्ण दायित्वों का निर्वाह किया।

'समाचार सुधावर्षण' को हिंदी का प्रथम दैनिक समाचार-पत्र माना गया है। सन् 1854 ई० में बड़ा बाज़ार कलकत्ता से प्रकाशित इस पत्र के मालिक संभवतः बाबू महेंद्रनाथ सेन थे। इसमें प्रारंभ के दो पृष्ठ हिंदी के होते थे और दो पृष्ठ बंगला के। विभिन्न प्रकार के

विज्ञापनों के साथ-साथ इसमें व्यापारिक, जहाजों तथा देश-विदेश के समाचारों के साथ-साथ कुछ चमत्कारपूर्ण सूचनाएँ भी प्रायः प्रतिदिन छपती थीं। राष्ट्रीय स्वाभिमान के प्रति सदैव सचेत रहने वाले इस समाचार-पत्र की सबसे बड़ी कमजोरी यह मानी गयी कि यह तत्कालीन वैचारिक क्रांति में सहयोग देने में असफल रहा। ईश्वरचंद्र विद्यासागर 'विधवा विवाह' को वैधानिक आश्रय दिलाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहे और अंततः इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई, लेकिन 'समाचार सुधावर्षण' ने इसका विरोध किया। संभवतः सन् 1868 ई० के आस-पास इसका प्रकाशन बंद हो गया था। कलकत्ता से सन् 1879 ई० में पं० सदानंद मिश्र और पं० दुर्गाप्रसाद द्वारा प्रकाशित 'सार सुधानिधि' साप्ताहिक पत्र था। इसकी लोकोपकारक नीति विख्यात थी। लोकजीवन, देश-दशा, राजनीति, समाजनीति, धर्म, साहित्य, स्वास्थ्य इत्यादि के स्तंभों की प्रमुखता के साथ-साथ इसमें देश-विदेश की ख़बरें भी ख़ूब छपती थीं। सन् 1880 ई० में ग्राहक संख्या निरंतर कम होने के कारण इसका अवसान हो गया। इसके संपादक थे पं० सदानंदजी और संयुक्त संपादक थे पं० दुर्गाप्रसाद जी। पं० गोविंदनारायण जी सहायक संपादक का कार्य करते थे। व्यवस्थापक का दायित्व पं० शंभुनाथ जी के पास था। सन् 1880 ई० में सूटा पट्टी, बड़ा बाज़ार, कलकत्ता से पं० दुर्गाप्रसादजी के संपादकत्व में 'उचित वक्ता' का प्रकाशन हुआ। यह अत्यंत लोकप्रिय समाचार-पत्र था। इसका मूल्य मात्र एक पैसा था। इसकी सामग्री अत्यंत रोचक तथा प्रभावपूर्ण थी। इसकी ग्राहक संख्या दो-डेढ़ हजार के आस-पास तक पहुँच गयी थी। इसमें पाठकों तथा देश-हितैषी लेखकों के पत्र भी प्रकाशित होते थे। सन् 1855 ई० में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'प्रजाहितैषी' नामक समाचार-पत्र निकाला। आगरा से प्रकाशित यह पत्र सन् 1857 ई० के स्वातंत्र्य संग्राम के कारण बंद होने के उपरांत सन् 1861 ई० में फिर से प्रकाशित होने में सफल रहा। सन् 1857 में प्रकाशित 'पयामे आज़ादी' उर्दू और हिंदी दोनों में छपता था। इसके संपादक अजीमुल्ला खाँ और परामर्शदाता नाना साहब पेशवा बताए जाते हैं। राष्ट्रीय चेतना तथा ब्रिटिशविरोध की दृष्टि से इस समाचार-पत्र का भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में विशेष महत्त्व है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र निर्भीक लेखक और पत्रकार थे। वे उच्चकोटि के कवि भी थे। सन् 1868 ई० में उन्होंने बनारस से 'कविवचन सुधा' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित कराई। इसमें छपनेवाली सामग्री की रोचकता ने लेखकों और पाठकों का एक विपुल मंडल तैयार किया। 'स्वत्व निज भारत गहे' इसका यह आदर्श वाक्य तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक चेतना का परिचायक है। भारतेंदु जी ने 15 अक्टूबर सन् 1873 ई० को हरिश्चंद्र मैगज़ीन और 1 जनवरी सन् 1874 ई० को प्रयाग से 'हिंदी-प्रदीप' नामक मासिक पत्र का श्रीगणेश किया। हिंदी-पत्रकारिता को दिशा प्रदान करने वाले इस पत्र का शुभारंभ भारतेंदु जी के करकमलों से हुआ। सन् 1885 ई० में कालाकाकर के राजा रामपाल सिंह का 'हिंदोस्थान' इंग्लैंड से भारत आया। यह हिंदी और अँग्रेज़ी भाषाओं में प्रकाशित होता था। महामना मदनमोहन मालवीय जी इसके संपादक थे। राष्ट्रीय भावना के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ सरकारी अफ़सरों के कार्यों की आलोचना भी हमसे जमकर की जाती थी। भाषा, साहित्य और अनुसंधान से संबंधित 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन सन् 1896 ई० में हुआ। यह एक त्रैमासिक पत्रिका थी। सन् 1907 ई० में इसे मासिक के रूप में छापा गया। लेकिन विभिन्न समस्याओं के कारण सन् 1920 ई० में यह

फिर से त्रैमासिक रूप में छापी गयी। बाबू श्यामसुन्दरदास, महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी, राधाकृष्णदास, रामचंद्र शुक्ल, रामचंद्र वर्मा तथा वाणीप्रसाद इत्यादि इसके प्रसिद्ध संपादक थे।

पत्रकारिता संवादसूत्रों से प्राप्त सामग्री जनहित में उपयोग करके सत्य का उद्घाटन करने वाली निर्भीक और प्रभावशाली रचना-प्रक्रिया है, जिससे लोकमत का जागरण तथा अन्यायशील अनौचित्यपूर्ण विचारों का दमन होता है। हमारे देश में इसका सबसे ओजस्वी और सामर्थ्यपूर्ण रूप स्वतंत्रता-प्राप्ति से पहले ही विकसित हो गया था। जो अनुचित है, अन्यायपूर्ण है तथा जो जनता को पराधीन बनाकर अपना शासन जमाये रखना चाहता है, वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, निंदनीय है। अपने क्लम की बारूद से तोपों और तलवारों का मुक्राबला करनेवाला पत्रकार ऐसे लोगों के खिलाफ जेहाद छेड़ना अपना पावन कर्तव्य समझता था। ब्रिटिश शासक के विरुद्ध स्वतंत्रता की लड़ाई में समस्त सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना के उद्बोधन का दायित्व उसने उठाया और अपार सफलता प्राप्त की। ऐसा नहीं है कि इस काम में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। सच्चाई यह है कि जेल, जुर्माना, पिटाई तथा व्यर्थ की धरपकड़ के द्वारा अंग्रेज शासकों ने उन्हें खूब दबाया और सताया, फिर भी राष्ट्रसेवा के दीवाने पत्रकारों ने हिम्मत नहीं हारी। सरकार जितना प्रतिबंधित करती, उससे कहीं ज्यादा छपकर तुरंत वितरित हो जाता। विभिन्न प्रतिबंधों के बावजूद हिंदी-पत्रकारिता का तूफानी पक्षी आसमान में निर्द्वंद्व विचरण करता रहा। विपिनचंद्र पाल, लाला लाजपतराय, अरविंद घोष और बालगंगाधर तिलक ने भारतीय स्वतंत्रता-आंदोलन को एक नई दिशा प्रदान की। उन्होंने 'बड़े तेजस्वी स्वर में घोषणा की थी कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' और पूरे देश में पूर्ण स्वराज्य की भूख उत्पन्न की थी, जिसके चलते अंग्रेजों की सत्ता भी लोगों को असह्य हो गई। वैधानिकता की सवारी पर चलनेवाली राजनीतिक भिक्षावृत्ति का अंत हुआ। पूर्ण स्वराज्य की कामना को मानवीय नैतिकता के आधार पर वैचारिक अवलंब दिया गया।' उनके अनुगामी युवकों ने परवर्ती राजनीतिक परिवेश को नई दिशा देने के लिए पत्रकारिता का सहारा लिया और अपनी लौह लेखनी से समूचे परिवेश को आंदोलित कर दिया। 19 जुलाई, 1905 ई० को लार्ड कर्जन के द्वारा बंग-विभाजन की विस्तृत योजना प्रस्तुत करके कुचलने का प्रयास किया गया। अपमान, प्रवंचना और उपेक्षा के आतंक से उद्देलित जनमानस में इसकी भयंकर प्रतिक्रिया हुई तथा 16 अक्टूबर का विभाजन-दिवस शोक-दिवस में परिणत हो गया। लोगों ने एक-दूसरे के हाथ में राखी बाँधकर पारस्परिक एकता की शपथ ली। तीव्र विरोध का स्वर हड़ताल, अनशन, नारेबाजी, तोड़-फोड़ इत्यादि के रूप में मुखरित हो उठा। इसमें तत्कालीन पत्रकारों ने भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। इस संदर्भ में 'भारतमित्र' की निम्न पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

'किसने बंगभूमि को दो टुकड़े करके दिखलाया,
किसने बेरहमी से भाई-भाई को बिछड़ाया?
बोले कर्जन 'इसका कर्ता हूँ मैं' ही अकेला,
हाथ हैं मेरे लोहे के दिल है पत्थर का ढेला।'
किसने देशी चीजों में फिर संचय प्राण कराया,
किसने सब तूफान बखेड़ों को यहाँ से भगवाया।

किसने सब बाबू लोगों का नेशन एक बनाया।

किया तो है पर इच्छा से नहीं कर्जन ने फरमाया।²

यहाँ यह ध्यान देने-योग्य है कि प्रशासनिक सुविधा के नाम पर बंगाल का विभाजन लार्ड कर्जन की बहुत बड़ी क़ूटनीतिक चाल थी। इसका उद्देश्य साम्राज्यवाद की अभिवृद्धि करके, आम जनता में तीव्र गति से विकसित राष्ट्रीय चेतना को अवरुद्ध करना था। 'इसने व्यापक आंदोलन को जन्म दिया। जनमत बंग-भंग का घोर विरोध कर रहा था, फिर भी इसका कुछ फल न हुआ, उल्टे दमन ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया। विद्यार्थियों के ऊपर यह प्रतिबंध लगाया गया कि वे राजनीति में भाग न लें। इसका फल यह हुआ कि स्कूल और कालेजों का बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा-आंदोलन और भी बढ़ा। स्वदेशी का आंदोलन सारे देश में व्याप्त हो गया और हाथ के कपड़े का उद्योग पुनर्जीवित हो गया।³ सरकार का दमनचक्र निरंतर चलता रहा। सन् 1908 ई० में तिलक को छह वर्ष के लिए 'देश-निकाला' देकर जनता की आवाज़ को दबाया गया। इसी वर्ष राजद्रोही सभाबंदी कानून तथा प्रेस एक्ट ज़बरदस्ती पास किए गए और 1910 ई० में 'क्रिमिनल ला एमेंडमेंट एक्ट' का प्रावधान हुआ। सन् 1911 ई० में इंग्लैंड के सम्राट ने दिल्ली-दरबार में बंग-भंग की घोषणा को निरस्त कर दिया', 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है', लोकमान्य तिलक का यह आदर्श वाक्य कोटि-कोटि कंठों से गूँजकर हिंदी समाचार-पत्रों के प्रथम पृष्ठ की सुर्खियों में छा गया। आजाद भारत के शीघ्रतिशीघ्र दर्शन-हेतु उत्सुक युवापीढ़ी अंग्रेज़ी शासन का अधिक से अधिक विरोध करने में संलग्न हो गई। समूचा राष्ट्रीय आंदोलन धर्मयुद्ध में परिणत हो गया और नवयुवकों की जान पर खेलने की आतुरता ने पत्रकारों में भी एक नई जनचेतना का समावेश कर दिया। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के संपादकत्व में प्रकाशित 'प्रताप' तो वास्तव में आज़ादी के दीवानों का ही प्रताप था। इसके मुखपृष्ठ पर श्री मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती की निम्नलिखित पंक्तियाँ छपती थीं—

'जिनको न निज गौरव तथा, निजदेश का अभिमान है।

वह नर नहीं नर-पशु निरा है, और मृतक समान है।'⁴

प्रसिद्ध क्रांतिकारियों तथा नेताओं से विद्यार्थी जी के घनिष्ठ संबंध थे। उन्होंने जेल भी काटी, लोगों का नेतृत्व भी किया और हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए शहीद हो गए। मुंशीगंज गोलीकांड पर लिखे गए संपादकीय को लेकर उन पर मानहानि का मुकदमा भी चला। कुछ लोगों ने माफ़ी भी माँग ली, लेकिन विद्यार्थी जी नहीं झुके। इस संपादकीय में उन्होंने लिखा है— '...डायर ने जो कुछ किया था, उससे रायबरेली के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने क्या कम किया! निहत्थे और निर्दोषों पर उसने गोलियाँ चलवाई और यही काम यहाँ रायबरेली में भी किया। अंतर भी था और वह यह कि वहाँ मशीनगन थी, यहाँ बंदूकें थीं। वहाँ एक घिरा हुआ बाग़ था, यहाँ नदी का किनारा था। परंतु निर्दयता और पशुता की मात्रा में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। पता नहीं डायर ने जलियाँवाला में, अपने हाथ से गोली चलाई थी अथवा नहीं, परंतु यहाँ डायर का एक भाई मौजूद था। रंग और रूप में नहीं, धर्म और गति में नहीं, परंतु हृदय की क्रूरता में ठीक डायर-सा ही....।'⁵

'प्रताप मानहानि' केस आज़ादी के लिए संघर्षरत पत्रकारिता के इतिहास का अमिट

दस्तावेज़ है। इसमें मालवीय जी, नेहरू जी आदि नेताओं को भी गवाही देने के लिए न्यायालय में प्रस्तुत होना पड़ा था। महात्मा गांधी सत्य और अहिंसा पर आधारितराजनीति के कर्मयोगी थे। सत्याग्रह उनका ऐसा अचूक हथियार था, जिसके माध्यम से उन्होंने अंग्रेज़ शासकों को परास्त करने में सफलता प्राप्त की थी। उन्होंने 'हरिजन' में लिखा कि 'सत्य की तरह अहिंसा भी सर्वशक्तिमान और असीम है और ईश्वर के समानार्थक है।' ⁶ उन्होंने अपने राष्ट्रवाद में भारतीय जन-समाज के प्रत्येक पक्ष को समाहित करके उसे धर्म, नीति, प्रेम, एकता, मैत्री, करुणा तथा न्याय के प्रभामंडल में स्थापित किया। गोरखपुर से प्रकाशित 'स्वदेश' के संपादक थे पं० दशरथप्रसाद द्विवेदी। इनकी प्रेरणा और आदर्श थे श्री गणेशशंकर विद्यार्थी। 'प्रताप' की तरह इसके मुखपृष्ठ पर निम्न पंक्तियाँ प्रकाशित होती थीं—

'जो भरा नहीं भावों से, बहती जिसमें रसधार नहीं।

वह हृदय नहीं है पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।'⁷

इसमें स्वामी श्रद्धानंद के 'वीरोचित बलिदान' की चर्चा करते हुए संपादक ने लिखा है कि '.... स्वामी श्रद्धानंद जी की गणना भी ऐसे ही महापुरुषों में है। वह आए थे इसलिए कि मुरदा हिंदू-जाति में नया जीवन डालें, उसे सात्विक और धार्मिक बनाएँ, सन्मार्ग पर लगाएँ, बेवाओं के आँसू पोंछें। ... वह परिवार धन्य है और वह देश धन्य है, जिसने स्वामी श्रद्धानंद जैसी महान आत्मा को अपने यहाँ अवतरित करके संसार-सागर में ला डटाया और समर-क्षेत्र में युद्ध करते-करते उन्हें वीरगति दिलाई।'⁸

अबिकाप्रसाद वाजपेयी, बाबू बालमुकुंद गुप्त, माधव राव सप्रे, अमृतलाल चक्रवर्ती, बाबूराव विष्णुराव पराड़कर, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, कमलापति त्रिपाठी इत्यादि उस युग के अत्यंत निर्भीक पत्रकार थे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त अनन्य राष्ट्रभक्त थे। उनके द्वारा श्रीकृष्ण जन्माष्टमी संवत् 1977 वि० को 'आज' दैनिक का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। इसमें प्रकाशित संपादकीय का एक अंश देखिए—'... आज विजयादशमी है। पराजित, पीड़ित, निर्बल भारत भी आज विजयादशमी का उत्सव मना रहा है। कैसी विडंबना है। अर्थ का कैसा विपर्यास हो रहा है!... देखो तुम्हारी क्या दुरवस्था हो रही है? तुम्हारे सिर पर पराधीनता की तलवार लटक रही है और तुम सो रहे हो। यह मोह क्यों? यह सुख की नींद नहीं है, यह मायामोह की तंद्रा है, यह मूर्खता की बेहोशी है। पहले अपने को पहचानो। देखो तुम्हारे भीतर कैसी अपराजित माहेश्वरी शक्ति सूक्ष्म रूप से वास कर रही है।'⁹

सन् 1930 ई० में हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में छपनेवाली राष्ट्रप्रेम से संबंधित सामग्री और अग्रलेखों से आतंकित होकर सरकार ने 'प्रेस आर्डिनेंस' लगा दिया। इसके कारण अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन बंद हो गया, फिर भी पत्रकारों ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने गुप्त रूप से, क्रांतिकारी पत्रों का प्रकाशन प्रारंभ कर दिया। इस संदर्भ में वाराणसी की 'रणभेरी' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसे गुप्त रूप से प्रकाशित करने वाले पत्रकार थे—पराड़कर जी, रामचंद्र वर्मा, विश्वनाथ शर्मा, दुर्गाप्रसाद खत्री, दिनेशदत्त झा, उमाशंकर, आचार्य नरेंद्रदेव तथा कालिकाप्रसाद इत्यादि। इन सबके सम्मिलित प्रयास से प्रकाशित 'रणभेरी' फुलस्केप साइज में निकलती थी। इसका मूल्य था, मात्र एक पैसा। संपादक का नाम छपा जाता था सीताराम और प्रकाशक का नाम दिया जाता था पुलिस सुपरिंटेंडेंट, कोतवाली, बनारस। यहाँ

पर सरकार द्वारा ज़ब्त किए 'हिंदू पंच, बलिदान अंक' और 'चाँद फाँसी अंक' की चर्चा करना भी आवश्यक है। 'बलिदान अंक' 1 जनवरी, 1930 ई० को कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसके प्रवर्तक थे बाबू रामलाल वर्मा और संपादक थे बाबू मुकुंदलाल वर्मा। इसके संपादकीय में देशवासियों को प्रोत्साहित करते हुए लिखा गया है—

'... महात्मा गांधी के आदेशानुसार तुम्हें पूर्ण अहिंसात्मक रहते हुए और जल्लादों को आशीष देते हुए निर्भीकतापूर्वक बलिवेदी की ओर बढ़ना होगा। माता वसुंधरा प्यासी है, उसकी प्यास रक्त से बुझानी होगी। राम और कृष्ण की भूमि एक बार फिर स्वतंत्र करनी होगी। विदेशी शासन के सुरक्षित पहरे में आलस्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए हममें जो कायरता आ गयी है, उस कायरता को हम इसी तरह भगा सकते हैं कि कर्तव्य-पालन के लिए कमर कसकर खड़े हो जाएँ।... इस कर्तव्य-पालन के लिए तुम्हें यातनाएँ सहन करते हुए चुपचाप बलि चढ़ जाना होगा और इसका पुरस्कार होगा स्वतंत्रता। याद रहे कि यह दैवी शक्ति की प्रेरणा और इसके यह मतलब हैं कि बलिदानों का ताँता न टूटने पाए।' ¹⁰

'चाँद' के फाँसी अंक के प्रकाशक थे, इलाहाबाद के रामरिख सहगल और संपादक थे, चतुरसेन शास्त्री। इसका प्रकाशन नवंबर 1928 ई० को दीपावली के दिन हुआ था। इसकी 'विनयांजलि' में संपादक ने लिखा है—

'चाँद' की बहिनों, भाइयों और बुजुर्गों के हाथ में—दीपावली के शुभ अवसर पर— 'फाँसी अंक' जैसा हृदय को दहलाने वाला साहित्य सौंपते हमारा हाथ काँपता है। 'फाँसी अंक' को दीवाली की अमावस्या समझिए! देखिए, इसमें बीसवीं शताब्दी के हुतात्मा के दिए कैसे टिमटिमा रहे हैं, और देखिए, स्थान-स्थान पर कैसी ज्वलंत अग्नि धायँ-धायँ जल रही है, और सबके बीच में जाग्रत ज्योति-मृत्यु सुंदरी-कैसा शृंगार किए छमाछम कर नाच रही हैं? ... उदीयमान जातियाँ विशेष अवसरों पर विनोद नहीं करतीं, वेदना-स्थलों की जाँच किया करती हैं! भारत के विनोद और उल्लास के दिन नहीं, भारत के दिन मृत्युवाद के अध्ययन करने के हैं। भारत को निकट भविष्य में उसकी परीक्षा में उत्तीर्ण होना है, और बहिन और भाई को 'मृत्युंजय' की उपाधि प्राप्त करना है।' ¹¹

हमारे देश के स्वाधीनता-आंदोलन में हिंदी-पत्रकारों का अविस्मरणीय योगदान सर्वविदित है। ब्रिटिश शासकों तथा उनके देशी चाटुकारों को प्रकंपित करने वाली इनकी लेखनी सदैव अभिनंदनीय और पूजनीय है। दैनिक 'आज' के प्रथम अंक में दिया गया यह उद्देश्य अब भी प्रासंगिक और अनुकरणीय है—

'हमारा उद्देश्य अपने देश के लिए सब प्रकार से स्वतंत्र्य-उपार्जन है। हम हर बात में स्वतंत्र होना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य यह है कि हम अपने देश का गौरव बढ़ावें, अपने देशवासियों में स्वाभिमान का संचार करें, उनको ऐसा बनाएँ कि भारतीय होने का उन्हें अभिमान हो, संकोच न हो।' ¹²

पराङ्कर जी के संपादकीय लेख तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक जीवन के संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा प्रेरणादायक थे। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है कि पहाड़कर जी निर्भीक पत्रकार थे। भारत के गिनेचुने महान पत्रकारों में उनकी गणना होती है। देशवासी कई प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलनों से

प्रताड़ित थे। मनस्वी और विचारशील बुद्धिजीवियों को भी ब्रिटिशशासन के समक्ष हतबुद्धि होना पड़ता था। ऐसे त्रासपूर्ण वातावरण में पराङ्कर जी दृढ़तापूर्वक अपने लेखों के माध्यम से देशवासियों को उचित मार्ग का समाधान देने के कार्य में तत्पर रहे। दमननीति से जन-जीवन को आक्रांत करनेवाले क्रूर और कठोर प्रशासन की अवहेलना करते हुए आवेश में सन्मार्ग में भटकनेवालों को सदैव सावधान किया। उन्होंने अत्याचार का विरोध किया, अन्याय और दमन का डटकर सामना किया, जो उचित जान पड़ा, उसका संयत भाषा में, सुविचारित युक्तियों द्वारा प्रेरणादायक शैली में समर्थन किया। 'आज' की वह लेखमाला अद्भुत प्रेरणादायिनी थी। मैं उन दिनों युवक था और संस्कृत का पुराने ढंग का विद्यार्थी था। मुझे अच्छी तरह याद है कि उन लेखों की युक्तियों से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उन दिनों 'आज' के संपादकीय लेख मुझे बहुत प्रेरणा देते थे। मेरे जैसे सैकड़ों युवक होंगे जो उनसे प्रेरणा पा रहे थे। ऐसे कई संपादकीय लेख मेरी दृष्टि में सार्वकालिक महत्त्व की सामग्री हैं।¹³

सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय उथल-पुथल मचाकर सरकार को विचलित करने वाले भूमिगत पत्रों में प्रमुख थे— रणभेरी, शंखनाद, चिंगारी, रणडंका तथा तूफान इत्यादि। ये प्रायः साइक्लोस्टाइल ही छपते थे। सन् 1930 ई० में मुंशी प्रेमचंद जी ने 'हंस' का प्रकाशन कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के संपादकीय सहयोग से किया। यह मासिक पत्र था। इसमें जुलाई, 1933 ई० के अंक में श्री शिवनारायण टंडन द्वारा रचित 'क्रांतिकारी माँ की कहानी' के प्रकाशित होने के कारण ज़िलाधीश बनारस के द्वारा प्रेमचंद जी को चेतावनी पत्र दिया गया और एक हज़ार रुपए की जमानत देने को कहा गया। श्री पराङ्कर जी के अनुसार 'प्रेमचंद ने हिंदी साहित्य को जनता का साहित्य बना दिया। उसके निर्मल जीवन में जनवर्ग के प्रतिबिंब दिखाई देने लगे हैं। प्रेमचंद के पात्र जनवर्ग के प्रतिबिंब हैं। प्रेमचंद के विचार वर्गों को उठाने और मिलाने के भगीरथ प्रयत्न के घोटक हैं। स्वयं प्रेमचंद जनता के प्रतीक हैं, पर उनका यह उज्ज्वल प्रतीत तब तक रहेगा, जब तक हिंदी रहेगी और उसके बोलने वाले रहेंगे।'¹⁴

'सरस्वती' का प्रकाशन सन् 1900 ई० में हुआ। इंडियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित इस सचित्र मासिक पत्रिका का संपादन काशी में होता था। इसके प्रारंभिक संपादक-मंडल में थे— बाबू राधाकृष्णदास, बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, पंडित किशोरीदास गोस्वामी तथा बाबू श्यामसुंदरदास इसका उद्देश्य था हिंदी-रसिकों का मनोरंजन, सरस्वती के भंडार की अंगपुष्टि और सुलेखों को प्रोत्साहन प्रदान करना। सन् 1903 से 1920 ई० तक महावीरप्रसाद द्विवेदी जी इसके संपादक रहे। उनके उपरांत पं० पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदत्त शुक्ल, उमेशचंद्र मिश्र, देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' तथा श्रीनारायण चतुर्वेदी इत्यादि ने 'सरस्वती' के संपादक के रूप में हिंदी-पत्रकारिता जगत को गौरव-गरिमा प्रदान की। द्विवेदी का अभिमत था कि भाषा की शुद्धता का पूरा ध्यान रखा जाए तथा गद्य एवं पद्य की भाषा एक होनी चाहिए। वे सदैव पाठकों की रुचि का रखते थे और स्वयं संशोधन करके पत्रिका में छपनेवाले लेखों इत्यादि की भाषा को अधिसंख्यक पाठकों की समझ में आने योग्य बनाने का प्रयत्न करते थे। वैसे उन्होंने किसी पर अपनी विद्वत्ता तथा सहमति थोपने का झूठा प्रयास नहीं किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में 'हम पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी को पद्य-रचना की एक प्रणाली के प्रवर्तक के रूप में पाते हैं।... खड़ीबोली के पदविधान पर भी

आपका पूरा-पूरा असर पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि उनके कारण भाषा में बहुतकुछ सफ़ाई आई। बहुत से कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित होती थी और बहुत से लोग ब्रज और अवधी आदि का मेल भी कर देते थे। 'सरस्वती' के संपादनकाल में उनकी प्रेरणा से बहुत से नए लोग खड़ीबोली में कविता करने लगे। उनकी भेजी हुई कविताओं की भाषा दुरुस्त करके वे 'सरस्वती' में दे दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से धीरे-धीरे बहुत से कवियों की भाषा साफ़ हो गई। उन्हीं के नमूनों पर और लोगों ने भी अपना सुधार किया।¹⁵

हास्यरस के अत्यंत प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'मतवाला' का प्रकाशन कलकत्ता से 26 अगस्त, 1923 ई० को हुआ। इसके संपादक थे श्री महावीरप्रसाद सेठ। संपादन से जुड़े अन्य प्रमुख व्यक्ति थे—सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव और पांडेय वेचन शर्मा उग्र। इसमें व्यंग्य-चित्र छापने का दायित्व बाबू रामेश्वरप्रसाद वर्मा तथा मोहनलाल महतो 'वियोगी' के पास था। इसके व्यापक स्वरूप का परिचायक थीं, निम्नलिखित पंक्तियाँ, जो कि प्रत्येक अंक के मुखपृष्ठ पर छपती थीं—

'अमिय गरल, शशि सीकर, रविकर राग-विराग भरा प्याला।

पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह मतवाला।'¹⁶

यह हास्य-व्यंग्य, विनोद-प्रधान साप्ताहिक अपने ढंग का निराला ही था। विभिन्न प्रकार की कठोर और अन्यायपूर्ण बातों को हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रस्तुत करने की सुविधा इसे अनायास ही उपलब्ध थी। 'इसकी टिप्पणियाँ हास्य के आवरण में अनौचित्य पर कड़ी चोट करती थीं। इस पत्र की प्रकृति पूर्ण स्वच्छंद और स्वतंत्र थी। यह पत्र यथार्थ जीवन का आग्रही था और उस गोरखधंधे का खुल्लमखुल्ला विरोध करता था जो देश में व्याधि के रूप में व्याप्त था। युगचेतना के प्रति वह सदैव सचेत रहता था। मतवाला की साहित्यिक दृष्टि प्रगतिशील थी। यह कुसंस्कार, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर बड़ा ही तेज़ व्यंग्य करता था। हिंदुत्व का हिमायती होते हुए भी उसकी नीति सांप्रदायिक नहीं थी। इस प्रकार 'मतवाला' के प्रकाशन के साथ हिंदी-पत्रकारिता में एक नया प्रयोग हुआ। एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई और एक साहित्यिक क्रांति का आविर्भाव हुआ।¹⁷

इसमें निराला जी 'गरगजसिंह वर्मा' के नाम से भी लिखते थे। मुखपृष्ठ पर बने नटराज के चित्र के अनुरूप दूसरे पृष्ठ पर 'आत्मपरिचय' में छपा हुआ निम्नलिखित कवित्त देखिए—

'सीस जटा गंगवारे, भूख न भुजंगवारे।
गौरी अरधंगवारे चंद दुतिवारे हैं।
खंभ तुरंगवारे मरदन अनंगवारे
अड़वंग ढंगवारे मुंडमाल धारे हैं।
महा 'मतवारे' त्यों दाता हैं उमंगवारे
भूतन के संगवारे नैन रतनारे हैं।
तान के तरंगवारे डमरू उपंगवारे
भंग रंगवारे सो हमारे रखवारे हैं।'¹⁸

धर्म, भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य के व्यापक रूप को सदाचरण के अनुशासन से युक्त समन्वित स्थिति में विभिन्न प्रकार से लोककल्याण हेतु प्रसारित करनेवाले मासिक पत्र का नाम कल्याण है। इसका प्रकाशन सं० 1983 वि० संभवतः 1 अगस्त, 1926 ई० को सत्संग भवन बंबई से हुआ। इसके मुद्रक थे पं० शिवरतनलाल मन बाजपेई और संपादक तथा प्रकाशक थे हनुमानप्रसाद पोद्दार। मुद्रणस्थल था, श्री बंकटेश्वर स्टीम प्रेस, 3848, खेतबाड़ी, 7 खंबाता लेन, बंबई। दूसरे वर्ष इसका प्रकाशनस्थल 'गीता प्रेस गोरखपुर' हो गया। श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार संपादक बने रहे और श्री घनश्याम मुद्रक और प्रकाशक बन गए। श्री हनुमानप्रसाद जी महात्मा गांधी के सच्चे अनुयायी थे। बाहरी विज्ञापन और पुस्तकों की समालोचना इसमें वर्जित थे। इसमें वेद, उपनिषद् रामायण, महाभारत, गीता, भारतीय धर्म एवं संस्कृति, योग, वेदांत, ज्योतिष, भक्ति, मुक्ति, परलोक, भजन-कीर्तन, मानवप्रेम, मानवतावाद तथा भगवद्प्रेम, देवी-देवता, महापुरुष इत्यादि से संबंधित सामग्री यथेष्ट मात्रा में छपती रही है। 'कल्याण' की आवश्यकता के संदर्भ में संपादक ने प्रथम अंक में जो निवेदन किया, उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

'.... कल्याण के स्वामी की पवित्र प्रेरणा से और कुछ कल्याणमय तथा कल्याणकामी महानुभावों की अनुमति से इस कल्याण का जन्म हुआ।.... संपादक का विचार है कि इस कल्याण के द्वारा यथासंभव उन प्रातःस्मरणीय ऋषि-मुनियों और महापुरुषों की दिव्यवाणी का ही प्रचार किया जाए, जो अपने अलौकिक तेज से पथभ्रष्ट पथिकों को कल्याण के सुंदर मार्ग पर लाने में समर्थ हैं। स्वलिखित लेखों में भी यथासाध्य महापुरुषों के वचनों को ही आधार बनाने का विचार है। मनुष्य के विचारों का कार्य में परिणत होना प्रेरक प्रभु के अधीन है, उस मंगलमय की इच्छा से जो कुछ हो रहा है सो सभी कल्याण है, उसका कोई भी कार्य कल्याण से रहित नहीं होता।'¹⁹

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सीमित साधन और उन्नत आदर्शों से परिपूर्ण होकर देश एवं समाज को सही दिशा प्रदान करने के उद्देश्य के प्रति समर्पित स्वतंत्रता से पूर्व की हिंदी पत्रिका स्वतंत्र भारत की अमूल्य निधि है। इसमें भारतीय बुद्धिजीवियों की संघर्षशीलता और पराक्रमपूर्ण लेखनी की विजयगाथा के शाश्वत प्रमाण विभिन्न प्रकार से समाहित हैं। निराला जी के शब्दों में—

तिरती है समीर सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया—
जग के दग्ध हृदय पर,
निर्दय विप्लव की प्लावित माया—
यह तेरी रणतरी, भरी आकांक्षाओं से,
घनभेरी गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के,
आशाओं से नवजीवन की ऊँचा कर सिर
ताँक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल फिर फिर।²⁰

संदर्भ

1. डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र, हिंदीपत्रकारिता, पृ०, 282, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय

संस्करण, 1985 ई०

2. भारत मित्र, 18 अगस्त, 1906 ई० संपादक, पं० छोटूलाल मिश्र, कलकत्ता
3. डॉ० सुधाकर शंकर कलवडे, आधुनिक हिंदी कविता में राष्ट्रीय-भावना, पृ०, 97, पुस्तक संस्थान, कानपुर, फरवरी, 1973 ई०
4. संपादक, ठाकुरप्रसाद सिंह, उत्तर प्रदेश, मासिक 15 अगस्त, 1972 ई० पृ० 27, पर दिए गए, मुखपृष्ठ से उद्धृत, सूचना एवं जनसंपर्क विभाग उत्तर-प्रदेश, लखनऊ
5. वही, पृ०, 27
6. गांधीजी, हरिजन, 14 मार्च, 1939 ई०
7. स्वदेश, साप्ताहिक पत्र, चैत्र शुक्ल, 7, सम्वत्, 1976 वि० गोरखपुर
8. वही, 2 जनवरी, 1927 ई०
9. आज, 22 अक्टूबर, सन् 1920 ई० प्रकाशक शिवप्रसाद गुप्त, वाराणसी
10. हिंदू पंच, बलिदान अंक, 1, जनवरी, 1930 ई० प्रवर्तक बाबू रामलाल वर्मा, कलकत्ता
11. चौद, फौसी अंक, नवंबर, 1928 ई०, दीपावली, वर्ष, 7, खंड, 1, संपादक, चतुरसेन शास्त्री, इलाहाबाद
12. आज, 5 सितंबर, 1020 ई० प्रकाशक शिवप्रसाद गुप्त, संपादक बाबूराम विष्णु पराङ्कर, वाराणसी
13. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, ज्वलंत ज्योतिष्क, उत्तर-प्रदेश, मासिक, पृ० 8, जून, 1979 ई० संपादक, ठाकुरप्रसाद सिंह, सूचना एवं जनसंपर्क विभाग उत्तर-प्रदेश, लखनऊ
14. बाबूराव विष्णु पराङ्कर, हंस, प्रेमचंद स्मृति अंक, 1937 ई० बनारस
15. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 414, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, बीसवाँ संस्करण
16. मतवाला साप्ताहिक पत्र, संपादक, महादेवप्रसाद सेठ, मुखपृष्ठ, श्रावण की पूर्णिमा, 1980 वि० रविवार, संख्या, 1, कलकत्ता, 26 अगस्त, 1923 ई०
17. डॉ० श्रीमती सुशीला जोशी, हिंदीपत्रकारिता: विकास और विविध आयाम, पृ०, 31-32, राजस्थान हिंदी ग्रंथ आकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण
18. मतवाला साप्ताहिक पत्र, संपादक, महादेवप्रसाद सेठ, दूसरा पृष्ठ, श्रावणी पूर्णिमा, 1980 वि० रविवार, संख्या, 1, कलकत्ता, 26 अगस्त, 1923 ई०
19. कल्याण हनुमानप्रसाद पोद्दार, भाग, 1, संख्या, 1, श्रावण सं० 1983 वि०, 1 अगस्त, 1926 ई०, बेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई
20. सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, मतवाला, अंक, 50, बादलराग, राग-विराग, पृ०, 55, सं० रामविलास शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, 1980 ई०

□ 6/7, खन्ना भवन,
सुभाषनगर, बरेली (उ०प्र०)

बदलते सामाजिक मूल्य और साहित्य की प्रासंगिकता

डॉ० विश्वंभर पांडेय

प्रवक्ता हिन्दी,

सनातन धर्म स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

समाज की संरचना एक जटिल एवं गतिशील प्रक्रिया है। इसकी जटिलता का कारण यह है कि इसमें अनेक प्रकार की आध्यात्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गतिविधियाँ सहयोग देती रहती हैं। इसकी गतिशीलता का कारण यह है कि समय के साथ-साथ इसमें परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन प्रगति का सूचक है और इस प्रगति में बार-बार कुछ-न-कुछ छूट जाता है तथा उसका स्थान नवीन आकार ग्रहण कर लेता है। वह नवीन कुछ भी हो सकता है। ऐसे गतिशील समाज के कुछ शाश्वत मूल्य होते हैं। ये शाश्वत मूल्य समय-सापेक्ष अपना स्वरूप परिवर्तन करते रहते हैं। लेकिन कुछ तात्कालिक जीवन-मूल्य (सामाजिक मूल्य) जो समय से तालमेल नहीं बिठा पाते, वे पुराने पड़ जाते हैं और छूट जाते हैं, या यों कहें कि छोड़ दिए जाते हैं। बदलते समय के साथ-साथ समाज के कुछ मूल्य भी परिवर्तित होते रहते हैं; बदलते रहते हैं। बदलते हुए मान-मूल्यों के लिए नए-नए शब्द ढूँढ़े जाते रहे हैं पर हर बार कुछ समयांतराल के बाद वह नामकरण झूठे पड़ जाते हैं। नए ढूँढ़े गए शब्द ओछे पड़ जाते हैं। कारण है सामाजिक परिवेश में हो रहा द्रुतगामी परिवर्तन।

मूल्य एक धारणा है 'वह (मूल्य) वस्तु आश्रित न होकर मानवीय इच्छा, आकांक्षा एवं परितोष पर आश्रित होता है। (We must look for value not in the things themselves but in the desires and satisfactions, which they promote)¹ जब हम किसी वस्तु को मूल्यमय मानते हैं तो हम उसके मूल्ययुक्त होने की बात स्वीकार करते हैं। वैसे 'किसी वस्तु में मूल्यवत्ता का आरोप करने के दो अभिप्राय हो सकते हैं, एक यह कि उसमें स्वतः सिद्ध मूल्य (वैल्यू) है और दूसरा वह किन्ही निर्धारित मूल्यों की अभिवृद्धि में सहायक है। तीसरा यह भी हो सकता है कि उसमें अस्फुट मूल्य निहित है जो परिस्थिति-विशेष में स्फुट होगा।²

मूल्य वैयक्तिक होते हैं। वैयक्तिक अनुभूति के आधार पर निर्धारित प्रत्येक मूल्य-बोध इतर अनुभूति से संशोधित एवं संबंधित होता रहता है। जब यही वैयक्तिक मूल्य मानव-मन में प्रसाद, प्रेरणा, सार्थकता, आपूर्ति तथा परितोष में सहायक होते हैं तो सामाजिक मूल्य बन जाते हैं। वैसे कोई भी समाज मूल्यों के अभाव में अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। वास्तविक तो यह है कि मूल्य ही सामाजिक जीवन का निर्धारण एवं संचालन करते हैं। मूल्य ही व्यक्ति के चिंतन को प्रभावित और निर्देशित करते हैं। जीवन में मूल्यों की प्रतिष्ठा का अर्थ मानवता एवं मानवीयता की प्रतिष्ठा है। कहने को तो यहाँ तक कहा जाता है कि अमुक समाज में कुछ मूल्य ही नहीं हैं, या यह मूल्यहीन समाज है, जबकि ऐसा संभव नहीं

है क्योंकि अत्यंत पिछड़े-से-पिछड़े समाजों के अपने मूल्य होते हैं। हाँ यह अलग बात है कि वह मूल्य सभी के लिए नहीं होते या उन मूल्यों को विशेष कालखंड में ही समझा या लागू किया जा सकता है। इसीलिए मूल्यों के समाज-सापेक्ष होने की बात की जाती है। जब-जब समाज में परिवर्तन आता है, तब-तब उस परिवर्तन के अनुरूप मूल्य भी बदलते रहते हैं। कभी सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् अथवा equality, liberty, fraternity आदि मूल्यों का जोर था जिसने, नारे का रूप धारण कर लिया। उनका इतना प्रचार हुआ कि उनके पीछे निहित गंभीर अर्थ विलुप्त-सा हो गया। नए विचारों के साथ स्वातंत्र्य तथा मानव-स्वाभिमान जैसे मूल्यों का उदय हुआ, जिनमें नए सिरे से मानवीयता को स्वीकृति प्राप्त हुई।

प्रत्येक सजग साहित्यकार इन सामाजिक मूल्यों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उनमें संशोधन करते हुए उन्हें समाज-सापेक्ष बनाने का प्रयत्न करता है। मानव मूल्यों का सृजक रहा है और है भी। मूल्यों (आदर्शों) के नाम पर ही उसने बड़े-से-बड़ा और जघन्य-से-जघन्य अत्याचार मानवता पर किया है। इसके नाम पर उसने कितनों को सूली पर चढ़ा दिया, कितनों को जिंदा जला या दफना दिया, कितनों को भूखे-प्यासे रखकर पशुओं का ग्रास बना दिया। मूल्यों के नाम पर ही कितने युद्ध लड़े गए, कितने धर्मस्थलों को मटियामेट किया गया। यहाँ तक कि कितनी जातियों का अस्तित्व ही मिटाने का प्रयास किया गया। इतना होने के बावजूद मानव की मूल्यों को सृजित करने की प्रतिभा बनी रही और विकसित होती रही।

धर्म कभी सभी सामाजिक क्रियाकलापों को नियंत्रित करनेवाला प्रमुख कारक था, किंतु समय कि शिला पर उसका भी प्रभाव कम होता गया। मध्यकाल तक भारतीय मनीषियों द्वारा ज्ञान, भक्ति और कर्म को सामाजिक मूल्यों के रूप में निर्धारित एवं समर्थित किया गया। समय के साथ इन मूल्यों में परिवर्तन हुआ और इन मूल्यों के प्रमुख कारकों— प्रेम, श्रद्धा और विश्वास को मूल्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उपनिषद काल के पहले इन मूल्यों के साथ मनुष्य जुड़ा हुआ था, पर इस काल में मनुष्य अनुपस्थित हो गया। समय और सामाजिक परिवेश के दबाव-स्वरूप महाभारत एवं रामायणकालीन मूल्यों में परिवर्तन लक्षित किया जाने लगा। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को मूल्यों की श्रेणी में रखा जाने लगा जहाँ मनुष्य की उपस्थिति फिर दिखाई देती है। रामायणकाल के बाद मूल्यों में फिर परिवर्तन या बदलाव महसूस किया गया। आचार्यों ने मूल्य-संबंधी अवधारणा को एक सांस्कृतिक क्रांति के रूप में देखा और उसके तहत सत्यम्, शिवम्, सुंदरम् को मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित किया। वेदांती लोग इसका केंद्र ईश्वर को मानते थे तो कुछ मध्यकालीन आचार्यों ने इसका विरोध करते हुए इसे सामाजिक आधार प्रदान किया और इसके केंद्र में मनुष्य की प्रतिष्ठित किया। चार्वाक और लोकायत दर्शन ने इन आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति विद्रोह किया और इनके स्थान पर भौतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की। यहाँ भी मनुष्य ही इसका केंद्र-बिंदु था, किंतु अर्थ महत्वपूर्ण भूमिका में आ गया। धन ही सभी सुखों का साधन बन गया। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के निर्धारण में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही।

परिवर्तन पहले भी होता रहा है, आज भी हो रहा है। मूल्य पहले भी विखंडित होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं, किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जो अप्रत्याशित परिवर्तन हुआ, वह आश्चर्यजनक था। स्थितियाँ इतनी जल्दी बदल जाएँगी, यह किसी ने सोचा भी नहीं था,

रही-सही कसर वैश्वीकरण और सूचना-क्रांति ने पूरी कर दी। 'आज हम धर्म और नीति जैसे महत्त्वपूर्ण परंपरागत जीवनमूल्यों को अस्वीकृत कर चुके हैं और जीवन को उसके सहज, भावनात्मक एवं रसग्राही रूप में ग्रहण ही नहीं करना चाहते। शास्त्री और वैज्ञानिक बनने के लोभ हो छोड़ना हमारी शक्ति के बाहर की चीज है। काव्य और साहित्य से तादात्म्य को हमने महत्त्व देना छोड़ दिया है... हम सहृदय पाठक को अखंडित इकाई नहीं मानते। हमने उसके खंड-खंड कर दिए हैं। धर्म, नीति, शास्त्र और सौंदर्यबोध को हमने अलग-अलग खानों में डाल दिया है। काव्य और कला शाश्वत जीवन धर्म के वाहक न होकर क्षणिक उत्तेजना में सिमट आए हैं और उसमें विशुद्ध सौंदर्य के आयाम खोजे जाने लगे हैं।'¹³

जब कालिदास लिखते हैं- 'रघु ने अज को पृथ्वी ऐसे सौंप दी, जैसे वही दूसरी इंदुमति हों (रघुवंश, सर्ग 8)। सीता को वनवास देने के बाद राम ने पृथ्वी का ही भोग किया (रघुवंश, सर्ग 15)। दुष्यंत प्रतिज्ञा करते हैं कि अनेक रानियों के रहते हुए उनके यहाँ दो की ही प्रतिष्ठा होगी- एक तो पृथ्वी की, दूसरी शकुंतला की। प्राचीन कवियों ने पृथ्वी को माता और अपने को उसका पुत्र कहा था। अब वह भोग की वस्तु बन गई है। कवि राजाओं के चाटुकार बन गए हैं। सरस्वती यह देखकर सिर धुनने और पछताने के बदले चारणों के कंठ में बैठकर रघु की स्तुति करती हैं (रघुवंश, सर्ग 4)।'¹⁴-तब यहाँ भी बदले हुए मूल्यों की तरफ इशारा करते हैं। मूल्यों में बदलाव हम तभी महसूस करते हैं जब हमने पूर्वनिर्धारित कुछ मूल्यों का स्थाई और प्रतिमान मान लिया हो। प्रासंगिकता के संबंध में भी कुछ ऐसा ही कहा जाता है जैसे अज्ञेय कहते हैं 'प्रासंगिकता किसी चीज के साथ होती है : शून्य में नहीं होती। जब आप प्रासंगिकता की बात उठाते हैं, तब आपने कुछ पहले से मान लिया होता है, जिसकी अपेक्षा में वह प्रश्न अर्थ रखता है।'¹⁵

यह पहले से माना हुआ मूल्य ही है। वह सामाजिक मूल्य हो सकता है या साहित्यिक मूल्य हो सकता है। यही मूल्य जब विशृंखलित, स्खलित होते हैं, तब नवीन मूल्यों का सृजन होता है और नवीन तो नवीन है ही, बिना परीक्षण के प्रयोग में, व्यवहार में कैसे लाया जाए, ऐसे में उसकी प्रासंगिकता की बात सामने आ जाती है। वैसे प्रासंगिकता शब्द में वर्तमान (समय) की गंध आती है। इसे और आगे बढ़ करके हम कह सकते हैं कि किसी कलाकृति (जिसमें साहित्य भी सम्मिलित है) की प्रासंगिकता इसमें सन्निहित है कि वह विस्तृत कालखंड को चीरते हुए वर्तमान को कितना आलोकित कर पाती है।

बीसवीं सदी के महान दार्शनिक मार्क्स की अवधारणा का यदि उसकी पूर्णता में परिपालन किया जाए तो साहित्य की प्रासंगिकता अपने-आप समाप्त हो जाती है, किंतु क्या ऐसा संभव है? कदापि नहीं। क्योंकि 'साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है।'¹⁶ इस प्रकार यह कहना कि साहित्य अप्रासंगिक हो चुका है या उसकी प्रासंगिकता पर प्रश्नचिह्न लगाना एक असंगत एवं असत्य बात होगी, क्योंकि साहित्य परिवर्तनशील वस्तु-व्यापार में केंद्रित विचारधारा-मात्र नहीं है, वह जीवन के मार्मिक एवं स्थायी मूल्यों का जीता-जागता चित्र है।

यह तो प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि समय के प्रवाह के साथ-साथ साहित्य संबंधी मान्यताएँ, अभिरुचियाँ और शैलियाँ बदलती जाती हैं। किसी युग-विशेष में बहुत ही

प्रचलित एवं लोकप्रिय साहित्य-रूप कालांतर में परित्यक्त, यहाँ तक की कभी-कभी तिरस्कृत होने लगता है और उसका स्थान सर्वथा नए साहित्य-रूप, नई अभिव्यक्तियाँ तथा नवीन शैलियाँ ले लेती हैं। प्राचीन और मध्यकालीन काव्य में प्रचलित मानदंडों एवं काव्यरूपों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। वास्तव में प्रत्येक युग अपनी बदली हुई सामाजिक परिस्थितियों में नवीन साहित्य-रूप, नए भाव-बोध तथा उसे अभिव्यक्ति देनेवाली नवीन शैलियाँ लाता है, क्योंकि उसे जीवन की समस्त सर्जनात्मक गतिविधियों के लिए नए मानदंड जो निर्धारित करने होते हैं। बदलते जीवनमूल्यों को साहित्य किस प्रकार अभिव्यक्ति देता है, इसका उदाहरण रामायण और महाभारत को उपजीव्य बनाकर लिखा गया साहित्य है। वाल्मीकि, तुलसी, कबीर, मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, निराला, नरेश मेहता और भगवानसिंह आदि ने किस प्रकार राम के चरित्र के माध्यम से अपने सामयिक और सामाजिक मूल्यों को व्यक्त किया है, यह उपर्युक्त बातों के प्रमाण में प्रस्तुत की जा सकती है। 'द्विवेदीयुग में महाभारत के इतिवृत्तात्मक रूप को, उसके गौरव को महत्त्व दिया गया, छायावादी और परवर्तीकाल में कर्ण के व्यक्तित्व ने हमारा ध्यान आकर्षित किया, और आज अश्वत्थामा, दुर्योधन आदि पात्रों पर हमारा ध्यान केंद्रित हो रहा है। यदि 'रश्मि' का कर्ण एक युग के भाव-सत्य को अंतर्निहित करता था, तो टूटा हुआ पहिया हाथ में लेकर महारथियों से जूझने वाला अभिमन्यु अथवा अंतर्दाह से अभिभूत अश्वत्थामा ही हमारे युग को वाणी देता जान पड़ता है।'⁷

किसी समय में देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की धूम थी फिर प्रेमचंद जैसे रचनाकार का सीधे और सपाट जीवन से परिपूर्ण मार्मिक साहित्य आता है। तत्पश्चात 'नदी के द्वीप', 'गुनाहों का देवता', 'बूंद और समुद्र' जैसी रचनाएँ आती हैं। इन उपन्यासों में व्यक्त विषयवस्तु और उन्हें वर्णित करने वाली शैली को रखकर 'बदलते सामाजिक मूल्यों और साहित्य की प्रासंगिकता' को भलीभाँति समझा जा सकता है। देवकीनंदन खत्री, प्रेमचंद, अज्ञेय, धर्मवीर भारती और नागर जी की सामाजिक परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं जिसका प्रतिफल उनका साहित्य रहा है। धर्मवीर भारती अपनी प्रेरणा की चर्चा करते हुए लिखते हैं— 'मेरी परिस्थितियाँ, मेरे जीवन में आने और आकर चले जानेवाले लोग, मेरा समाज, मेरा वर्ग, मेरा संघर्ष, मेरी समकालीन राजनीति और सामाजिक, साहित्यिक प्रवृत्तियाँ इन सभी का मेरे और कविता के रूप-गठन में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भाग रहा है।'⁸ इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य मूल्यों का सृजन भी करता है और उनसे प्रभावित होता है।

प्रेमचंद के यहाँ सामाजिक संबंधों में उतना परिवर्तन नहीं आया था, जितना जैनेंद्र या अज्ञेय के समय में आ गया या उनसे भी आगे कहीं तो राजेंद्र यादव, कमलेश्वर या उषा प्रियंवदा के समय में आ गया है। प्रेमचंद के यहाँ पत्नी का वैसा चित्रण नहीं है जैसा अज्ञेय के 'राज' या राजेंद्र यादव के 'जो लिखा नहीं जाता' कहानी में मिलता है, वहाँ पत्नी की भागीदारी महसूस होती है, यहाँ वह केवल उपकरणमात्र है। प्रेमचंद के 'बड़े भाई' जैसा कोई चरित्र आज की कहानी में नहीं मिलता। आज के परिवेश में पिता का स्थान क्या है, इसे बड़े ही मार्मिक रूप में उषा प्रियंवदा ने 'वापसी' कहानी में चित्रित किया है। वह मात्र पैसा उगाहने का साधन है। घर में उसकी हैसियत बस इतनी ही है। निश्चय ही यह सब साहित्यिक चित्रण

बदलते जीवनमूल्यों की तरफ इशारा करते हैं। सामाजिक संघटना के साथ लेखकों की वर्णन-पद्धति भी बदल गई है। नारी-देह का जैसा उत्सवीकरण आज किया जा रहा है, वैसा पहले कभी देखने में नहीं आया है। सुरेंद्र वर्मा का उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' में वर्षा वशिष्ठ के शीलभंग को कितना महिमामंडित किया गया है, इसे सभी पाठक जानते हैं। कमलेश्वर के शब्दों में— 'आधुनिक नारी अब पूरी गरिमा, देहसंपदा और वास्तविक सम्मान के साथ आई है। सेक्स अब पाप-बोध देने वाली क्रिया नहीं, एक वास्तविक और अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकृत और समादृत है। वह लेखक की कुंठा का चटखारा नहीं, पात्रों की भौतिक और दैहिक अनिवार्यताओं की सहज माँग है।'⁹ नारी-देह के उत्सवीकरण में हमारी लेखिकाएँ भी पीछे नहीं हैं। यह सब इस बात का प्रमाण है कि बदलते समय के अनुसार मूल्य बदल रहे हैं, और उन बदलते मूल्यों की अनुगूँज साहित्य में बराबर सुनाई दे रही है।

दलित-लेखन और महिला-लेखन के रूप में हमने नवीन साहित्यिक एवं जीवनमूल्यों को प्राप्त किया है। हाँ यह अवश्य है कि यह लेखन बहुत कुछ प्रतिक्रिया का साहित्य होकर ही उभरा है। प्रतिक्रिया का साहित्य कभी भी सामाजिक सामंजस्य लाने में सहायक नहीं हो सकता। सामाजिक सामंजस्य तो संतुलित जीवन-दृष्टि ही ला सकती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार साहित्य का लक्ष्य सौंदर्य होता है और जहाँ सामाजिक समता होगी, वहाँ सुंदरता अवश्य होगी—

'सुंदरता सामंजस्य का नाम है। जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और गरीब में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश-पाताल का अंतर हो, वह दुनिया सामंजस्यमय नहीं कही जा सकती।... साहित्य सुंदर का उपासक है, इसलिए साहित्य को असामंजस्य दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा।'¹⁰ निश्चय ही दलित-लेखन और महिला-लेखन सामंजस्य लाने का प्रयत्न कर रहे हैं, किंतु उन्हें ध्यान रखना होगा कि उनका साहित्य-साहित्य के बुनियादी सरोकारों से दूर न जाए, क्योंकि—'साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मजेदार, चटपटी और ओजपूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का अंग है, पर स्थायी साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्वलताएँ दिखाता है। मकान गिरानेवाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है।'¹¹

आज अतिथार्थवाद, उत्तर-आधुनिकता और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया ने सामाजिक जीवन को चारों तरफ से प्रभावित करना शुरू कर दिया है। जितनी विद्रूपता, ऊलजलूलता, अजनबियत आज हमें महसूस हो रही है, वह सब आज के इसी इलैक्ट्रॉनिक युग की देन है। इतना होने के बावजूद आज साहित्य में गतिरोध नहीं दिखाई देता, वह नित नए विकास का आयाम प्राप्त कर रहा है, क्योंकि हमारा समाज इतना अस्वस्थ नहीं है कि उसकी रक्षा न की जा सके, कठिनाई इतनी ही है कि वह विभक्त निष्ठाओं और परस्पर प्रतिकूल प्रेरणाओं से पीड़ित है। आधुनिक आलोचना-जगत में वर्तमान समय की विभक्त निष्ठाओं, प्रतिकूल प्रेरणाओं, विडंबना और विसंगतियों के फलस्वरूप प्रासंगिकता शब्द का प्रयोग अधिकाधिक किया जा रहा है। साहित्य में अर्थवत्ता की माँग की जाने लगी है। इस अर्थवत्ता को प्रासंगिकता,

औचित्य, उपयोगिता आदि विभिन्न नाम दिए जा रहे हैं।

बदलते समय में बार-बार यह प्रश्न दुहराया जाता रहा है कि साहित्य का स्थान कहाँ है? उसका प्रयोजन क्या है? उसकी प्रासंगिकता क्या है? निश्चय ही यह जिज्ञासा अनुत्तरित कर देनेवाली है, क्योंकि अन्य सामाजिक सत्ताओं की तरह वह (साहित्य) कोई प्रयोजन पूरा नहीं करता। मनुष्य का कोई ऐसा पक्ष नहीं है, जो उसके बिना सूखा या अतृप्त बचा रहे। उसकी समस्त भौतिक, सांसारिक इच्छाओं को दूसरी सत्ताएँ न्यूनाधिक मात्रा में तुष्ट कर देती हैं। और जहाँ तक उसकी आध्यात्मिक तृष्णा का प्रश्न है, शताब्दियों से विभिन्न धर्म-प्रतिष्ठान, ईश्वर की अवधारणाएँ, देवी-देवताओं का अस्तित्व किसी-न-किसी रूप में उसके जीवन और मृत्यु को अर्थ देते रहे हैं। इन सबके बावजूद अवश्य ही मनुष्य के भीतर कोई ऐसा रिक्त स्थान, कोई सूखापन, कोई तड़प बची रहती होगी, जिसे कोई सत्ता अपने हिसाब-खाते में दर्ज नहीं करती, लेकिन जिसकी छाया हर अनलिखे पन्ने पर मँडराती है। क्या है यह छाया, जिसकी 'सत्ता' केवल साहित्य में मूर्तिमान होती है। इसका एक सीधा सा उत्तर होगा-मनुष्य के भीतर 'मनुष्यत्व' पाने की आकांक्षा।¹² और जब तक साहित्य में मनुष्यत्व को पाने की आकांक्षा बनी रहेगी, तब तक साहित्य अपनी प्रासंगिकता बनाये रखेगा। इसके लिए हमारे साहित्यकारों का यह दायित्व बनता है कि जनमानस में व्याप्त ग्लत या भ्रांत धारणाओं को नकारकर उच्च और उदात्त मूल्यों और मान्यताओं का प्रतिपादन करते हुए कल्याणकारी तत्वों को समृद्ध करें, जो कला का धर्म है। दिनकर के शब्दों में कहें तो- 'कला का सर्वोपरि धर्म सौंदर्य है, किंतु सर्वोत्तम कलाकृति हम उसे कहते हैं, जो सुंदर होने के साथ सत्य भी हो और शिव भी।'¹³ यदि रचनाकार की रचना इस दृष्टिसे प्रेरित है तो उसका कृतित्व अवश्य ही प्रासंगिक है। साहित्य की प्रासंगिकता दोहरी होती है। एक तो वह तत्कालीन परिवेश में उपयोगी होती है तो दूसरी तरफ़ वर्तमान समय में भी अपनी उपयोगिता बनाए रखती है। साहित्य में यह दोहरापन जरूरी है। इकहरापन उसे विस्मृति के गर्त में डाल देता है। रमेशचंद्र शाह के अनुसार 'रचना की प्रासंगिकता का निकष इकहरा नहीं हो सकता, क्योंकि वह रचना की प्रासंगिकता का निकष है, जिसकी रचनात्मकता काव्य, संस्कृति के मूल्यों पर भी प्रासंगिक हो। इसके साथ-ही-साथ रचना वह प्रासंगिक है, जो अपने समय की मानव-सच्चाइयों का उनकी पूरी जटिलता में साक्षात्कार कराती हो। यह दोहरी प्रासंगिकता रचना की राह में हर अवरोध को, हर रचना-द्रोही परिस्थितियों को तोड़नेवाली होगी और मनुष्य-मात्र की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करनेवाली होगी। जाहिर है कि यह तभी हो सकता है, जब रचना मात्र समसामयिक ही न हो, बल्कि मनुष्य-मात्र की स्वतंत्रता को कुण्ठित करनेवाले हर खतरे को सूँघ लेने वाली हो। अतीत की होकर भी वर्तमान को भी पहचानने वाली हो।'¹⁴ जिस रचना में इन स्थितियों की आकलन और चित्रण करने की क्षमता होगी, वह कभी भी अप्रासंगिक नहीं हो सकता। इसका बहुत ही सरल उदाहरण हमारा संतसाहित्य है। संतों ने जीवन और जगत् को जिस सिद्धत से पहचाना था, वैसा कम ही देखने को मिलता है, उनका युग-बोध और आत्म बोध, दोनों अत्यंत सूक्ष्म, तत्त्व पूर्ण और विस्तृत है, उन्होंने जो भी उपदेश दिये हैं वे दूसरों से लिए हुए नहीं, अपितु उनके अपने जीवन से छनकर निकली हुई अनुभूतियाँ हैं। उन्होंने जो चेतावनियाँ दी हैं, वे समाज के लिए सदैव कल्याणकारी हैं। कल भी थीं और आज

भी हैं। इसीलिए कबीर आदि के आविर्भाव के इतने समय बाद भी ऐसा लगता है कि उनकी उपदेयता, प्रासंगिकता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। आज भी हम जाति-वर्ण भेद, धार्मिक कट्टरता, अहंकार, मोहलिप्सा, बाह्य चमक-दमक आदि में उलझे हुए हैं। संतों ने जिस तरह अपने समय को शब्दों में रचाया बसाया, उसे गरिमा दी, उसे साक्षी बनाया, वैसा ही वर्तमान साहित्य से अपेक्षा है क्योंकि 'जिसे हम रचनात्मक शब्द की गरिमा कहते हैं, वह अर्थ की गरिमा है। साहित्यकार अर्थ की रचना करता है, शब्द की नहीं। और अर्थ जुड़े हैं मानवमूल्यों से। विज्ञान मात्र शब्द है, ज्ञान है। साहित्य और कला उसे मूल्यों से जोड़ते हैं, इसलिए भले ही आज रचनात्मक कर्म स्वयं अपने को इतना संदिग्ध और आत्म-त्रस्त स्थिति में पाए, उसकी प्रासंगिकता कभी समाप्त होने वाली नहीं है।'¹⁵

लेखन और लेखक समाज की विशेष आवश्यकता है, क्योंकि समाज भरसक लेखक से बचता है, उसकी गतिविधियों एवं क्रिया-कलापों को नज़रअंदाज़ करना चाहता है, किंतु सामाजिक संकट के समय वही समाज साहित्य का आश्रय ग्रहण करता है। वह कृतियों की ओर, कविताओं की ओर, शब्दों की ओर देखता है। ऐसे में कविता (साहित्य) एक अनिवार्य ज़रूरत के रूप में दिखाई देती है। शैली ने डिफेंस ऑफ पोएट्री में लिखा है 'कविता की ज़रूरत उन कालों में सबसे ज्यादा होती है, जब स्वार्थपूर्ण और हिसाबी सिद्धांत की अति के कारण, बाह्य जीवन के पदार्थों का संचयन, मानव-प्रकृति के आंतरिक नियमों के अनुसार, उन पदार्थों को आत्मसात् करने की शक्ति की तुलना में ज्यादा बढ़ जाता है।'¹⁶ वास्तव में इस भीड़ में लेखन ही वह साक्ष्य बचा है, जिससे हम अपने समाज को ज्यादा सही ढंग से पहचान सकते हैं। सामाजिक रहना और सामाजिक, मूल्यों को बनाये रखना आज के समय में बड़ा ही दुष्कर कार्य हो गया है। तमाम सामाजिक संस्थान अपना मूल्य खोते जा रहे हैं। 'राजनीति आम लोगों का भरोसा खो चुकी है, पत्रकारिता समाज-प्रयत्न से ज्यादा व्यावसायिक उपक्रम हो गई है, न्यायतंत्र पैसे के सहारे चलता है और समाजिक-राजनीतिक आंदोलन सरकारी-गैर-सरकारी सहयोग के गुलाम हो चुके हैं।.....अपने तमाम कातर स्वार्थों के बीच, समीक्षकीय दुरभिसंधियों और परितोषकीय प्रत्याशाओं के बावजूद, साहित्य ही वह जगह है, जहाँ हमारे समाज की कशमकश, उसकी छटपटाहट, उसके सामने परोसे जा रहे समाज के विद्रूप, कुछ संजीदगी और सच्चाई के साथ दर्ज हो रहे हैं, जहाँ लगातार इंसान बने रहने की मुश्किलों से जुड़ी गवाहियाँ दी और ली जा रही हैं।..समाज के किसी कोने में बची हुई या दोहराई जा रही कविता की कोई पंक्ति, किसी हाशिये पर पढ़ा जा रहा कोई उपन्यास, कहीं किसी सभा में उद्धृत किया जा रहा लेखक, ये सब बताते हैं कि रिस-रिस कर भी समाज की देह में उतर रहा है साहित्य का पानी।'¹⁷ और जब तक 'साहित्य का पानी' समाज की देह में उतरता रहेगा, तब तक साहित्य की प्रासंगिकता बनी रहेगी।

संदर्भ

1. De. Witt H. Parker- The Analysis of Value, 'Contemporary Philosophy', P-42-44.
2. G.E. Moore, 'Contemporary Philosophy', P-178
3. डॉ॰ रामरतन भटनागर, मूल्य और मूल्यांकन (भूमिका)

4. डॉ० रामविलास शर्मा, आस्था और सौंदर्य, पृ० 53
5. स० ही० वा० अज्ञेय, अद्यतन, पृ० 163
6. प्रेमचंद, जीवन में साहित्य का स्थान, 'हिंदी निबंध की विभिन्न शैलियाँ', सं० मोहन अवस्थी, पृ० 102
7. नेमिचंद जैन, बदलते परिप्रेक्ष्य, पृ० 13-17
8. धर्मवीर भारती, टंडा लोहा, उद्धृत निबंध और निबंध, सं० विश्वनाथ प्रसाद, पृ० 54
9. कमलेश्वर, नई कहानी की भूमिका, पृ० 18-19
10. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, अशोक के फूल, पृ०
11. प्रेमचंद, जीवन में साहित्य का स्थान, हिंदी निबंध की विभिन्न शैलियाँ, सं० मोहन अवस्थी पृ० 102
12. निर्मल वर्मा, मनुष्यत्व से साक्षात्कार, लेख-इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी, पृ० 7
13. रामधारीसिंह 'दिनकर', काव्य की भूमिका, उद्धृत 'निबंध और निबंध', सं० विश्वनाथ प्रसाद, पृ० 54
14. रमेशचंद्र शाह, छायावाद की प्रासंगिकता, पृ० 156-57
15. निर्मल वर्मा, कला की प्रासंगिकता, हंस फरवरी, 1988
16. अस्टर्ट फिशर, कला की जरूरत, पृ० 111
17. प्रियदर्शन, नमक की तरह साहित्य, जनसत्ता, 27 नवंबर, 2005, पृ० 7

हिंदी-कविताओं में छंद-विधान 1980 से अब तक

अरविंदकुमार, शोध छात्र

हिंदी विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

मनुष्य ने अपने जीवन में अलौकिक आनंद का अनुभव करते रहने के लिए जिन विविध ललित कलाओं का आविष्कार किया है, काव्य उनमें सर्वोपरि है। प्रत्येक भाषा के साहित्य का इतिहास कविता से आरंभ होता है। अतः विश्व की प्राचीनतम भाषा जो भी हो, छंद की उत्पत्ति भी उसके साथ ही माननी चाहिए। 'छंद' शब्द के मूल में 'चद' धातु है, जिसका अर्थ है आह्लादित अथवा प्रसन्न करना। यह धातु उणादि सूत्र संख्या 4/218 के अनुसार चद् से छंद बनकर छंद संज्ञा शब्द में निष्पन्न हो जाती है, जिसका अर्थ है, जो प्रसन्न अथवा आह्लादित करे, वह छंद है—'यः छंदयति आह्लादति च सः छंदः।'¹

विश्व का प्राचीनतम साहित्य वेद है, जिसे छंदस भी कहा गया है। छंदों को वेदों का पाँचवाँ भाग या अंग माना जाता है, तथा वैदिक रचनाएँ भी छंदोबद्ध हैं। अतः वेद-ज्ञान के लिए छंदों का ज्ञान आवश्यक था। यही कारण कि 'छंद' को 'वेदांग' के रूप में स्वीकृति प्राप्त हुई है। इस संबंध में कहा गया है—'छंद पादौ तु वेदस्य।'²

अतः सिद्ध होता है कि छंदों की उत्पत्ति वैदिकयुग में ही हो गई थी।

'छंद' का शाब्दिक अर्थ है आडंबर, आवरण अथवा प्रवाह। ये तीनों ही अर्थ छंद के स्वरूप एवं महत्त्व के दिग्दर्शक हैं। छांदोग्य उपनिषद् में एक स्थान पर कहा गया है—देवताओं ने मृत्यु से डरकर अपने-आपको छंदों से ढाँप लिया था। वस्तुतः देवगण छंदों में बद्ध मंत्रों में समाहित होकर सदा-सदा के लिए अमर हो गए हैं। सर्वप्रथम 'यास्क' ने 'छंद' की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या की है। उनके अनुसार 'छंदासि छादनात्'³ अर्थात् 'छंद भावों को आच्छादित कर समष्टि रूप प्रदान करते हैं। 'कात्यायन ने छंद की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—'यदक्षर परिमाणं तच्छंद'।⁴

अर्थात् जिसमें अक्षरों के परिमाण या संख्या में वर्णों की सत्ता निहित होती है, वह 'छंद' कहलाता है, पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी 'छंदस' शब्द वेदों का बोधक है। 'निरुक्त' के भाष्यकार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि छंदों के बिना वाणी का उच्चारण ही संभव नहीं—नाऽछंदासि वागुच्चरतीति'।⁵

छंदों की उत्पत्ति के मूल में 'लय' का होना संभव मानना चाहिए, क्योंकि साहित्य के प्राचीन ग्रंथ 'वाल्मीकि रामायण' में भी श्लोक के लक्षण के संबंध में यही भाव है 'जिसके चरण समान अक्षरों के हों और तंत्री की लय से युक्त हों'⁶ गद्य की शुष्कता से थककर पद्य के सीमित और बँधे आकार में अभिव्यक्ति करके जब सर्वप्रथम मानव ने छंद बनाया होगा,

तो अपनी मौलिकता पर वह स्वयं भी चकित रहा होगा। 'मनुष्य को प्रकृति ने ही छंद का दान दिया है। वैदिक धारणा को स्वीकार किया जाए चाहे आधुनिक भौतिक व्याख्या को निर्झरों का निनाद, पत्रों का मर्मर संगीत, पवन का सनसन, बाँसों का चुरमुर, उत्सों का कलकल, बादलों का गर्जन, बिजली की कड़कन, पक्षियों का कलकल, वृक्षों का सवेग कंपन, मनुष्य के लय संस्कार बनाने में सहायक अवश्य हुआ है, प्रकृति के गायन और नर्तन से मनुष्य ने बहुत कुछ सीखा है। संभवतः भावावेश में अविकसित मानव को लय छंद प्रदान किया होगा, जिसे उसने वाग्विलास और कलाप्रिय के साथ-साथ अनुशासन करके साहित्य 'छंद' का रूप दिया है।"

'छंद एक आभूषण है, जो हाथ में चूड़ियों के बीच पहना जाता है।'⁸

एक ऐसी रचना, जिसमें मात्राओं और वर्णों की विशेष व्यवस्था और गणना की जाती है तथा जो संगीत की भाँति लय और गति से बँधी हुई चलती है।⁹ यह एक प्रकार का ऐसा आच्छदन है, जिसमें काव्य (कविता) के प्राण सुरक्षित रहते हैं। प्रत्येक छंद को भली-भाँति समझने के लिए छंद के विविध भाग-पाद, वर्ण, मात्रा, यति, गति आदि अंगों का ज्ञान अति आवश्यक है।

छंदोबद्ध रचना को पद्य कहा जाता है, क्योंकि रचना के प्रत्येक 'पाद' में 'छंद' के विशिष्ट नियमों का पालन होता है। 'पाद' के अनुसार नियमबद्ध होने के कारण ही उसकी संज्ञा पद्य है। कोई छंद दो पंक्तियों का कोई चार और कोई छः पंक्तियों का होता है। किसी छंद में इनसे कम या अधिक पंक्तियाँ उसका एक 'पाद' होता है, जिसे छंद या कविता का चरण भी कहते हैं।

S III S S। IS II SS IIS।

जो समय के संग चले, वह पीछे पछताय
समय सामने सब गिरे, छली-बली यति-राय।¹⁰

SS II S S। IS S

मैंने मन में ठान लिया था।

सब चिंताएँ दूर करूँगा।

पाकर मैं मृदु परस तुम्हारा

संघर्षों से जूझ पड़ूँगा।¹¹

उपर पहले दोहा छंद का उदाहरण है, यह दो पंक्तियों का छंद है। इसमें 13-11 मात्राओं पर यति होती है। दूसरा चौपाई छंद का उदाहरण है। यह चार पंक्तियों का छंद है। इस छंद के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ और अंत में जगण-तगण न आए।

मात्रा का अभिप्रायः परिमाण है। भाषा अथवा उसके लघुत्तम का रूप वर्ण अर्थात् खंडित न हो सकने वाली ध्वनि का परिमाण है अर्थात् उसकी मात्रा का ज्ञान उसके उच्चारण से ही हो सकता है। अतः मात्रा का लक्षण है, 'वर्णों के उच्चारण में लगने वाले समय को मात्रा कहते हैं'¹² देवनागरी वर्णमाला की सबसे छोटी मात्रा 'अ' है, जोकि ह्रस्व है। दीर्घ 'आ' के उच्चारण में ह्रस्व के 'अ' के उच्चारण से दुगुना समय लगता है। अतः उसकी मात्रा दो समझी जाएगी। इसी प्रकार इ, उ, ऋ की एक-एक मात्रा है, जबकि आ, ई, ऊ ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः दो-दो मात्राएँ वाले स्वर हैं।

‘यति’ शब्द का अर्थ है विराम या ठहराव। वर्णिक छंदों में इसका ध्यान रखने की आवश्यकता उतनी नहीं पड़ती, जितनी मात्रिक छंदों और दंडक मात्रिक छंदों में रहती है। इन छंदों की पंक्तियों को एक-एक कर पढ़ना पड़ता है, जो उचित स्थानों पर विराम द्वारा ही संभव है। ऐसा करने से छंद में एक विशेष प्रकार की लय अथवा प्रवाहपूर्णता आ जाती है। वस्तुतः लय का अनुगमन करनेवाले विरामों को ही यति कहते हैं।

तारे डूबे, तम टल गया, छा गई व्योम लाली।¹³

गति का अर्थ है प्रवाह और प्रत्येक छंद में मात्राओं या वर्णों की नियमित संख्या और उनके क्रम का निर्वाह होने से ही काम नहीं चलता। उसमें एक प्रकार का प्रवाह भी होना चाहिए, जिससे पढ़ने में कोई रुकावट सी न जान पड़े। इस प्रवाह को गति कहते हैं। यदि छंद में गति का अभाव हो तो उसका संपूर्ण माधुर्य एवं चमत्कार क्षीण हो जाएगा। इस दृष्टि से ‘गति’ का महत्त्व मात्रा, वर्ण आदि से भी कहीं अधिक है—

कुलीनों की तरह हमने भी हाया

जन्म पाया पाले गए प्यार से।¹⁴

इसके प्रत्येक चरण को अंत तक पढ़ते समय जिह्वा को बीच में कहीं रुकना नहीं पड़ता। इसी कारण इसमें ‘गति’ अथवा प्रवाह है।

प्रत्येक क्षेत्र में एक नियमित व्यवस्था का महत्त्व है; और काव्य में तो इस प्रकार की व्यवस्था विशेष रूप से आवश्यक है जैसे किसी कलाकक्ष में टँगे हुए चित्र किसी निश्चित अनुपात से लगे हों तो विशेष सुंदर एवं आकर्षक प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार छंद के प्रत्येक चरण में प्रयुक्त अक्षरों का विन्यास आदि सुनियोजित हो तो उसमें नाद-सौंदर्य एवं संगीतात्मक लययुक्त चमत्कार आ जाता है। क्रम का लक्षण इस प्रकार होगा।

किसी छंद के प्रत्येक चरण में वर्णों या मात्राओं का एक निश्चित अनुपात से प्रयोग ‘क्रम’ कहलाता है।¹⁵

III II 51 15

भरत कर हाथ गहे।¹⁶

तो मात्राओं की संख्या तो ग्यारह ही रहेगी, परंतु अंत में सगण (115) हो जाएगा, जगण न रहेगा। तब इस क्रम के परिवर्तन से यह आभीर छंद न रहेगा। अतः छंद में वर्णों और मात्राओं का एक-दूसरे के आगे-पीछे रहने का क्रम उनके रूप की रक्षा करने के लिए आवश्यक होता है।

छंद के दो या चार चरणों के अंत में जब कोई एक ही अक्षर (व्यंजन एवं स्वर) आया करता है, तब उस अक्षर की एकता तथा समता को तुक कहते हैं। तुक की उत्तमता के लिए अंतिम व्यंजन के साथ अंतिम स्वर की समता अपेक्षित है। हिंदी में अधिकतर तुकांत अंत्यनुप्रास से युक्त कविता ही अधिक होती आई है। इसमें तुक से युक्त कविता का अधिक चलन है। फलतः कुछ लोगों की समझ में कविता में तुक होना अनिवार्य या आवश्यक है। कारण तुक से विशेष प्रकार का कर्ण-सुख और मन का आनंद मिलता है। इसके साथ तुक के लय और नाद की सुंदरता बढ़ाने में सहायक होने के कारण कविता की रोचकता अधिक हो जाती है। तुक की तीन कोटियाँ निश्चित की गई हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। यदि चरण

के अंत में दो गुरु (SS) हों तो वहाँ पाँच मात्राएँ एक से स्वर की होने पर तुक उत्तम होगी, चार मात्राओं के सम-स्वर होने से मध्यम और इससे कम की अधम होगी। इसी तरह चरणांत में गुरु लघु (SI) या लघु गुरु (IS) होने पर पाँच मात्राओं की तुक उत्तम, चार की मध्यम और तीन की अधम तथा एक की त्याज्य होती है। यदि चरण के अंत में दो लघु (II) आवें तो चार मात्राओं की एकरूपता होने पर तुक उत्तम, दो की होने पर मध्यम और एक की होने पर अधम होगी। हिंदी में प्रायः सात प्रकार की तुकांत कविता देखी जाती है—

1. सर्वान्त्य—जिस छंद के चारों चरणों में तुक मिलती हो। जैसे सवैया-कविता।
2. समान्त्य—जिस छंद में केवल दूसरे और चौथे चरणों में तुक मिलती हो। जैसे दोहा, बरवै या नीचे लिखा छंद आदि

SI SI S SS II S
धर्म क्षेत्र में मानो फिर से,
ज्ञान-भक्ति अवतार आ गया,
कैथल की इस पुण्यभूमि पर
सरस्वती-सा सार आ गया।¹⁷

इस छंद में दूसरे और चौथे चरण में तुक देखी जा सकती है।

विषमान्त्य—जिस छंद में केवल पहले और तीसरे चरणों में तुक मिलती हो। जैसे सोरठा आदि—

IS SI IIS IS SS SI S SI
बिना बात करता सदा चिंता दुःख या शोक।
पग-पग पर मरता सदा, दुनिया में डरपोक।¹⁸

इस छंद में पहले और तीसरे चरण में तुक देखी जा सकती है।

विषमान्त्य-समान्त्य—जिस छंद में विषम (पहल-तीसरे) चरणों की ओर सम दूसरे-चौथे चरणों की तुक एक-दूसरे से मिलती हो—

SI I II IISI IISI S S ISS S I IISS IS
तो न वह करतूत ही, जो अँधेरे में न उजियाली रखें।
तो निराली बात उसमें क्या रही, जो काली मुँछ मुँह लाली रखें।¹⁹

सम-विषमान्त्य—जिस छंद में पहले-दूसरे चरण की तथा तीसरे-चौथे की तुक मिलती हो—

S IIS II SI ISS
जी करता सब राम हवाले
राम बने ताके रखवाले
पाँच चोर हरि दीन्हे साथ
दीप दियो पुनि गुरु के हाथा।²⁰

विषम समान्त्य-सम विषमान्त्य—जिस छंद में पहल-चौथे चरण की और दूसरे-तीसरे चरण की तुक मिलती हो। जैसे—

5 15 5 55 5 51
 हो गया था संध्या का काल
 सूर्य ने पश्चिम किया प्रयाण।
 दिशा-देवी ने कर निर्माण
 लाल-रंग फेंकी अरुण गुलाल²¹

इनके अतिरिक्त उर्दू की 'रुबाई' के अनुकरण पर बने ऐसे छंद भी हैं, जिनमें पहले, दूसरे और चौथे चरणों का तुकांत समान होता है, तीसरे का उनसे भिन्न आदि।

सभी ह्रस्व स्वर तथा उनके योग से बननेवाले सभी व्यंजन लघु कहलाते हैं। जैसे : अ, इ, उ, ऋ स्वर तथा मदन, नगर, ऋतु, नकल, कमल, सुमन, ऋषि आदि शब्द आदि शब्द या चंद्रबिंदु (अनुनासिक) वाले ह्रस्व और उनसे बननेवाले व्यंजन जैसे-हँस, फँस, धँस आदि।

सभी दीर्घ स्वर तथा उनके योग से बननेवाले व्यंजन दीर्घ या गुरु होते हैं। जैसे आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ और अं, अः तथा उनके मेल से बननेवाले व्यंजन एवं उनसे बननेवाले शब्द काला, पीला, गोरा, नीला, मोटा, राजा, रानी, बेटा, बेटा आदि सभी वर्ण गुरु हैं।

अनुस्वार और विसर्ग से युक्त वर्ण जैसे : इंद्र, अंत, संत, में ई, अ तथा स गुरु वर्ण हैं। अतः में 'तः' दुःख में 'दुः' गुरुवर्ण हैं। गुरु के लिए 'ऽ' चिह्न का प्रयोग होता है।

गण का सामान्य अर्थ है-समूह। छंदशास्त्र में तीन वर्णों के समूह को गण कहते हैं। वर्णिक छंदों के लिए गणों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि उनके लक्षण और उदाहरण गणों के आधार पर ही चलते हैं। ये गण एक प्रकार के संकेत अक्षर हैं, जो गुरु-लघु के एक विशेष क्रम को प्रकट करते हैं। लघु और गुरु के तीन-तीन रूपों का प्रसार करने पर अधिकाधिक आठ रूप बन सकते हैं, जिनके नाम और लक्षण को निम्नलिखित क्रम में समझ सकते हैं-

क्र०	गणों का स्वरूप	चिह्न	लक्षण	उदाहरण	
1.	मगण	SSS	म	सर्वगुरु	मातारा, अंबाला, राजाजी
2.	नगण	III	न	सर्वलघु	कमल, अमर नकल
3.	भगण	SII	भ	आदिगुरु	मानव, दानव, कानन
4.	यगण	ISS	य	आदि लघु	अनाड़ी, यशोदा
5.	जगण	ISI	ज	मध्यगुरु	महान, मकान, खदान
6.	रगण	SIS	र	मध्य लघु	लालसा, कामना, मोहनी
7.	सगण	IIS	स	अन्त गुरु	कमला, बिमला, चपला
8.	तगण	SSI	त	अन्तलघु	मैदान, हैरान, राजीव

गणों की पहचान तथा उनके लक्षणों की सही जानकारी करने के लिए निम्नलिखित सूत्रों को कंठस्थ कर लेना चाहिए।

(क) गणों के नाम तो 'मनभयजरसत'²³ याद कर लेने से न भूलेंगे। स्मरण रहे कि इनमें प्रत्येक अक्षर उससे प्रारंभ होने वाले गण के नाम के आदिअक्षर हैं।

(ख) य, मा, ता, रा, ज, भा, न, स, ला, गा²⁴

इस सूत्र में दस अक्षर हैं। प्रथम आठ अक्षर गणों के सूचक संक्षिप्त अक्षर हैं तथा अंतिम दो अक्षर क्रमशः 'लघु' और 'गुरु' को संकेतित करते हैं। इस सूत्र के आधार पर किसी भी गण का स्वरूप जानना अत्यंत सरल है। जिस गण का स्वरूप जानना अभीष्ट हो, उसके चिह्न रूप आदिवर्ण से आरंभ करके दो अगले वर्ण मिलाकर कुल तीन वर्ण गिन लेने चाहिए। जैसे यदि गण की पहचान करनी हो तो उपर्युक्त सूत्र के अनुसार 'य' के आगे दो अक्षर जोड़ लेने चाहिए। जिनसे बनने वाला शब्द लघु-गुरु के विचार से यगण का मात्रिक स्वरूप बोध करा सकेगा, जो इस प्रकार होगा। य+माता ISS (लघु, गुरु, गुरु) इसी नियम से अन्य सभी गणों की पहचान की जा सकती है।

शुभाशुभ गण—पीछे दिए गणों के विवरण के अंतर्गत प्रथम चार गण (म,न,भ,य) शुभ एवं अन्य चार गण (ज,र,स,त) अशुभ माने गए हैं। शुभाशुभ विचार का तात्पर्य यह है कि शुभ गणों से ही किसी गण का आरंभ होना चाहिए। छंदारंभ में अशुभ गण का प्रयोग दोष माना गया है। दग्धाक्षर हैं—ट, ठ, ढ, ण, प, फ, ब, भ, म, ड, स, त, थ, झ, य, ल, व, ष, ह इन उन्नीस वर्णों का पद्य के आरंभ में प्रयोग वर्जित है। इनमें से भी झ, ह, र, भ, ष ये पाँच वर्ण विशेष रूप से त्याज्य माने गये हैं।

दीनो भुली न छंद के, आदि झ, ह, र, भ, ष कोय।
दग्धाक्षर के दोष ते, छंद दोषयुक्त होय।²⁵

परिहार—कई विशेष स्थितियों में अशुभ गणों अथवा दग्धाक्षरों का प्रयोग त्याज्य नहीं रहता। यदि मंगलसूचक अथवा देवतावाचक शब्द से किसी पद्य का आरंभ हो तो दोष-परिहार हो जाता है।

गिरीश भारत का द्वारपट्ट, सदा से है यह हमारा संगी ²⁶

इस पद्य के आरंभ में (IS1) जगण का प्रयोग हुआ है। किंतु 'गिरीश—देवतावाचक होने के कारण यह अशुभ नहीं रह जाता। इस चरण के आरंभ में प्रयुक्त 'र' दग्धाक्षर है, किंतु मंगलसूचक होने के कारण इसमें दोष नहीं माना जाएगा।

छंदों का वर्गीकरण—पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि छंद का आदिरूप वेदों में प्राप्त होता है वेदों में प्रयुक्त छंद उत्तर वैदिक काव्य में प्रायः प्रयुक्त नहीं हुए। वहाँ उनका विकास भिन्न रूप में हुआ है। अतः मूलतः छंदों के दो भेद हैं—(क) वैदिक छंद (ख) लौकिक छंद

वैदिक छंद—जिन छंदों का प्रयोग केवल वेदों में हुआ है। वह वैदिक छंद कहलाते हैं।²⁷

लौकिक छंद—वेदों के अतिरिक्त अन्य संपूर्ण (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिंदी आदि भाषाओं के) काव्य में प्रयुक्त छंद लौकिक छंद कहलाते हैं।

छंदों के मुख्यतः तीन भेद हैं—1. वर्णिक छंद, 2. मात्रिक छंद, 3. स्वच्छंद या मुक्त छंद।

(क) **वर्णिक छंद**—जिन छंदों में वर्णों की संख्या और उनका क्रम निश्चित होता है और गणों के आधार पर जिनके लक्षणों को पुष्ट किया जाता है तथा यति-स्थान निर्धारित रहता है, उन्हें वर्णित छंद कहते हैं।²⁸ इसके तीन उपविभाग हैं—

1. समवर्णिक छंद, (2) अर्द्धसम वर्णिक छंद (3) विषमवर्णिक छंद, इसके अतिरिक्त समवर्णिक छंद के भी दो भाग होते हैं—

1. साधारण वर्णिक, 2. दंडक वर्णिक

(ख) **मात्रिक छंद**—जिन छंदों में मात्राओं की संख्या निर्धारित रहती है, उन्हें मात्रिक छंद कहते हैं। वर्णिक छंदों की तरह इसके भी तीन उपविभाग होते हैं—

1. सममात्रिक छंद, 2. अर्द्धसम मात्रिक छंद, 3. विषम मात्रिक छंद। इसके अतिरिक्त सममात्रिक छंद के भी दो भाग होते हैं—साधारण मात्रिक तथा दंडिक मात्रिक।

(ग) **मुक्त छंद**—जिन छंदों में न वर्णों की संख्या और क्रम का ध्यान रखा जाता है और न ही मात्राओं का ध्यान किया जाता है, केवल लय-प्रवाह के आधार पर ही जिनकी रचना होती है, उन्हें स्वच्छंद या मुक्त छंद कहते हैं।³⁰

छंद के उपभेद—जैसा कि उपर बताया गया है कि वर्णिक और मात्रिक छंदों के तीन-तीन उपभेद हो जाते हैं।

(क) **समवर्णिक छंद**—जिन छंदों के सभी चरणों में समान वर्ग संख्या हो, उन्हें समवर्णिक छंद कहते हैं।

(ख) **अर्द्धसमवर्णिक छंद**—जिन छंदों के प्रथम-तृतीय एवं द्वितीय-चतुर्थ पदों में समान वर्ण-योजना हो, उन्हें अर्द्धसमवर्णिक छंद कहते हैं।

(ग) **विषम वर्णिक छंद**—जिन छंदों के सभी चरणों की वर्ण-योजना असमान होती है, उन्हें विषम वर्णिक छंद कहते हैं।³¹

1. **साधारण वर्णिक छंद**—वर्णिक छंदों में वर्णों की अधिकतम सीमा 26 है।

2. **दंडक वर्णिक छंद**—जिन वर्णिक छंदों में 26 वर्णों से अधिक वर्ण-संख्या हो, वे वर्णिक छंद दंडक वर्णिक छंद कहलाते हैं।³²

मात्रिक छंद के उपभेद

(क) **सममात्रिक छंद**—जिन छंदों के सभी चरणों में समान मात्रा-संख्या हो, उन्हें सममात्रिक छंद कहते हैं।

(ख) **अर्द्धसम मात्रिक छंद**—जिस छंद के प्रथम-तृतीय एवं द्वितीय-चतुर्थ चरणों में समान मात्राएँ हों वे अर्द्धसम मात्रिक छंद कहलाते हैं।

(ग) **विषममात्रिक छंद**—जिन छंदों के सभी चरण भिन्न मात्रा-संख्यक हों, उन्हें विषम मात्रिक छंद कहते हैं।³³

1. **साधारण मात्रिक छंद**—जिन मात्रिक छंदों में 32 तक चाहे कितनी भी मात्राएँ हों, वे साधारण मात्रिक छंद कहलाते हैं।

2. **दंडक मात्रिक छंद**—जिन मात्रिक छंदों की मात्रा संख्या 32 से अधिक हो, उन्हें दण्डक मात्रिक छंद कहते हैं।³⁴

छंद-निर्धारण :

किसी काव्य या कविता के पढ़ते या सुनते समय यदि वह छंदबद्ध है, तो यह जानना आवश्यक-सा ही हो जाता है कि यह किस या किन छंदों में है? यों तो छंदशास्त्रानुसार छंद के अतंत रूप और भेद हैं, यहाँ तक कि गद्य का कदाचित कोई वाक्य हो, जिसे किसी-न-किसी छंद में न रखा जा सके। फिर भी गद्य और पद्य में मुख्यतः भेद यह है कि गद्य में गेयता, जिसे लय कहा जाता है, नहीं रहती, जो पद्य में रहती है। गद्य में पद्य की सी संगीतात्मकता का अंश नहीं रहता। यद्यपि रमणीय गद्य में एक प्रकार का प्रवाह या गति-माधुर्य पाया जाता है-उसमें भी एक प्रकार की धारावाहिकता या लहरी-लालित्य रहता है। गद्य में गेयता के रहते हुए भी संगीत-जैसी ताल, लय जो राग-रागिनी गत होती है, नहीं रहती। प्रत्येक छंद किसी-न-किसी राग या रागिनी के रूप में गेय होता है। छंद में केवल दो प्रकार के स्वरों- लघु और दीर्घ का आधार रहता है। छंद निर्धारण के लिए सबसे अच्छी विधि तो यही है कि सुप्रचलित और सप्रयुक्त छंदों की एक-एक प्रतिक्रिया याद कर ली जाए। यदि छंदों की पंक्तियाँ याद न की जा सकें, तब छंद की चार पंक्तियों या चरणों को लेना चाहिए और सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि उनमें समानता है या विषमता। यदि वर्णों की संख्या ही प्रधान होकर समान है और उनके गुरुत्व-लघुत्व की व्यवस्था में कोई निश्चित क्रम नहीं है, तब समझना चाहिए कि वह छंद केवल वर्णिक छंद है और यदि केवल मात्राओं की संख्या में समानता है और वर्णों की संख्या में समानता नहीं है, तब वह छंद मात्रिक समझना चाहिए। यदि केवल वर्णों की संख्या ही समान है, तदुपरांत वर्णों और मात्राओं की यति के साथ गणना का नियम निकाल लेना चाहिए। लघु-दीर्घ निर्धारण के मुख्य नियम प्रायः सांकेतिक चिह्न भी (S1) पूर्व दिखाएँ जा चुके हैं।

छंदों का महत्त्व-

‘वेदोऽखिलो धर्ममूलक’³⁵ इत्यादि स्मृति वचन वेद-ज्ञान के महत्त्व को प्रतिपादित करता है। प्राचीनकाल में सभी मनुष्य प्रथम आयु में ही गुरुकुलों में नियमपूर्वक वेदाध्ययन करते थे, इसलिए वेदों से अनभिज्ञ और वेदनिंदक ब्राह्मणों के द्वारा बहिष्कृत और तिरस्कृत होकर नास्तिक संज्ञा को प्राप्त हुए।

व्याकरणादि वेदांगों की तरह छंदशास्त्र का ज्ञान भी वेद-अध्ययन के लिए अनिवार्य है। छंदशास्त्र के ज्ञान के बिना वेद एवं हिंदी वाङ्मय पंगु है। जिस प्रकार पैरों से रहित मनुष्य नहीं चल सकता, उसी प्रकार छंदों के ज्ञान के बिना वेद भी नहीं चल सकता। उसके आचरण की गति तथा लय ठीक नहीं चल सकते। अंग से रहित अंगी की सत्ता किस काम की! न केवल वेद-ज्ञान के लिए छंद का ज्ञान आवश्यक है, अपितु लौकिक काव्यशास्त्र में प्रयुक्त छंदों के आस्वादन के लिए, पठुता के लिए तथा रचना में नैपुण्य के लिए छंद का बोध परम आवश्यक है, लेकिन वर्तमान समय में छंदों को वह महत्त्व प्रदान नहीं किया जा रहा है, जो कि उनको संस्कृत साहित्य में प्राप्त था। काव्य को जो गति और लय प्रदान करते हैं, वे छंद हैं, इसलिए छंदों के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

संदर्भ

1. डा० वेंकट शर्मा, रस-अलंकार-छंद तथा अन्य काव्यांग, पृ० 163

2. ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री, काव्यालोचन, पृ० 386
3. जगदीशप्रसाद, भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिमान, पृ० 148
4. वही, पृ० 148
5. वही, पृ० 148
6. शिवनंदनप्रसाद, मात्रिक छंदों का विकास, पृ० 10
7. ओमानंद सारस्वत, दोहा; शब्द और व्याप्ति, पृ० 48
8. श्यामसुंदरदास, हिंदी-शब्दसागर, तृतीय भाग, पृ० 1687
9. डॉ० वेंकट शर्मा, रस-अलंकार-छंद तथा अन्य काव्यांग, पृ० 164
10. प्रो० हरिशंकर 'आदेश', सप्तशती, पृ० 3
11. विश्वंभर शर्मा, स्वाति कलश, पृ० 3
12. ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री, काव्यालोचन पृ० 286
13. स्वामी नरोत्तमदास, अलंकार-परिजात, पृ० 187
14. गणेश शर्मा शास्त्री, अलंकार-छंद-विवेचन, पृ० 109
15. ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री, काव्यालोचन, पृ० 297
16. पिंगल प्रवेश, पृ० 254
17. डॉ० भगवानदास निर्माही, सार शब्द, पृ० 27
18. प्रो० हरिशंकर आदेश, आदेश सप्तशती, पृ० 63
19. पिंगल-परिचय, पृ० 261
20. सतपाल सिंह चौहान, भारत दोहावली, पृ० 141
21. पिंगल-परिचय, पृ० 261
22. ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री, काव्यालोचन, पृ० 301
23. स्वामी नरोत्तमदास, अलंकार-परिजात, पृ० 187
24. डॉ० वेंकट शर्मा, रस-अलंकार-छंद तथा अन्य काव्यांग, पृ० 166
25. जगन्नाथप्रसाद भानु, छंद-प्रभाकर, पृ० 8
26. गणेश शर्मा शास्त्री, अलंकार-छंद-विवेचन, पृ० 107
27. ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री, काव्यालोचन, पृ० 313
28. डॉ० जगदीशप्रसाद कौशिक, छंद, पृ० 101
29. गणेश शर्मा शास्त्री, अलंकार-छंद-विवेचन, पृ० 110
30. वही, पृ० 110
31. डॉ० जगदीशप्रसाद कौशिक, छंद, पृ० 11
32. पिंगल-परिचय, पृ० 315
33. ओमप्रकाश शर्मा शास्त्री, काव्यालोचन, पृ० 315
34. पिंगल-प्रवेश, पृ० 288
35. स्वामी नरोत्तमदास, अलंकार-परिजात, पृ० 185

लोकतंत्र की अवधारणा और रामसाहित्य की प्रासंगिकता

डॉ० सभापति मिश्र, डी० लिट०

लोकतंत्र के अँग्रेजी पर्याय 'डेमोक्रेसी' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक मूल शब्द 'डेमोस' से हुई, जिसका तात्पर्य है—जनसाधारण। इसमें 'क्रेसी' शब्द जोड़ा गया है, जिसका आशय है शासन या सरकार। इस प्रकार इसका मूल अर्थ जनता का शासन है। ईसा से 422 वर्ष पूर्व यूनानी दार्शनिक क्लीआन ने लोकतंत्र को परिभाषित करते हुए कहा था कि लोकतंत्रीय वह होगा, जो जनता का हो, जनता के द्वारा हो और जनता के लिए हो। इन्हीं शब्दों को आधुनिक युग में अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने अत्यंत संशोधन के साथ दुहराते हुए कहा कि लोकतंत्र जनता की जनता के द्वारा और जनता के लिए स्थापित शासन-प्रणाली है। प्लेटो ने लोकतंत्र का समर्थन नहीं किया उसके मतानुसार जनसामान्य इतने शिक्षित नहीं होते कि वे सर्वोत्तम शासकों और सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण नीतियों का चयन कर सकें। उनके अनुसार इसमें स्वार्थी और वाक्पटु लोग जनसामान्य का मत लेकर सार्वजनिक पद प्राप्त कर लेते हैं, जिससे राज्य ध्वंस की ओर अग्रसर होता है। अरस्तू ने भी लोकतंत्र को निकृष्ट शासन-प्रणाली के रूप में प्रस्तुत किया है। वह लोकतंत्र के साथ अभिजात तंत्र के मिश्रण से मिश्रित संविधान का पक्षधर था।

सत्रहवीं शताब्दी में लोकतंत्र के पक्ष में वातावरण तब बना, जब राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के साथ राजशाही की निरंकुशता पर प्रहार होने लगा और जान लाक (1632-1704) बेंथम और मिल आदि की रचनाओं से इसे सैद्धांतिक आधार प्राप्त होने लगा। अठारहवीं शताब्दी में अमेरिकी (1776) और फ्रांसीसी (1789) क्रांतियों ने आधुनिक लोकतंत्र के विकास का मार्ग पूरी तरह से प्रशस्त कर दिया, जिससे लोकतंत्र का सर्वाधिक सफल शासन-प्रणाली के रूप में अभ्युदय हो गया।

वर्तमान परिदृश्य में जब लोकतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था के बारे में चिंतन किया जाता है तो प्रायः लोकतंत्र की कतिपय महत्वपूर्ण विशेषताएँ अवश्य उभरती हैं, जिसके अंतर्गत जनता की इच्छा की सर्वोच्चता, जनसामान्य द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि शासन, निष्पक्ष और नियतकालिक चुनाव, उत्तरदायी शासन, संवैधानिक सरकार, वयस्क मताधिकार, शासकीय निर्णयों में जनसहभागिता, निष्पक्ष न्यायालय विधि का शासन तथा विभिन्न राजनीतिक दलों व दबाव समूहों की विद्यमानता आदि बातें आती हैं। वर्तमान समय में लोकतंत्र को एक आदर्श व्यवस्था माना गया है। इसमें लोकतंत्रीय मानव-चिंतन, व्यवहार, जीवन-पद्धति, समाज, अर्थव्यवस्था, नैतिकता आदि विचार सम्मिलित हो चुके हैं। लोकतंत्र वास्तव में व्यक्तियों का सशक्तीकरण है। यह व्यक्ति और समुदाय को अपने निर्णय लेने की स्वायत्तता और योग्यता प्रदान करता है। लोकतंत्र एक उत्तरदायित्व है। यह जनता का शासन के प्रति और शासन का

जनता के प्रति उत्तरदायित्व का बोधक है। लोकतंत्र जनता के हितों का एक प्रभावशाली प्रतिनिधित्व है। इस प्रकार लोकतंत्र का विचार भागीदारी, प्रतिनिधित्व उत्तरदायित्व, नियंत्रण तथा आत्मविकास का विचार है।

भारत में अत्यंत प्राचीनकाल से राजतंत्र की व्यवस्था रही है, किंतु यह व्यवस्था सामंतवादी न होकर जनतंत्रवादी थी। 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार राजतंत्र होते हुए भी भारत में लोकतंत्र था। इसीलिए महाराज दशरथ को राम को यौवराज्य देने के लिए जनस्वीकृति अपेक्षित हुई थी। इंग्लैण्ड तथा जापान में आज भी राजतंत्र होते हुए भी जनतंत्र ही है। शासन में भ्रष्टाचार तथा भाई-भतीजावाद न पनपने देने के लिए राजा और प्रजा दोनों पर धर्म का नियंत्रण होता था।¹ मंत्रों, ब्रह्मणों तथा मन्वादिधर्मशास्त्रों, शुक्र, बृहस्पति आदि निर्मित नीतिशास्त्रों ने इसके लिए राजा को सदाचारी, जितेंद्रिय, आंतरिक षड्रिपुओं का विजेता तथा कामज, क्रोधज आदि व्यसनों से रहित बनाने पर पूर्ण बल दिया है। राम को युवराज बनाने के लिए परामर्श हेतु श्री दशरथ ने पृथ्वी-भर के समस्त प्रमुख लोगों को आमंत्रित किया था—'समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः।'²

भारतीय प्राचीन शासन-व्यवस्था में मंत्री वही होते थे जो पुरवासियों एवं जनपदवासियों के विश्वासभाजन होते थे—

तस्मै मन्त्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता सता।

पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतो गताः॥³

शुक्रनीति के अनुसार राजा क्रोध और लोभ से विवर्जित होकर धर्मशास्त्र के अनुसार न्यायाधीश, मंत्री एवं पुरोहित की सम्मति से शासन करता था—

धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोध लोभ विवर्जितः।

सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मण पुरोहितः॥⁴

'मनुस्मृति' के अनुसार राजा की सभा में सभी जाति के मुख्य लोग सभ्य होते थे। राम जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणीधर्म तथा कुलधर्मों को यथावत् जानते एवं उनका पालन करते थे।⁵ भारतीय नीति एवं राजधर्म में राजा का आचरण ही आदर्श राज्य का आधार होता था। राजा चाहे व्यक्ति हो चाहे दल, वह अपने व्यवहार से समाज का उन्नायक होता था। अतएव राम ने अपने आचरण द्वारा प्रजा तथा समाज को आदर्श रूप में ढाला था। यद्यपि वैयक्तिक आचरण का निजी जीवन से ही सम्बन्ध होता है, परंतु राम का वैयक्तिक जीवन भी समाज के लिए ही था। तभी वे लोकाराधन के लिए वैयक्तिक स्नेह, दया, सौख्य तथा जानकी तक को त्यागने के लिए तैयार थे—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चंतो नास्ति मे व्यथा।⁶

वर्तमान समय में लोकतंत्र अपने विकृत रूप में विद्यमान है। आज जहाँ देने में संकोच है तो चारों तरफ़ से लेने का ही संघर्ष है। पर राम के समय राम के आदर्शानुसार सबमें देने की ही होड़ थी। लेने का संघर्ष सर्वथा समाप्त था। संग्रह-वृत्ति में ही संघर्ष होता है। तुलसी के अनुसार प्रजा के सौभाग्य से ही भानु जैसा भूपति होता है। भानु धरती से कब कितना रस खींचता है, यह किसी को नहीं मालूम पड़ता है, परंतु भानुजनित मेघ से रसमय जल बरसते देखकर सभी हर्षित होते हैं—

बरसत हरषत लोग सब करषत लखै न कोय।

तुलसी प्रजा सुभाग ते भूप भानु-सो होय।⁷

महाकवि कालिदास के अनुसार 'सहस्रगुणमुत्प्लष्टुमादत्ते हि रसं रविः' हज़ारों गुना अधिक करके देने के लिए जैसे सूर्य पृथ्वी से अप्रत्यक्ष रस ग्रहण करता है, वैसे ही राजा हज़ारों गुना अधिक देने के लिए प्रजा से सीमित अप्रत्यक्ष कर ग्रहण करता है। भारतीय नीति और रामराज्य में अलग से कोई विधान नहीं था। विधि या संविधान वेद ही हैं। आर्ष धर्मग्रंथ एवं नीतिग्रंथ उनकी व्याख्या थे। तुलसी के अनुसार राजा को श्रुतिपथ-पालक और धर्मधुरंधर होना चाहिए⁸ राम ने अनादि श्रुतिसिद्ध धर्म के सर्वमान्य रूप को, उसका पालन करके व्यवहार की वस्तु बनाया। तभी तो भरत कहते हैं—चाहिअ धरमसील नरनाहूँ अर्थात् राजा धर्मात्मा होना चाहिए, अधर्मी राजा होने से राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। राज्य में दुकाल आदि जितनी आपत्तियाँ प्रजा पर पड़ती हैं, वे सब राजा के अधर्म से होती हैं। जब शासक ही विधायक बन जाता है तब निरंकुशता ही फैलती है। आजकल भी कार्यपालिका, विधायिक एवं न्यायपालिका को पृथक्-पृथक् रखने का ढोंग किया जाता है। राम ने कोई विधान नहीं बनाया, किंतु आदर्श आचरण उपस्थित किया। तुलसी के राम ने राजधर्म का सर्वस्व यही बताया था—

मुखिया मुख सो चाहिऐ खान-पान कहूँ एक।

पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित विवेक।¹⁰

प्रजा के विभिन्न वर्गों का उनकी स्थिति, क्षमता तथा संस्कार के अनुसार पालन-पोषण करना राजा का कर्तव्य है। इस कर्तव्य का पालन विवेक-सम्मत होना चाहिए। मुख द्वारा भक्षित अन्न रसरूप से हाथ-पैर, नाक-कान, आँख, हृदय, मन, बुद्धि आदि सबको प्रभावित करता है। परंतु सबकी योग्यता एवं आवश्यकता एक नहीं है, तथापि मुख की भाँति राजा को सबका पालन समान रूप से करना चाहिए। धर्म-नियंत्रित विवेकी राजा ही विभिन्न परिस्थितियों, व्यक्तियों एवं श्रेणियों के साथ यथोचित कुशलता से व्यवहार कर सकता है। भारतीय राजा उतना शासक नहीं होता था, जितना प्रजा के हित का परामर्शदाता। शास्त्र की दृष्टि से राजा परमेश्वर का अंश होता है। छत्र, चँवर, सिंहासन आदि उसके विशिष्ट पद के अनुरूप आवश्यक हैं। फिर भी उनके अभिमान में अपने को प्रजा से अलग समझ लेने में राजा-प्रजा की पिता-पुत्र की सी आत्मीयता विलुप्त हो जाती है। श्रीराम प्रजा को आत्मीयता की दृष्टि से उपदेश करते हैं, राजा के अधिकार से नहीं। वे कहते हैं—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी।

नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई।

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।¹¹

राम के राज्य में 'राजा करे सो न्याय' को कोई स्थान नहीं था। ऐसा राजा प्रजा के हृदय-सिंहासन का अधीश्वर होता है। ऐसा राजतंत्र लोकतंत्र पर ही आधारित होता है। जनता को निर्भीकतापूर्वक राजा के व्यक्तिगत जीवन की भी समालोचना करने की स्वतंत्रता होती थी। तभी राम ने सीतानिंदक का भी कल्याण ही किया। किसी की वाणी पर ताला नहीं था। वह राजा दंड के बल पर किसी का मुंह बंद नहीं करता था, किंतु आचरण बदलकर ही प्रजा का

अनुरागभाजन होता था। ऐसे विनयी सच्छास्त्र तथा सत्पुरुष सेवी राजा का शास्त्रसम्मत सरल जीवन ही संसार का मार्गदर्शक होता है। तभी रामराज्य में सब सुखी थे। सभी शोकरहित थे—

रामराज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका।

बयरु न कर काहू सन कोई। राम-प्रताप विषमता खोई।

वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेदपथ लोग।

चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।¹²

राम के शासन में सबका बैर-विग्रह मिट गया था। विषमता मिट गई थी। महारानी सीता के शरीर में केवल मंगलसूत्र ही आभूषण रह गया था। यज्ञ के प्रसंग में राम ने सर्वस्व दान दे दिया। राजा के आचरण का प्रभाव उसकी जनता पर पड़ता ही है। संग्रह या विषमता ही द्वेष का कारण बनती है। विषमता मिटने पर बैरनिवृत्ति स्वाभाविक ही है। फिर भी अध्यात्मनिष्ठा और स्वधर्मानुष्ठान आवश्यक है। उसके बिना सहज संतोष नहीं होता है। इसीलिए रामराज्य में सब अपने वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार वेदमार्ग पर चलते हुए शोक और मोह से रहित तथा सुखी थे। राम ने वैदिक व्यवस्था के अनुसार अपने राष्ट्र को बनाया था। शुक्लयजुर्वेद में राष्ट्र की विकसित अवधारणा एवं परिसीमा इस प्रकार थी—

‘आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आराष्ट्रे राजन्यः शूर ईषव्योऽतव्याघी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानऽवानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रियोषा। जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।¹³ राम के राष्ट्र में वसिष्ठादि जैसे ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण थे। राम, लक्ष्मण, भरत जैसे शूरी राजन्य थे। उस राष्ट्र में पर्याप्त दूध देने वाली गायें और महान् भारवाही बैल उत्पन्न होते थे। तीव्रगामी घोड़े एवं साध्वी सती पुरन्ध्रियाँ होती थीं। राष्ट्र के रथी विजेता होते थे। राष्ट्र के यजमान सभा में बैठने योग्य सभ्य युवक उत्पन्न करनेवाले होते थे। राष्ट्र में आवश्यकतानुसार समय पर वृष्टि होती थी। औषधियाँ फलदायिनी होती थीं। राष्ट्र के योग एवं क्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति एवं प्राप्त की रक्षा) की पूर्ण व्यवस्था थी। राम गायों एवं ब्राह्मणों के रक्षणार्थ तथा देश के हितार्थ अप्रमेय गुरु के अनुसार सदा ही महत्कर्म की साधना में उद्यत रहे—

गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय वै।

तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः।¹⁴

भौतिक समानता में भी आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक तापों की निवृत्ति नहीं होती। त्रितापनिवृत्ति के लिए धर्म-ब्रह्मनिष्ठा आवश्यक है। कर्मनिष्ठा से ही ब्रह्मनिष्ठा संभव होती है। उससे भौतिक प्रपंच भी विनष्ट हो जाता है। तभी रामराज्य में भौतिक आदि ताप किसी को नहीं व्यापते थे—

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहिं व्यापा।¹⁵

तीनों ताप जब प्रबल रूप से सताते हैं, तब साधारणतया अकाल मृत्यु हो जाती है। अत्यंत वृद्धावस्था में तापजनित कष्ट कम होते हैं। राम के राज्य में तीनों में से किसी प्रकार का ताप किसी को नहीं सताता था। सब अपनी पूरी अवस्था को पहुँचकर ही मरते थे। बुढ़ापे और बीमारी का कष्ट किसी को नहीं होता—

अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब विरुज सरीरा।

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।¹⁶

उच्च धर्म-ब्रह्मनिष्ठा का ही परिणाम था कि किसी की अपमृत्यु नहीं होती थी। किसी को कोई पीड़ा नहीं होती थी। सब सुंदर एवं नीरोग होते थे। कोई दुःखी, दरिद्र एवं दीन नहीं होता था। कोई मूर्ख एवं दुर्लक्षणयुक्त नहीं होता था। धार्मिक, आध्यात्मिक अभ्युत्थान के बिना केवल भौतिक समानता एवं सुविधा से यह संभव नहीं था। जहाँ राजा त्यागी, उदार तथा आदर्श चरित्र वाला होता है, वहाँ प्रजा भी वैसी बन जाती है। यह स्वाभाविक है कि श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते हैं, जनता भी वैसी ही आचरणवाली हो जाती है। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों का ही लोक में अनुकरण होता है। तभी रामराज्य की जनता भी उदार, परोपकारी तथा ब्राह्मणों के चरणों की सेवक थी। राम के समान ही सब एक नारीव्रत थे। नारियाँ भी मनसा, वाचा, कर्मणा पतिहितैषिणी थीं—

सब उदार सब परउपकारी। बिप्रचरन सेवक नर नारी।

एकनारि व्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी।¹⁷

सतयुग में राज्य, राजा एवं विधान के बिना ही धर्म के प्रभाव से प्रजा के लोग परस्पर रक्षण करते थे। सभी एकदूसरे के रक्षक, पोषक एवं हितचिंतक होते थे। कोई किसी का शोषक नहीं था, किंतु रामराज्य में विधान, न्यायालय एवं कार्यपालिकाएँ थीं, परंतु कोई अपराधी, अपराध तथा कोई समस्या नहीं थी, क्योंकि सभी उदार तथा परोपकारी थे। अतएव विधान की बाध्यता का प्रश्न ही नहीं था। 'वाल्मीकि-रामायण' के अनुसार श्रीराम का मंत्रिमण्डल था, जिसमें विनयशील, सलज्ज, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, शस्त्र-शास्त्रनिष्णात, पराक्रमी, यशस्वी घृष्ट, जयंत, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल तथा सुमंत्र ये आठ मंत्री थे। वसिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ, जाबालि, कश्यप, गौतम, मार्कण्डेय तथा कात्यायनइन आठ महर्षियों का परामर्श सर्वोपरि होता था। राम के मंत्री कामी, क्रोधी तथा स्वार्थी और मिथ्यावादी नहीं थे। वे स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र के अतीत के ज्ञाता, वर्तमान के अनुभविता तथा अनागत के अनुमाता थे।¹⁸ स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र का इतिवृत्त जानने से अतीत का ज्ञान होता है। वृत्तपत्रों एवं गुप्तचरों द्वारा स्वराष्ट्र तथा परराष्ट्र की वर्तमान स्थिति ज्ञात होती है। अतीत तथा वर्तमान के साथ भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है। आत्म-दोष एवं प्रजा के गुप्तभावों को जानने के लिए भी गुप्तचरों का उपयोग होता है। राम की ओर से ऐसे गुप्तचर क्रियाशील रहते थे। राम के मंत्री पूर्ण परीक्षित थे। वे अन्यायशील अपने पुत्रों को भी दंडित करने में हिचकते नहीं थे तथा निरपराध शत्रु को भी दंडित नहीं करते थे। वे उत्साहवान, शूर, राजनीतिज्ञ, सत्पुरुषों के रक्षक, न्यायोचित ढंग से राजकोश के पूरक तथा यथोचित दंड के विधानज्ञ थे। संधि, विग्रह के अवसर में दूरदर्शी, मंत्रसंवरण में समर्थ, सूक्ष्मबुद्धि संपन्न, नीतिशास्त्र के विशेषज्ञ तथा प्रियवादी थे—

मंत्रसंवरणे शक्ताः शक्ताः सूक्ष्मासु बुद्धिषु।

नीतिशास्त्र विशेषज्ञाः सततः प्रियवादिनः।¹⁹

नीतिशास्त्रों में मंत्रणा को ही राजाओं के विजय का मूल माना गया है। शुक्र तथा कौटिल्य ने भी मंत्रियों की आवश्यकता पर बल दिया है। एक भी मंत्री शूर, चतुर और नीतिज्ञ हो तो वह राजा को महती श्री प्राप्त करा सकता है। कुशल प्रश्न के बहाने भरत को उपदेश देते हुए राम ने कहा था—

मंत्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव।²⁰

सहस्र मूर्खों की भी सहायता संकटकाल में अकिंचित्कर होती है। मीठी बात करने वाले पुरुष सुलभ होते हैं, किंतु अप्रिय पथ्य के वक्ता दुर्लभ होते हैं। नंदिनी गाय के चराने के प्रसंग में दिलीप के वन में पहुँचते ही बिना वर्षा के ही दावाग्नि शांत हो गई। फल और पुण्यों की वृद्धि अधिक हुई। बलवान् व्याघ्रादि अपने से निर्बल किसी हरिणादि को नहीं सताते थे। शासक को इसी प्रकार पराक्रमी होना चाहिए—

शशाम वृष्टयाऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फल पुष्पवृद्धिः।

ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने।²⁹

रामराज्य में दंड यतियों के हाथ में दिखता था, प्रजाजन में दंड की आवश्यकता नहीं थी। भेद-गतिभेद, ताल, मूर्च्छना आदि के रूप में नर्तक-नृत्य-समाज में ही परिलक्षित होता था, प्रजा में भेदबुद्धि का सर्वथा अभाव था। मन को जीतने में ही जीत शब्द सुनाई पड़ता था, किसी जीतने की आवश्यकता नहीं थी।²² क्योंकि स्वयं राम का साम्राज्य सप्तसागरपर्यंत था। वे सप्तदीपवाली पृथ्वी के एकमात्र शासक थे—‘भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला।²³

रामराज्य में अभीष्ट वस्तु का अभाव नहीं था। जंगलों में फलों-फूलों की भरमार थी। मनुष्य की कौन कहे चूहा-बिल्ली, बाघ-बकरी, हाथी-सिंह साथ-साथ क्रीड़ा करते थे। वृक्ष और लताएँ इच्छानुसार मधु प्रदान करती थीं। गायें इच्छानुसार दूध देती थीं—

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन! रहहिं एक सँग गज पंचानन।

लता विटप मागें मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं।²⁴

श्रीराम के राज्य में चंद्रमा अपनी किरणों से पृथ्वी को पूरित करते थे। चंद्रमा अपनी किरणें सर्वत्र फैलाकर अमृत से कृषि आदि को पुष्ट करते थे। सूर्य उतना ही तपते थे, जितने से खेती आदि में काम था। बादल मनचाही वर्षा करते थे। जगत के हित के लिए सूर्य, चंद्र और मेघ तीनों आवश्यक हैं। रामराज्य में तीनों की अनुकूलता विद्यमान थी—

विधु महि पूर मयूखहिं रवि तप जेतनेहि काज।

मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज।²⁵

बाह्य भौतिक शासनो एवं व्यवस्थाओं से ही संसार की सभी समस्याओं का समाधान नहीं होता है। बाह्य शासन के बल पर बाघबकरे एक घाट पानी नहीं पी सकते और न ही उतने मात्र से प्राकृतिक स्वभाव में परिवर्तन ही होता है। शृंगवेरपुर में राम के पहुँचने पर गुह ने उनका पूर्ण स्वागत किया और उनके लिए भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य, शयन एवं घोड़ों की पूर्ण खाद्यसामग्री उपस्थित की। आधुनिक दृष्टि से मित्र का ही नहीं, अपितु शत्रु का भी भोजन, पान आदि ग्रहण न करना असभ्यता है। किंतु परिस्थिति के अनुसार राम ने निषादराज का भोजन, पान आदि कुछ भी ग्रहण नहीं किया फिर भी अपने व्यवहार एवं स्नेह से उन्हें निहाल कर दिया। उन्होंने गुह को अपनी भुजाओं में लपेटकर कहा कि आप जो कुछ भी भेंट लाए हैं, वह सब मुझे स्वीकार है, किंतु मैंने तपस्वी वनचारी का व्रत धारण कर रखा है। मैं बल्कलवसन, कुश एवं अजिन धारण कर कंदमूल फलाशन ग्रहण करता हूँ। अतः अन्य सभी वस्तुएँ लौटा लें।²⁶ केवल घोड़ों के लिए चारा-दाना ही ममुझे अपेक्षित है। ये मेरे पिता के अत्यंत प्रिय हैं, अतः इनको खिलाने-पिलाने से ही मेरा पूर्ण सत्कार हो जाएगा—

अश्वानां खादनाहमर्थी नान्एन केनचित्।
 एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः॥
 एते हि दयिता राज्ञः पितुर्दशरथस्य मे।
 एतैः सुविहितेरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः॥²⁷

शुक और सारण रावण के मंत्रिमंडल के प्रभावशाली सदस्य थे। वे राम की सैन्यशक्ति की टोह लेने आए थे। दोनों गुप्त वेष में थे, पर पकड़ लिए गए। आधुनिक दृष्टि से उनका वध ही उचित था। जब वे राम के सामने लाए गए, राम ने उनसे कहा—यदि आपने हमारी सैन्यशक्ति का पता पा लिया और सुसमाहित चित्त से हम लोगों को भी देख लिया और अपने राजा का कार्य कर लिया हो तो आप लोग स्वेच्छा से जा सकते हैं। यदि कुछ देखना बाक़ी बचा हो तो फिर से देख लें। विभीषण पूर्ण रूप से सब-कुछ तुम्हें पुनः दिखा देंगे—

यदि दृष्टं बलं सर्वं वयं वा सुसमाहिताः।
 यथोक्तं वा कृतं कार्यं छंदतः प्रतिगम्यताम्।
 अथकिंचिददृष्टं वा भूयस्तद् द्रष्टुमर्हथः।
 विभीषणो वा कत्स्येन पुनः संदर्शयिष्यति॥²⁸

राम रावण से अपनी पतिव्रता पत्नी के उद्धार के लिए एवं क्षात्र तेज की रक्षा के लिए लड़े और सपरिवार रावण का वध किया, परंतु सदैव उसके हितैषी ही रहे। राम तटस्थ स्वभाव के राजा थे। उनमें हर्ष-विषाद का सर्वथा अभाव था। यही कारण है कि राज्याभिषेक के समाचार से उनके मुखाम्बुज पर कोई प्रसन्नता नहीं हुई और वनवास के दुःख से कोई विक्रिया नहीं आयी। वसुधाधिपत्य त्यागकर वन जाते समय लोकातीत जैसी निर्विकारिता राम में परिलक्षित होती है।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखत।
 मुखाम्बुजश्री रघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा।²⁹

सदा प्रसन्न राम को निहारने के लिए समुद्र के जलचरवृंद भी प्रकट होकर विभोर हो जाते हैं। वन के कोल-किरात नवनिधि समझकर राम में अनुरक्त हो जाते हैं। वनमार्ग के साँप-बिच्छू राम के मार्ग से हटकर अपना तीक्ष्ण विष त्याग देते हैं। वन में रहते हुए राम केवट को गले लगाते हैं। कोल-किरात से मैत्री स्थापित करते हैं। सभी मुनियों के आश्रम में जाकर सुख प्रदान करते हैं। बंदर-भालुओं से मित्रता करके उनकी सेना तैयार करते हैं। शबरी का आतिथ्य स्वीकार करने स्वयं उसके घर जाते हैं। इस प्रकार राम एक जनसंस्कृति का निर्माण करते हैं। भीलनी का आतिथ्य स्वीकार करके दलितों के प्रति प्रेम प्रकट करते हुए वे एक समतामूलक समाज की स्थापना करते हैं। वन में निवास करते हुए वे चित्रकूट को राजधानी बनाते हैं, विवेक जिसका नरेश और वैराग्य जिसका सचिव बनता है। शांति ही इस राज्य की रानी बनती है। कोल-किरात भील आदि वनचर ही प्रजा के रूप में हैं। यह राज्य पूर्णरूपेण सम्पन्नता को प्राप्त है। यही राम के लोकतंत्रसम्मत राष्ट्र का आदर्श स्वरूप है।³⁰

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में रामराज्य के रूप में एक सच्चे लोकतंत्र की परिकल्पना की है। 'रामचरितमानस' में एक ओर रावण के सामंतवादी प्रजापीड़क राज्य-व्यवस्था की परिकल्पना है तो दूसरी ओर आदर्श राज्य की परिकल्पना रामराज्य की प्रतिष्ठा में है। रावण की राज्य-व्यवस्था आतंक, शोषण एवं अपहरण पर आश्रित थी, जबकि राम का शासन

जनमत पर आधारित था। रावण का राज्य भौतिक एवं पाशविक बल पर आधारित था, दूसरी ओर रामराज्य था जिसका आधार धर्म एवं कर्तव्य था। जिस राज्य में प्रजा का हितचिंतन, प्रजा का हितसाधन ही प्रमुख लक्ष्य होता है, जिसमें राजा धर्म की प्रतिमूर्ति होता है, राजा और प्रजा दोनों ही धर्म के बंधन में बंधे होते हैं, वही आदर्श राज्य अथवा राम-राज्य है। तुलसी की दृष्टि में सुराज्य ही स्वराज्य है, जो एकतंत्र होते हुए भी प्रजासम्मत होता है।³¹ जो राज्य के निःस्वार्थ ज्ञानीजनों की सम्मति से संचालित होता है तथा जिसका प्रभाव राज्य में निवास करनेवाले सभी व्यक्तियों तक पहुँचता है।

गास्वामी जी उस राज्य के समर्थक हैं, जहाँ समस्त आय की अधिकारी राजा होता है और आवश्यकतानुसार सबकी सुख-सुविधा पर धन-व्यय किया जाता है, जहाँ रिश्वतखोरी आदि विकार नहीं होते। जहाँ राज्य-शासन सुव्यवस्था से चलता रहे और कोई गुप्त शत्रु उसके भेद को न जान पाए। सुराज्य वह है जिसमें समस्त व्यवहार अंदर-ही-अंदर निर्विरोध होते रहें, जिस राज्य में सबको योग्य शिक्षा प्राप्त होती हो, कोई धर्ममार्ग से विचलित न हो, सब सत्यपथ का अवलंबन करते हुए उन्नति के मार्ग पर चलें अपराधी को दंड मिले और दंड के भय से पापी पाप-कर्म से स्वतः निवृत्त हो जाएँ। जिस राज्य में राजा धर्ममार्ग पर चलता है, उसमें प्रजा भी धर्म-मार्ग का अनुसरण करती है। 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति लोक में प्रचलित ही है। राजा के आचरण एवं व्यवहार का प्रभाव प्रजा पर पड़ता है। गोस्वामी जी की दृष्टि में वही सुराज्य है, जहाँ कोई आर्त एवं दीन-दुःखी नहीं रहता, सबकी क्षुधा-तृप्ति होती है, सबकी सुख-सुविधा का ध्यान रखा जाता है। जिस राज्य में राजा और प्रजा दोनों धर्म का पालन करते हैं, वहाँ चारों ओर उल्लास, सुख-समृद्धि विराजती है। पृथ्वी कामधुक् हो जाती है और प्रकृति मनोवाँछित फल प्रदान करती है।³²

तुलसी का रामराज्य वह आदर्श राज्य है, जहाँ भय अथवा आतंक से किसी का मुँह बंद नहीं कर दिया जाता। राजा की अनीति अथवा राज्य के अहितकर कार्य के विषय में तुच्छ व्यक्ति को वर्जन का अधिकार है। केवल वर्जन ही नहीं, राजा के पारिवारिक जीवन पर टीका-टिप्पणी करने का भी अधिकार है। आदर्श राज्य में लोकाराधन ही राजा का प्रमुख लक्ष्य होता है। गोस्वामी जी का राज्य सुराज्य एवं स्वराज्य होने के साथ ही साथ धर्म-साम्राज्य भी है। इसके लिए शांतिपूर्ण वातावरण अपेक्षित है। यह तभी संभव है, जबकि दुष्ट एवं आततायियों का पूर्ण दमन कर दिया जाय। इस अद्भुत कर्तव्य-पालन एवं धर्म-निष्ठा की दृढ़ सनातन भित्ति पर आधारित राज्य आदर्श राज्य अथवा रामराज्य है, जो पूर्णरूपेण लोकतंत्र पर आधारित है, जो स्वयं संप्रभु है। भारतीय राम-साहित्य के मेरुदंड राम स्वयं संप्रभु राष्ट्र है, जिन्होंने रामराज्य में सच्चे जनतंत्र की प्रतिष्ठा की है। जनकल्याण एवं जनभावनाओं पर आश्रित उनका शासन प्राचीन भारतीय लोकतंत्र का अनूठा उदाहरण है।

संदर्भ

1. स्वामी करपात्री जी, रामायण-मीमांसा, पृ० 678
2. वाल्मीकि-रामायण 2/1/46
3. महाभारत 12/83/45

4. शुक्रनीति 4/4/52
5. जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्माश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्माश्च स्वधर्म प्रतिपादयेत्॥ मनुस्मृति 8/41
6. भवभूति-उत्तररामचरितम् 1/12
7. तुलसी-दोहावली, 508
8. श्रुतिपथपालक धर्म धुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर। तुलसी-रामचरितमानस, 7/24/2
9. वही, 2/179/1
10. वही, 2/315
11. वही, 7/43/3-6
12. वही 7/20/7-8
13. शुक्लयजुर्वेद, 22
14. वाल्मीकि-रामायण 1/26/5
15. तुलसी-रामचरितमानस, 7/21/1
16. वही 7/21/5-6
17. वही 7/22/7-8
18. स्वामी करपात्री जी, रामायण-मीमांसा, पृ० 681
19. वाल्मीकि-रामायण, 1/7/19
20. वही 2/100/16
21. कालिदास-रघुवंशम् 2/14
22. दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य-समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र केँ राज॥
तुलसी, रामचरितमानस, 7/22
23. वही 7/22/1
24. वही 7/23/1 तथा 5
25. वही 7/23
26. वाल्मीकि-रामायण 2/50/41-45
27. वही, 2/50/46-47
28. वही 6/25/18,19
29. तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, श्लोक 2
30. राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाई सुराजा॥
सचिव बिरागु विवेकु नरेसू। विपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। साँति सुमति सुचि सुंदर रानी।
सकल अंग संपन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ। वही 2/235/5-8
31. डॉ० शीलवती गुप्ता, तुलसी के काव्य में रामराज्य की परिकल्पना, पृ० 142
32. वही पृ० 142

□ प्राचार्य
हंडिया पोस्टग्रेजुएट कालेज
हंडिया, इलाहाबाद, 221503

भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी

डॉ० निकेता

वरिष्ठ प्रवक्ता, हिंदी-विभाग
सनातन धर्म महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर

‘हिंदी’ से ‘हिंदुई’, ‘हिंदवी’, ‘रेखा’, ‘उर्दू’, ‘हिंदुस्तानी’, ‘खड़ीबोली’ और हिंग्लिश तक की यात्रा में हिंदी अनेक उतार-चढ़ाव झेलती हुई और उत्तरोत्तर विकसित होती हुई आज राजभाषा, राष्ट्रभाषा, संपर्कभाषा, जनभाषा के सोपानों को पार कर विश्वभाषा बनने की ओर अग्रसर है। ‘क्योंकि हिंदी भाषा आज साहित्य लेखन, वाचन तथा गायन आदि के रिवाज से हटकर अब दैनंदिन जीवन से लेकर विज्ञान प्रौद्योगिकी तथा व्यापार-प्रबंधन आदि प्रत्येक क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दे चुकी है। भाषा के इस नव्यतम रूप का युगानुकूल परिवर्तन एवं नवसृजन अत्यंत तीव्र गति से हो रहा है, क्योंकि विश्वस्तर पर बढ़ रहे आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक अंतःसंबंधों के कारण वैचारिक स्तर पर एक वैश्विक चेतना का प्रादुर्भाव हो रहा है, जिससे समूचे विश्व में हिंदीभाषा को एक नयी दृष्टि मिल रही है।’¹

भूमंडलीकरण के दौर में आज हिंदीभाषा बाज़ार और व्यापार की भाषा बन गयी है। कोई भी बड़ी विदेशी कंपनी हिंदी जाने बिना मध्य एशिया में व्यापार नहीं कर सकती। आज अपने माल के प्रचार-प्रसार, पैकिंग, गुणवत्ता आदि के लिए हिंदी को अपनाना बहुराष्ट्रीय कंपनियों की विवशता है और उनकी यही विवशता हिंदी की शक्ति तथा सामर्थ्य की परिचायक है।

भूमंडलीकरण के दौर में आज हिंदी की बदलती दुनिया को समझने की महती आवश्यकता है। मल्टी मीडिया के इस्तेमाल के लिए, आविष्कार के अनुरूप, विज्ञापन, एस०एम०एस०, कंप्यूटिंग सॉफ्टवेयर इत्यादि तकनीकों के अनुरूप हिंदीभाषा परिवर्तित हो रही है। विचारणीय यह है कि हिंदी भाषा में यह परिवर्तन उसके लिए कितना उचित और कितना अनुचित है, क्योंकि ‘भूमंडलीकरण तो वह बिजली है, जिससे आपका घर रौशन भी हो सकता है और आपके घर में आग भी लग सकती है।’²

डॉ० जयंतीप्रसाद नौटियाल ने निरंतर 20 वर्ष तक भारत तथा विश्व में भाषाओं-संबंधी आँकड़ों का विश्लेषण करके सिद्ध किया है कि विश्व में हिंदी प्रयोग करनेवालों की संख्या चीनी से भी अधिक है और हिंदी अब प्रथम स्थान पर है, उसने विश्व की अँग्रेज़ी सहित अन्य सभी भाषाओं को पीछे छोड़ दिया है। हिंदी आज 60 करोड़ लोगों की भाषा है। प्रो० हरमहेंद्र सिंह बेदी के अनुसार ‘वैश्वीकरण के इस दौर में हिंदी बहुत बड़ी भूमिका निभाने जा रही है। यह भूमिका सार्क देशों की एकमात्र भाषा बनकर उभरने में छुपी हुई है। सार्क देश अगर किसी एक भाषा पर भविष्य में निर्भर कर सकते हैं, तो वह हिंदी ही होगी। क्योंकि बंगलादेश,

भूटान, नेपाल, श्रीलंका व पाकिस्तान इस भाषा को सहज में ही अपना सकते हैं।³ प्रवासी भारतीय भी हिंदीभाषा के प्रचार एवं प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं। फिजी, सूरीनाम, गियाना, मॉरीशस, त्रिनिदाद जैसे देशों में प्रवासी भारतीयों के द्वारा हिंदी का प्रयोग किया जा रहा है। विश्व में शायद ही कोई देश हो, जहाँ पर प्रवासी भारतीय न हों और वहाँ हिंदीभाषा विद्यमान न हो।

आज विश्व के लगभग 150 विश्वविद्यालयों तथा सैकड़ों छोटे-बड़े केंद्रों में विश्वविद्यालय स्तर से लेकर शोध-स्तर तक हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हुई है। साहित्य की दृष्टि से यदि देखा जाए तो एशिया के देशों में सर्वाधिक पाठक हिंदी साहित्य के हैं। 'कहानी, कविता, नाटक, संस्मरण एवं ज्ञान-विज्ञान की सबसे ज्यादा किताबें हिंदीभाषा में ही छपती हैं। आज हिंदीभाषा एवं साहित्य की गरिमा को आलोकित करने के लिए 500 पत्र-पत्रिकाएँ छप रही हैं। विभिन्न विषयों पर हिंदी में हर रोज 20 किताबें छपकर बाज़ार में आ जाती हैं। दुनिया का कोई ऐसा विषय नहीं, जिस पर हिंदीभाषा में दो-चार मानक पुस्तकें उपलब्ध न हों।⁴ ब्रिटेन में 'हिंदी प्रसार परिषद्' द्वारा 'प्रवासिनी' पत्रिका का प्रकाशन होता है। जनता, आर्योदय, बसंत आदि मारीशस से प्रकाशित होने वाली प्रमुख पत्रिकाएँ हिंदी के प्रचार-प्रसार में सहायक हैं। आज जो टापटैन अखबार हैं, उनमें अँग्रेज़ी का एक भी नहीं है, हिंदी के ही अखबार हैं। तुलसीदास जी की रामचरित मानस की सारी दुनिया में करोड़ों प्रतियाँ बिक चुकीं, जितनी कि आज सबसे ज्यादा बिकने वाली हेरीपोटर की किताब नहीं बिकी है।⁵ रूसी साहित्यकार वेरनिकोव द्वारा रामचरितमानस का अनुवाद तथा जर्मन कवि गेटे द्वारा कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् का अनुवाद अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी की समृद्ध परंपरा का द्योतक है। अगर चीन, जापान, रूस, फ्रांस, इटली, अमेरिका आदि देश अपनी भाषा में ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, तो हम भी अपनी भाषा-हिंदीभाषा में यह शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। आवश्यकता है उदारवादी दृष्टिकोण को अपनाने की तथा क्लिष्ट शब्दावली के त्याग की।

बीसवीं शती के अंतिम दो दशकों में हिंदी का अंतरराष्ट्रीय विकास तीव्र गति से हुआ है। वेब, विज्ञापन, सिनेमा और बाज़ार के क्षेत्र में हिंदी की माँग अन्य भाषाओं की तुलना में तेजी से बढ़ी है। सूचना क्रांति का सीधा संबंध कंप्यूटर से जुड़ा है। आज हमारे पास हिंदी कोश 'विकिपीडिया' उपलब्ध है। अँग्रेज़ी की तरह गूगल पर हिंदी में विभिन्न विषयों पर प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों के विषय में जानकारी उपलब्ध हो जाती है। देवाशीष चक्रवर्ती के प्रयास से आज हिंदी में 'वर्डप्रेस', 'पेब्ल', 'इंडिकजमूला', 'आईजूमला', 'स्कटल' आदि सॉफ्टवेयर मौजूद हैं। आज हिंदी ने कंप्यूटर के क्षेत्र में अँग्रेज़ी का वर्चस्व भंग कर दिया है। वर्तमान में हिंदीभाषी (करोड़ों की आबादी) कंप्यूटर का प्रयोग अपनी भाषा में कर सकते हैं। आज संसार में कंप्यूटर टाइपिंग के सर्वाधिक फॉन्ट हिंदी में ही हैं। हिंदी पोर्टल, ई-पत्र, ई-वार्ता, बहुभाषीय ई-मेल सेवा, हिंदी सर्च इंजन, हिंदी के साथ बहुभाषीय ई-प्रीटिंग सेवा आदि 'वेब' दुनिया में प्रवेश कर चुके हैं। अब तो मोबाइल में भी एस०एम०एस० हिंदी में किए जा रहे हैं।

सिनेमा जगत् और दूरदर्शन की बात यदि की जाए तो हम देखते हैं कि दूरदर्शन का

जन्म ही अँग्रेजी कार्यक्रमों के साथ हुआ था, किंतु अँग्रेजी कार्यक्रमों के साथ दूरदर्शन अपनी सालगिरह भी नहीं मना सका। देखते ही देखते उसके तीन चौथाई कार्यक्रम हिंदी में बदल गए, क्योंकि इन्हें अपनी दर्शक संख्या बढ़ानी थी, अपना व्यापार, अपना लाभ बढ़ाना था। 'उपभोक्ता संस्कृति का सृजन विज्ञापन के माध्यम से होता है और विज्ञापन-संस्कृति संचार-माध्यम का परिणाम है।' विज्ञापन का उद्देश्य उपभोक्ता में उत्पाद-विशेष के सम्बन्ध में जानकारी देना, उसे स्मरण कराना, विश्वसनीयता का विस्तार कर उत्पाद की क्रियाशीलता बढ़ाना है। आज टीवी चैनलों एवं मनोरंजन की दुनिया में हिंदी सर्वाधिक मुनाफे की भाषा है। कुल विज्ञापनों का लगभग 75 प्रतिशत हिंदी माध्यम में है। दर्शक या श्रोता पहले विज्ञापन की भाषा से ही आकर्षित होता है, जिसे भाषा के प्रति आकृष्ट होना भी कह सकते हैं। उसके बाद ही वह वस्तु के प्रति आकर्षित होता है।⁸ आज सभी चैनल तथा फिल्म-निर्माता अँग्रेजी कार्यक्रमों और फिल्मों को हिंदी में डब करके प्रस्तुत करने लगे हैं। अतः कहा जा सकता है कि आज मीडिया और संचार जगत् में हिंदी का बाज़ार भाव सर्वोच्चता पर है। 'आज भी एक अभिनेता जीता भले ही है अँग्रेजी में, लेकिन उसकी रोटी हिंदी ही चलाती है। एक राजनेता गाता भले ही अँग्रेजी की, लेकिन उसको 'वोट' हिंदी ही दिलाती है।' ⁹ वह संसद में जाकर भले ही बहस अँग्रेजी में करे, लेकिन वोट हिंदी में ही मांगता है। वस्तुतः हिंदी अनवरत गति से गतिमान है।

भाषा भावों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र ही नहीं है, वह हमारी संस्कृति और सभ्यता की भी परिचायक होती है। आज व्यक्ति जीवन की भाग-दौड़ में भी अपने को पूर्णतः स्वस्थ रखने के कारण ध्यान, योग, आसन और आयुर्वेद की ओर आकर्षित हुआ है। लगभग प्रत्येक देश में योग, ध्यान और आयुर्वेद के केंद्र खुल गए हैं। आत्मा, प्राण, अनुलोम-विलोम जैसी शब्दावली तो हिंदी के पास ही है। अन्य भाषा में तो 'योग' का योगा, 'कृष्ण' का कृष्णा ही हो गया है। भारतीय संगीत, हस्तकला, भोजन, वस्त्रों की विदेश में माँग बढ़ी है। किसी भी संस्कृति को पाने के लिए उसकी भाषा के रास्ते से ही पहुँचा जा सकता है। क्योंकि भाषा संस्कृति की संवाहिका होती है। अस्तु, हिंदी ही भारतीय संस्कृति से परिचित करा सकती है। क्योंकि 'हिंदी केवल भाषा ही नहीं, वह संस्कृति एवं धर्म की भी संवाहक है। भारतीय उपमहाद्वीप में हिंदीभाषा ने ही सबसे अधिक लोगों को प्रभावित किया है। हिंदी के माध्यम से ही भारत की छवि शताब्दियों से बरकरार है। एशिया के देशों की ज्यादातर जानकारियाँ संस्कृत, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में सुरक्षित हैं। इस दृष्टि से एशिया के भूभाग की सबसे बड़ी जुबान हिंदी ही है।'¹⁰

समय और समाज की आवश्यकता के अनुरूप आज हिंदी के स्थान पर हिंग्लिश की प्रधानता हो गई है, जो हमारे वाचन एवं लेखन में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। समाचार-पत्र के कतिपय हैडिंग देखिए— 'प्लानिंग से खोले जॉब के द्वार', 'अच्छा पैकेज, भरपूर रेस्पैक्ट', 'एजुकेशन में एंट्री के लिए जरूरी कोर्स', 'पढ़ें, पढ़ाएँ लाइफ़ बनाएँ' आदि। आज जो उपभोक्तावादी संस्कृति है, वह अपने शब्द भी लेकर आ रही है। हिंदी को इन नए आक्रमणों और संक्रमण से बचाने के लिए नयी क्रांति करनी होगी और हमें नए सिरे से खड़ा होना होगा। यदि हम सुविधाभोगी बने रहेंगे, तो हमारी हिंदी नहीं रहेगी। भले ही हमें भुलावा दिया जाता

रहे कि हमारी हिंदी विश्वमंच पर प्रतिष्ठित हो रही है। लेकिन कौन-सी हिंदी जा रही है, कौन-सी हिंदी बढ़ रही है? यह भी देखना होगा।¹¹

आज भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी की मात्र वर्तनी, उसके शब्द, उसका वाक्य-विन्यास, और उसका व्याकरण ही प्रभावित नहीं हुआ है, बल्कि उसकी लिपि देवनागरी भी प्रभाव से अछूती नहीं है। इलैक्ट्रॉनिक माध्यम में हिंदी रोमन लिपि में भी लिखी जा रही है। यह हिंदी के अस्तित्व पर संकट तो अवश्य है, लेकिन आज आवश्यकता है कि हम हिंदी को फैलने और पसरने दें, यह पसराव चाहे किसी भी रूप में हो। जब व्यक्ति किसी भी भाषा के शाब्दिक भाव को ग्रहण करने लगेगा, तब कोई भी लिपि भाषा के प्रति मोह को नहीं रोक पाएगी।¹²

किसी भाषा का मूल आधार उसकी संरचना और वाक्यविन्यास है। आज हिंदी वाक्य की संरचना पूर्णतः बदल गयी है। कर्ता, कर्म, क्रिया का कोई क्रम दिखायी नहीं पड़ता है। इसके उदाहरण हमें समाचार-पत्रों में हैडिंग में प्राप्त हो जाते हैं जैसे-‘स्मारक-स्थल पर रख-रखाव कर सकेगी यू.पी. सरकार’, ‘रिवीजन है अंक लाने का मूल मंत्र’ आदि। वाक्य में क्रिया भी लुप्तप्राय होती जा रही है जैसे- ‘पाकसेना के संदेश पर खुफ़िया विभाग सतर्क हुआ’, ‘अब अरिंदम चौधरी शिवसेना के निशाने पर हैं/आ गए हैं, आदि।

वस्तुतः किसी भी भाषा का विकास व्याकरण के नियमों में बँधकर नहीं हो पाता। उसका विकास जनता और बाज़ार में होता है। हरिशंकर परसाई जी के शब्दों में ‘भाषा वह होती है, जिसे लोग बोलते हैं। भाषा वह नहीं होती, जो विश्वविद्यालय और हिंदी के दर्जनों संस्थाएँ बनाती है।’ यही कारण है कि आज हमने विज्ञान के पारिभाषिक और तकनीकी पदों का अनुवाद तो कर लिया लेकिन वह अपनी क्लिष्टता के कारण इतनी दुरूह हो गई है कि आज उच्च शिक्षा में विज्ञान का विद्यार्थी अँग्रेज़ी में ही पढ़ना-लिखना पसंद करता है। अतः हमें अनुवाद में हिंदी की सहजता का ध्यान रखना होगा।

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि भूमंडलीकरण के दौर में आज संपूर्ण विश्व ही एक बाज़ार के रूप में बदल गया है। आज के विश्व-बाज़ार में हिंदी भी बाज़ार की भाषा बन गई है। यह ठीक है कि वर्तमान की जरूरत के अनुरूप हिंदी को बनने-सँवरने की आवश्यकता है। क्लिष्ट शब्दावली का त्याग आवश्यक है, लेकिन अँग्रेज़ी या अन्य भाषाओं के अपरिचित शब्दों का अन्धानुकरण आवश्यक नहीं है ‘हिंदी को गुरुकुल काँगड़ी और काशी विद्यापीठ वाले शुद्धतावादी आग्रहों से बचाने की जरूरत तो है, लेकिन इस बात की कतई जरूरत नहीं कि ‘बदलाव’ को ‘चेंज’ लिखने की मूर्खता गले लगा ली जाए। लोगों ने देख लिया है कि ‘आवश्यकता’ और ‘नीड’ के बीच ‘जरूरत’ का एक संतुलित मध्यम मार्ग भी है।¹³ इसी मध्यम मार्ग पर चलते हुए हिंदी को अपने रूप को परिष्कृत बनाए रखना होगा।

हिंदी प्रसार हेतु आवश्यक है, सूरीनाम, त्रिनिदाद, मारीशस आदि देशों में रह रहे तथा अमेरिका आदि यूरोपीय देशों में बसे हुए भारतीयों को पुनः-पुनः प्रेरित करने की, जिससे उनका भाषा से स्नेह बना रहे।

आज हमें अपने ही मन में समाए हुए हिंदी के प्रति हीन भावना का मन करना होगा, तभी हिंदी विश्वभाषा का रूप ले सकेगी। अँग्रेज़ी जानना, समझना गलत नहीं है, किंतु अँग्रेज़ी

के प्रति जो गुलाम मानसिकता है, वह ग़लत है। अँग्रेज़ी की अनिवार्यता ग़लत है। अपने अस्तित्व, व्यक्तित्व को भूल दूसरे के रंग में रँगना ग़लत है। हम सब का उद्देश्य हिंदी को मानक भाषा के रूप में स्थापित करना होना चाहिए। हम सभी यह ध्यान रखें कि हमारा बच्चा तथा विद्यार्थी 87 (एट्टी सेवन) के साथ सत्तासी भी अवश्य जाने। हमें यह सोचना चाहिए कि शिक्षा प्राप्ति के लिए भाषा की अपेक्षा ज्ञान का बोध महत्वपूर्ण है जो किसी निश्चित भाषा से प्राप्त नहीं होता है। अतः हमारा यह सोचना नितांत भ्रामक है कि हिंदी में हमारा भविष्य कुहासे की ओर है तथा अँग्रेज़ी में स्वर्णिम।

विश्व में हिंदी ही एक ऐसी भाषा है, जिसके जन्म का एक निश्चित दिन है— 14 सितंबर 1949; अतः हमें यह दिवस इसी आशय और विश्वास के साथ मनाना चाहिए कि हिंदी संपूर्ण भूमंडल की भाषा बन समुन्नत और समृद्ध हो, क्योंकि 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल।'

संदर्भ

1. राजभाषा भारती, अंक: 120 वर्ष : 30 जनवरी-मार्च, 2008 में प्रकाशित डॉ॰ वीरेंद्रसिंह यादव का लेख 'विश्वपटल पर हिंदी की दशा एवं दिशा', पृ॰ 42
2. भूमंडलीकरण, ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, प्रभा खेतान, पृ॰ 14
3. राष्ट्रभाषा संदेश, 15 जनवरी, 2010, 'हिंदी केवल भाषा नहीं', प्रो॰ हरमहेंद्र सिंह बेदी, पृ॰ 10.
4. राष्ट्रभाषा संदेश, 15 जनवरी, 2010, 'हिंदी केवल भाषा नहीं', प्रो॰ हरमहेंद्र सिंह बेदी, पृ॰ 10.
5. राष्ट्रभाषा संदेश : 30 सितंबर, 2009, श्री विभूति मिश्र, पृ॰ 2
6. राजभाषा भारती अंक 120 वर्ष : 30 जनवरी-मार्च, 2008, 'बाज़ार में हिंदी' हरि नारायण ठाकुर, पृ॰ 7
7. भूमंडलीकरण : ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, प्रभा खेतान, पृ॰
8. समाजविज्ञान शोधपत्रिका, अप्रैल-सितंबर 2009, हिंदी जनसंचार की भाषा, डॉ॰ विजय कुलश्रेष्ठ, डॉ॰ बीना रुस्तगी, पृ॰ 10
9. राष्ट्रभाषा संदेश, 30 दिसंबर, 2006, पृ॰ 5
10. राष्ट्रभाषा संदेश, 15 जनवरी, 2010, 'हिंदी केवल भाषा नहीं', प्रो॰ हरमहेंद्र सिंह बेदी, पृ॰ 10
11. राष्ट्रभाषा संदेश, 30 सितंबर, 2009, श्री विभूति मिश्र, पृ॰ 2
12. राष्ट्रभाषा संदेश, 30 दिसंबर 2006, विश्वभाषा की ओर अग्रसर हिंदी, डॉ॰ श्यामसुंदर पांडेय, पृ॰ 5
13. राजभाषा भारती, अंक : 120 वर्ष, 30 जनवरी-मार्च 2008 बाज़ार में हिंदी, हरिनारायण ठाकुर, पृ॰ 13.

महर्षि दयानंद की देन : एक अध्ययन

रश्मि मलिक

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में जन्म लेकर जिन महापुरुषों ने भारतीय धर्म, राष्ट्र, समाज तथा संस्कृति की अपूर्व सेवा की, उनमें आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानंद का नाम अन्यतम है। उन्होंने न केवल स्वयं जीवन-भर मानव-जाति को आत्मिक और सांसारिक दोनों दृष्टियों से ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया, अपितु अपने बाद उस काम को जारी रखने के लिए 'आर्यसमाज' नामक संस्था की स्थापना भी की, जो आज भी देश-विदेश में जनता की सेवा कर रही है।

महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती का जन्म 12 फरवरी सन् 1825 ई० में गुजरात प्रांत की मौरवी रियासत के टंकारा ग्राम में श्री किशन जी तिवारी के यहाँ हुआ। उन्होंने चौदह वर्ष की आयु में शिव मंदिर में शिवलिंग की पूजा करते हुए उस पर चढ़े चूहे को देखकर मूर्ति-पूजा को निरर्थक महसूस किया। उसके पश्चात् अपनी छोटी बहन तथा चाचा की मृत्यु को देखकर मृत्यु के भय से बचने का उपाय सोचना आरंभ कर दिया। इक्कीस वर्ष की आयु में घर छोड़ दिया। बहुत से योगियों से योग सीखा तथा विद्वानों से विद्या पढ़ी। भ्रमण भी बहुत किया, परंतु संतुष्टि न हुई। अंत में छत्तीस वर्ष की आयु में मथुरा जाकर स्वामी विरजानंद जी से अढ़ाई वर्ष तक व्याकरण तथा अन्य आर्ष ग्रंथ पढ़े। उसके पश्चात् ही वे कार्यक्षेत्र में उतरे।

भारतीय जनमानस और समाज को महर्षि दयानंद ने ऐसी अमूल्य धरोहर प्रदान की है, जिसका ऋणी भारतीय समाज हमेशा रहेगा। इस महापुरुष के कार्यों व भारतीय समाज को इनकी देन का अनुमान भी हम नहीं लगा सकते, परन्तु संक्षिप्त में विभिन्न ग्रंथों को पढ़कर एक रूपरेखा तैयार की है, जो इस प्रकार है—

1. वेदज्ञान का प्रचार :

संसार वेदों को भूल चुका था। लोग नहीं जानते थे कि वेद के अंदर है क्या? वेद के संबंध में अनेक भ्रांत धारणाएँ व्याप्त थीं। पुराण, कुरान आदि का चारों ओर बोल-बाला था। शंकराचार्य के बाद महर्षि दयानंद ने वेद के उद्धार और प्रचार का कार्य करके मनुष्य-मात्र का मानव धर्मशास्त्र से पुनः सही परिचय करवाया। स्वामी दयानंद ने डंके की चोट से घोषणा की कि सभी सत्य विद्याएँ वेद के अंदर हैं, जो सृष्टि के आरंभ में ईश्वर ने सभी मनुष्यों के कल्याण के लिए दी तथा वेद के अंदर कुछ भी ग़लत या निरर्थक नहीं है। उन्होंने वेद को स्वतः प्रमाण माना। जो बात वेदानुकूल वह ठीक और जो वेदविरुद्ध उसे ग़लत बताया। आर्यसमाज की मान्यता है कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

2. शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार :

ब्राह्मणों ने, यहाँ तक कि शंकराचार्य तथा रामानुज आदि आचार्यों ने भी शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार न दिया, परंतु महर्षि दयानंद ने घोषणा की कि वेद पढ़ने का अधिकार मनुष्य-मात्र को है। जैसे ईश्वर के दिए हुए सूर्य का प्रकाश और गर्मी, हवा आदि उपभोग करने का अधिकार सबको है, ऐसे ही ईश्वरीय-ज्ञान वेद पढ़ने का अधिकार सबको है, शूद्रों को भी है। महर्षि के अनुसार शूद्र अस्पृश्य नहीं हैं और वस्तुतः किसी भी मनुष्य को अछूत मानना किसी भी दृष्टि से समुचित नहीं है। पुरातन इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि अपने हीन कर्मों के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय भी शूद्रत्व को प्राप्त हो जाते थे और शूद्रों ने भी अपने अध्यवसाय एवं अन्य गुणों के कारण ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था। स्वामी जी कहते थे—‘छोटा हो या बड़ा, ऊँच हो या नीच, राजा हो या रंक, सभी मानव ईश्वर की संतान हैं। अतः इनमें भेदभाव या जात-पात को प्रश्रय देना वृथा है। यह ऐसी प्रथा है, जिससे हमारी सामाजिक शक्ति क्षीण हो जाएगी। सामाजिक शक्ति क्षीण हो जाने से न तो मानव-कल्याण हो सकेगा और न देश का उद्धार ही।’

3. ब्रह्मचर्य:

आर्यों में बाल-विवाह का प्रचलन और ब्रह्मचर्य का लोप हो जाने से शारीरिक बल कम हो रहा था। आर्यजाति औरों की तुलना में कमजोर मानी जाने लगी थी। इसी कारण से उसे समय-समय पर अपमानित भी होना पड़ा। महर्षि दयानंद ने इसके विरुद्ध प्रबल आवाज उठाई। अपने जीवन से तथा उपदेशों से ब्रह्मचर्य का सिक्का बिठा दिया। महर्षि ने कहा कि ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर पूर्ण विद्या प्राप्त कर चुकने और युवा हो जाने के पश्चात् ही स्त्री-पुरुषों को विवाह करना चाहिए। यह भी बलपूर्वक कहा है कि विवाह-बंधन में बँधते हुए स्त्री-पुरुषों को समान गुण, कर्म, स्वभाव का होना आवश्यक है। बाल-विवाह के कारण देश में करोड़ों बाल-विधवाएँ थीं, जिनमें एक-एक, दो-दो वर्ष की बच्चियाँ भी थीं। बाल-विवाह के विरुद्ध प्रचार करके तथा विधवा-विवाह की वकालत करके देश से इस पाप को मिटाया।

4. समानता का उद्घोष :

मत-मजहबों और पाखंडों ने मनुष्य-जाति को टुकड़ों में बाँट दिया था। ऊँच-नीच की विचारधारा ने देश को परतंत्रता के पाश में बाँध दिया था। हजारों जातियाँ, हजारों उपजातियाँ, उनमें भी प्रत्येक के अगणित भेद। समाज विघटित हो गया था। महर्षि दयानंद ने जातपात का घोर विरोध किया। उन्होंने इसे वेद-विरुद्ध बताया। उन्होंने गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि जो विद्या नहीं पढ़ा है, वह शूद्र है, चाहे वह ब्राह्मण के घर पैदा हुआ हो और जो पढ़ा-लिखा विद्वान् है, वह ब्राह्मण है, चाहे वह शूद्र के घर पैदा हुआ है। स्वामी दयानंद ही एकमात्र ऐसे श्रेष्ठ आत्मा हुए हैं, जो मानव-जाति में जन्म से किसी भी स्तर पर, किसी भी भेदभाव को स्वीकार नहीं करते। उन्होंने सभी मनुष्यों को एक ईश्वर का पुत्र होने के नाते धरती पर भाई-भाई की तरह मिलकर रहने की प्रेरणा दी।

5. हिंदी प्रचार :

हिंदीभाषा उर्दू और अँग्रेज़ी की वेदी पर बलिदान हो चुकी थी। हिंदी गंदी कहलाने

लगी थी। हिंदी पुस्तक और हिंदी अखबार पढ़ना फ़ैशन के विरुद्ध समझा जाने लगा था। महर्षि दयानंद ने स्वयं गुजराती होते हुए भी हिंदी को अपनाया तथा हिंदीभाषा को सारे देश की भाषा बनाने के लिए प्रचार किया। सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेद-दिभाष्य भूमिका, संस्कार-विधि आदि अपने ग्रंथ उन्होंने हिंदी में ही लिखें। राष्ट्र की एकता के लिए भाषा की एकता को वे परम आवश्यक मानते थे।

6. आत्महीनता से मुक्ति :

महर्षि दयानंद ने मृतप्रायः आर्य-जाति को नया जीवन और शक्ति प्रदान की। अपने अस्तित्व को भूलकर मुगलों-अँग्रेजों के शासन-तंत्र में पिसकर हीन भावना से ग्रस्त राष्ट्र अपनी गौरव-परंपरा को भूल चुका था। अपने इतिहास एवं साहित्य की वास्तविकता से अपरिचित भारतवासी इन पर गर्व करने की जगह शर्म करने लगे थे। इस अवस्था को प्राप्त हताश, निराश व प्रसुप्त आर्यजाति को पुनः सिंह-समान गर्जन करने का साहस महर्षि दयानंद ने ही दिया। महर्षि दयानंद ने ही भारत के साहित्य, दर्शन व आध्यात्मिक ज्ञान को संसार में सर्वोच्च घोषित करते हुए भारतीय जनमानस में स्वाभिमान जाग्रत किया। वह स्वामी दयानंद ही हैं, जिन्होंने कहा था कि जब भारत के लोग कला-कौशल व ज्ञान-विज्ञान में उन्नति के शिखर पर थे, तब अँग्रेज लोग जंगली, असभ्य जीवन बिताते थे।

7. स्त्रियों की स्थिति :

समाज में स्त्रियों का सम्मान न था। आदिगुरु शंकराचार्य ने उन्हें 'नरक का द्वार' बताया। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी। महर्षि दयानंद ने उन्हें सम्मान के योग्य बताया तथा महर्षि मनु के अनुसार घोषणा की—

‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रिया।’

अर्थात् जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है उस घर में उत्तम गुण, उत्तम संतान होती है। जिस घर में स्त्रियों का सम्मान नहीं होता, उस घर में चाहे कुछ भी यत्न करो, सुख की प्राप्ति नहीं होती। ऋषि दयानंद के आने से पहले, स्त्रियों को परदे में रखा जाता था तथा उन्हें शिक्षा से वंचित रखा जाता था। महर्षि ने स्त्रियों की शिक्षा की जोरदार वकालत की। उन्होंने कहा कि स्त्रियों को सम्मान दिलाने के लिए, संतान की उत्तम शिक्षा के लिए तथा समाज की उन्नति के लिए स्त्रियों को शिक्षित करना परम आवश्यक है।

8. ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण :

महर्षि दयानंद की संसार को सबसे बड़ी देन है— ईश्वर के सच्चे स्वरूप का व्याख्यान। महर्षि दयानंद के मन में बाल्यकाल में जिस जिज्ञासा ने जन्म लेकर उन्हें मूलशंकर से ऋषि दयानंद बनाया था, वह प्रभु को जानने और उससे मिलने की भावना ही थी। परमात्मा के सत्य स्वरूप को भूलने के कारण ही धरती पर अज्ञान एवं पाखंड का विस्तार हुआ था। महर्षि दयानंद ने ही संसार को बताया कि ईश्वर सच्चिदानंद स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक,

अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। स्वामी दयानंद ने जोर देकर कहा कि ईश्वर एक है। ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, शिव आदि उसी एक ईश्वर के गुणवाचक नाम हैं। बहुदेववाद का आर्यसमाज ने ज़बरदस्त खंडन किया तथा वेदों से ही एकेश्वरवाद को सिद्ध कर दिया। अतः मनुष्य चित्त को पवित्र करके अपने मन को आत्मदर्शन की स्थिति में लाएँ, तब उसे अपना भी प्रत्यक्ष होगा और परमात्मा का भी।

9. विधर्मियों से टक्कर :

महर्षि दयानंद से पहले मुसलमान और ईसाई धर्मांतरण का अभियान चला रहे थे। वैदिक धर्म के विरोधियों से उन्होंने जमकर टक्कर ली। अपने अमर ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' में एक पूरा समुल्लास (अध्याय) ईसाइयों के संबंध में बाइबल के आधार पर दिया और एक पूरा समुल्लास मुसलमानों के संबंध में कुरान के आधार पर दिया। उनमें जो बातें सृष्टि नियम, विज्ञान, बुद्धि और तर्क के विरुद्ध हैं, वे दिखाकर सिद्ध किया कि बाइबल और कुरान ग़लत बातों से भरी पड़ी हैं। इस कारण से ये न ईश्वर ने बनाई हैं और न ही विद्वानों ने बनाई हैं। महर्षि दयानंद के तर्क की वे काट न कर सके। इस प्रकार उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वैदिक धर्म ही संसार में एकमात्र सच्चा धर्म है। भारत के सामाजिक उत्थान में अपना अपूर्व योगदान प्रदान करनेवाले दक्षिण भारतीय श्री अनंतशयनम् आर्यंगार ने उनके संबंध में यह लिखा— 'यदि महर्षि दयानंद हमें मार्ग न दिखाते, तो अँग्रेज़ी शासन में उस समय सारा पंजाब मुसलमान हो जाता और सारा बंगाल ईसाई हो जाता। महर्षि ने सारे विश्व को आर्य बनने की प्रेरणा दी। महर्षि स्वामी दयानंद ने यह सिद्ध कर दिया कि जगत् की सब संस्कृतियों में सबसे अच्छी संस्कृति आर्यों की है। उन्होंने ईसाई मत और इस्लाम के हमलों से देश की रक्षा की।' महात्मा गांधी का पुत्र हीरालाल गांधी जब मुसलमान बन गया, तब वह आर्यसमाज ही था, जिसने हीरालाल को हिंदू बनाकर माँ कस्तूरबा की गोद में ला बिठाया था।

महान् विद्वान होने के साथ-साथ स्वामी दयानंद बहुत बड़े योगी भी थे। वे आदि ब्रह्मचारी थे। शारीरिक बल, मानसिक बल, बुद्धिबल तथा आत्मिक बल उनमें ग़ज़ब का था। स्वराज्य-प्राप्ति की तथा राष्ट्रीयता की भावना उनमें कूटकूट कर भरी हुई थी। वे एक ईश्वर को मानते थे। मूर्ति-पूजा को सभी बुराइयों की जड़ मानते थे। वे कहते थे कि जड़ पूजा करने वालों की बुद्धि भी जड़ हो जाती है। दूध और बैलों की प्राप्ति के लिए गाय को देश का आर्थिक आधार मानते थे। गोहत्या बंद करवाने के लिए उन्होंने हस्ताक्षर अभियान चलाया, 'गोकर्णानिधि' नाम की पुस्तक लिखी तथा 'गोकृष्णयादि रक्षिणी सभा' की स्थापना की। हस्ताक्षर अभियान के दौरान ही 1889 में दीपावली की सायं उनकी मृत्यु हो गई। अतः प्रो० मैक्समूलर के ये शब्द उचित प्रतीत होते हैं 'स्वामी दयानंद आर्यसमाज के संस्थापक तथा अग्रणी नेता थे। वे एक विद्वान पुरुष थे तथा अपने धार्मिक साहित्य के पूर्ण जानकार थे। वे समाज-सुधारक भी थे और अपनी व्यक्तिगत निंदा को सहन करते हुए भी उन्होंने अपने कर्तव्य का दामन कभी नहीं छोड़ा।'

संदर्भ

1. लाजपतराय—आर्यसमाज का इतिहास, नई दिल्ली, 1993

2. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, विद्यालंकार, सत्यकेतु, आर्य स्वाध्याय केन्द्र
3. महर्षि के पूना व्याख्यान, उपदेश मंजरी
4. सरस्वती, दयानंद संस्कार विधि, अजमेर 1977
5. सरस्वती, दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश, सर्वादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, 1973
6. स्वामी दयानंद के सिद्धांत, रामजीलाल शर्मा, हिंदी प्रेस, प्रयाग 1981
7. लाजपतराय, महर्षि दयानंद सरस्वती और उनका काम।
8. आर्यसमाज का इतिहास, चौथा भाग, विद्यालंकार, सत्यकेतु, समाजसुधार के क्षेत्र में आर्यसमाज का कार्यकलाप, आर्य स्वाध्याय केन्द्र
9. गर्ग, कृष्णचंद्र, आर्य मान्यताएँ, आर्य समाज की उपलब्धियाँ, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1975
11. भारतीय, भवानी लाल, आर्य समाज अतीत की उपलब्धियाँ, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1975

□ बूथ नं० 36, दीवानखाना
रानी तालाब, जींद (हरियाणा)

पर्यावरण प्रदूषण : वैदिक अवधारणा एवं समाधान अथर्ववेद के परिप्रेक्ष्य में

डा० साधना सहाय

रीडर, इ०ने०स्ना० महिला

महाविद्यालय, मेरठ

मानव अथवा समस्त प्राणिजगत जिस वातावरण में जन्म लेते हैं, पलते हैं, बढ़ते हैं या विकास को प्राप्त होते हैं, वह वातावरण उसका पर्यावरण कहलाता है। पर्यावरण के अंतर्गत प्रायः जल, वायु, पृथ्वी तथा वृक्ष आदि माने जाते हैं। संतुलित पर्यावरण में जलवायु आदि प्रत्येक अवयव का निश्चित मात्रा में अनुपात उपस्थित होता है। जब इन अवयवों का संतुलन बिगड़ जाता है, तब जीवधारियों के रहने-योग्य वातावरण में ख़तरा उत्पन्न हो जाता है। इसी को प्रदूषण कहते हैं। प्रदूषण जल, वायु, पृथ्वी, भौतिक, रासायनिक तथा जैविक विशेषताओं का वह अवांछनीय परिवर्तन है जो मनुष्य, जीव-जंतुओं एवं वनस्पति-जगत् को हानि पहुँचाता है तथा भाँति-भाँति के रोगों का जन्मदाता बन जाता है।

आज संपूर्ण भारत में तथा भारत में ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व में जिस प्रकार पर्यावरणीय ख़तरा उत्पन्न हो गया है, जिस पर ग्लोबल वार्मिंग नाम से चर्चाएँ एवं समाधान आदि ढूँढे जा रहे हैं, उसका प्रमुख कारण मानव द्वारा वैदिक अवधारणा तथा सम्यक् ज्ञान का न होना है। आज के मानव को यह विदित नहीं कि वैदिक ऋषि वनस्पति-जगत् को जीव मनाते आए हैं। आज का मानव उसे जड़ समझ बैठा है, इसीलिए बिना किसी संकोच के वृक्षों को काटना, उखाड़ना, जलाना आदि कुकृत्य करता है। यदि मनुष्य को यह ज्ञान हो जाए कि जिस प्रकार किसी मनुष्य, पशु, पक्षी को मारना हत्या है, उसी प्रकार फलते-फूलते वृक्षों को काटना भी जीव-हत्या है तो वह यह कुकृत्य कदापि न करे। अथर्ववेद में ऋषि अथर्वा स्पष्ट घोषणा करते हैं कि पृथ्वी पर तिनके से लेकर मनुष्य-पर्यंत समस्त सृष्टि की, जीव की माता पृथ्वी है, पिता पाँच हैं। यहाँ तिनके से अभिप्राय वनस्पति-जगत से है तथा माता-पिता जीवों के ही होते हैं। अतः स्पष्ट है कि ऋषि यहाँ पर वनस्पति-जगत् को प्राणवान मानकर ही यह बात कह रहे हैं। ये पाँच पिता हैं— पर्जन्य, मित्र (प्राणवायु) वरुण, चंद्र और सूर्य। इनके विषय में ऋषि कहते हैं—

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्यम्॥

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्यम्॥

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्यम्॥

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्यम्॥

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्यम्॥¹

ऋषि द्वारा वर्णित इन पाँचों पिताओं पर यदि विचार करें तो स्पष्ट रूप से पता चलता है कि मानव जब तक जल, वायु, वनस्पति (चंद्र) तथा सूर्य आदि महत्त्वपूर्ण पर्यावरणीय अवयवों के महत्त्व को नहीं स्वीकारेंगे तब तक इस दृश्यमान जगत् को रोगों से और विनाश से नहीं बचा सकेंगे। ऋषि के अनुसार प्रथम पिता है पर्जन्य, जो वर्षा करके जल-सिंचन द्वारा समस्त पृथ्वी का रक्षण करते हैं। मनुष्य को जहाँ पीने और विभिन्न कार्यों के लिए जल की आवश्यकता होती है, वहीं वृक्षों की अभिवृद्धि होती है तथा खेती भी समय पर होनेवाली वर्षा से ही होती है। वृक्ष, फल-फूल लकड़ी, अन्न आदि के माध्यम से मानव के भरण-पोषण का माध्यम बनते हैं। यही कारण है कि अथर्ववेद में अन्य स्थलों पर भी जल की महत्ता वर्णित करते हुए कहा गया है—

सोम ने मुझे कहा जल में सब औषधियाँ हैं²

जल में अमृत है, जल में औषध गुण हैं³

हे जलो मुझे औषध दो और मेरे शरीर को संरक्षण दो।⁴

जल अपने तेज से मुझमें और वनस्पतियों में प्रकाश, ओज बल और वीर्य भर दें।⁵

जल हमारे भीतर रमणीयता बनाए रखें।⁶

इस जल के माध्यम से तुझे आनुवांशिक रोग से मुक्त रखता हूँ।⁷

ये जल हमें सुख-शांति दें।⁸

इन मंत्रों से वैदिक अवधारणा स्पष्ट पता चलती है कि स्वच्छ जल में औषधियाँ होती हैं, जो प्राणिमात्र को निरोगी रखती हैं। यह जल ओज, बल, वीर्य, त्वचा को कांति देने वाला तो है ही बहुत से आनुवांशिक रोगों से भी मुक्ति प्रदान करनेवाला है। वृक्ष जो हमारे सुखद जीवन के अनिवार्य तत्त्व हैं जल उनमें भी यही सब जीवनीय तत्त्व भर देता है। यदि आज का मानव ऋषियों द्वारा बताए गए इन विचारों को आत्मसात् कर ले, जल को अशुद्ध न होने दे, उसको व्यर्थ में नष्ट न करे, उसकी एक-एक बूँद को सुरक्षित करे, उसका सम्मान करे, तो अपने जीवन में सुख-शांति भर सकता है तथा संपूर्ण पृथ्वी-मंडल को प्रदूषित होने से बचाया जा सकता है और उसको अनेक रोगों से बचाया जा सकता है।

दूसरा पिता मित्र अर्थात् प्राणवायु को माना गया है। मानव को प्राणवायु के रूप में आक्सीजन की आवश्यकता होती है तो वृक्षों को कार्बनडाइआक्साइड चाहिए। मानव द्वारा छोड़ी गई कार्बन डाइआक्साइड को वृक्ष स्वयं में आत्मसात् कर लेते हैं और वातावरण को प्रदूषण-मुक्त बनाते हैं। साथ ही मनुष्य को जीवित रहने के लिए आक्सीजन को छोड़ते हैं। वास्तव में वृक्ष मानव-जाति का सच्चे बंधु हैं, उसके संरक्षक हैं, उसके अत्यधिक प्रिय साथी हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए वनस्पति-जगत् पर आश्रित रहना है। अतः उसे सम्मान देना होगा, वृक्षों में जीवन मानते हुए उन्हें संरक्षण देना होगा। इसके अतिरिक्त प्राण की बहुत सुंदर विवेचना अथर्ववेद के कांड दो के सूक्त तीन के दूसरे मंत्र में दी गई है—प्राणशक्ति इधर आती है और परे जाती (आयन्ति परायन्ति) है। प्राण की दो गतियाँ वेदों में बताई गई हैं। एक आना तथा दूसरा जाना। श्वास और उच्छ्वास ये दो गतियाँ ही प्रसिद्ध हैं। इनके प्राण और अपान ये दो नाम भी मिलते हैं।⁹ इस प्राणवायु को शोधन कर आरोग्यवर्धक बनाया जाना चाहिए। प्राणायाम आदि साधना न करने वालों का प्राणवायु

निष्क्रिय एवं जड़ होने से शरीर को शुद्ध नहीं कर पाता और शरीर रोगग्रस्त हो जाता है। अतः किसी भी प्रकार के प्रकोप से बचने के लिए प्राणवायु का शोधन वैदिक अवधारणा भी है और समाधान भी। प्राणायाम द्वारा मनुष्य के शरीर के भीतरी अवयवों में रक्त-संचार होता है, वात, पित्त और कफ का संतुलन बना रहता है तथा दूषित तत्त्व वायु द्वारा कार्बनडाइआक्साइड के रूप में बाहर निकलते हैं। अतः योगासन, प्राणायाम आदि के द्वारा भी प्राणवायु को शोधन कर जीवन में आरोग्यता उत्पन्न की जा सकती है।

तीसरा पिता वरुण को माना गया है। वरुण मुख्यतः समुद्रदेव है। जलसूक्त में ऋषि सिंधुदीप जल के लिए कहते हैं कि जल उनके लिए माता और बहन के समान हितकारक होता है जो उनका उत्तम उपयोग करना जानते हैं। जल की नदियाँ बह रही हैं मानो वह दूध में शहद मिला रही हैं। जो जल सूर्य-किरण से शुद्ध बनता है अथवा जिसकी पवित्रता सूर्य करता है, वह जल हमारा आरोग्य सिद्ध करें। जिन नदियों में हमारी गौ जल पीती हैं, जिनके लिए हवि बनाया जाता है, उनके जल का गुणगान करना चाहिए। जल में अमृत है, जल में औषध है, जल के शुभ गुण से छोड़े बलवान बनते हैं और गौवें भी बलवती बनती हैं।¹⁰

इसी प्रकार सूक्त पाँच में जल का वर्णन है।¹¹ इन सूक्तों का निष्कर्ष निकालें तो पता चलता है कि ऋषियों ने जल को श्रेणियों में विभक्त किया है—उत्तम, मध्यम और अधम, जो इस प्रकार है¹²—

1. मेघों या पर्जन्य से प्राप्त होनेवाला जल दिव्याः कहा गया है।
2. वर्षा से प्राप्त होनेवाला जल अर्थात् जो आकाश से उतरकर आकाश और पृथ्वी के मध्य से वायुमंडल से आता है उसे वार्षिकी आपः कहा गया है।
3. नदी और समुद्र से प्राप्त होनेवाला जल सिंधु नाम से वर्णित है।
4. जलमय प्रदेश में प्राप्त होनेवाला जल अनूप्याः है।
5. मरुप्रदेश, रेतीले देश में अथवा थोड़ी वृष्टि होनेवाले देश में प्राप्त होनेवाला जल धनवन्याः कहा गया है।
6. खोदकर बनाए हुए बावली से प्राप्त होनेवाले जल को खनित्रिमाः जल कहा गया है।¹³

इन मंत्रों में ऋषियों ने स्पष्ट कर दिया है कि एक ही जल विभिन्न स्थानों में विभिन्न गुणधर्मों से युक्त होता है। जैसे सूर्य की किरणों के संपर्क में रहनेवाला जल उस जल से भिन्न धर्म एवं गुणवाला होगा, जो अँधेरे में रहने के कारण सूर्य की किरणों से वंचित रहता है। इसी प्रकार नदियाँ अपने मार्ग से चलती हैं, बहती हैं, अतः एक स्थान पर स्थिर रहनेवाला जल नदियों के गतिमान जल से भिन्न गुणधर्म वाला होगा। पोखरों, बावड़ियों में जहाँ जल जमा हो जाने से उसमें कीट-पतंगे उत्पन्न हो जाते हैं, भिन्न धर्म-गुण वाला हो जाता है। जो जल वृक्षादि की निकटता वाले होते हैं उनमें पत्तियाँ, फूल, टहनी आदि गिरते रहकर सड़ने से उसका गुणधर्म बदल जाता है। इसी प्रकार जिस जलाशय में गाय, भैंस आदि पशु जल पीते हैं, वह जल भी भिन्न गुण-धर्म वाला हो जाता है। अतः मानव को यह निश्चित करना होगा कि कौन-सा जल ग्राह्य है और कौनसा त्याज्य।

अथर्ववेद में 'अप्सु अमृतम्', तथा 'अप्सु भैषजम्', 'शिवतमः रसः', 'आपो मयोभुवः', 'अप्सु विष्वानि भौषजानि', आपः प्रणति-भेषजम्, आपो याचामि भेषजम् कहकर

उसकी महत्ता प्रतिपादित की गई है। इस प्रकार अथर्ववेद की जल-संबंधी अवधारणा तो पता चलती ही है, साथ ही हमें समाधान भी प्राप्त होता है कि आकाश से गिरनेवाले जल का सेवन आरोग्यवर्धक है। सूर्य की किरणों के संपर्क में रहनेवाला स्वच्छ जल दिव्य जल है या श्रेष्ठ जल है। स्थिर या गतिहीन जल तुच्छ जल है या अँधेरे में रहनावाला जल उत्तमकोटि का नहीं है अथवा जिस जल में पत्ते पौधे आदि सड़ते हो या जहाँ गायें आदि पानी पीती हैं, वे उत्तम जल नहीं हैं। इसी प्रकार गतिरहित अर्थात् एक स्थान पर भरा हुआ जल निम्नकोटि का होता है, इसीलिए त्याज्य है।

चौथा पिता चंद्र है। चंद्रमा औषधियों का राजा बताया गया है। इसका दूसरा नाम मंत्रों में सोम मिलता है। सोमादि औषधियों से निरोगिता प्राप्त करने की विधि चरक आदि आचार्यों ने चरक संहिता में दी है। अथर्ववेद में अनेक ऐसे सूक्त हैं, जिनमें अनेकानेक व्याधियों को दूर करने के उपाय या औषधियाँ बताई गई हैं। अथर्ववेद के कांड दो के तीसरे सूक्त (आरोग्य) में औषधि के लिए कहा गया है कि पर्वत के ऊपर से, समुद्र के भीतर से तथा समुद्र पृथ्वी के ऊपर से अनेकानेक औषधियाँ लाई जाती हैं। इन औषधियों से मनुष्य के घाव, व्रण तथा अन्यान्य रोगों को दूर किया सकता है। इसके प्रयोग से मानव स्वयं को अनेकानेक रोगों से बचा सकता है और वातावरण को रोगमुक्त बना सकता है। इसी प्रकार प्राणि-मात्र के जीवन को आरोग्यता प्रदान करनेवाले वृक्षों और वनस्पति का उल्लेख भी अथर्ववेद में मिलता है। समुद्री वनस्पति पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष एवं जल से प्राप्त औषधियों से मानव-जीवन को प्रदूषण या पर्यावरण के बिगड़े संतुलन से होनेवाली बीमारियों से बचाया जा सकता है। इनमें रोहिणी वनस्पति¹³, लाक्षावनस्पति¹⁴, पिप्पली वनस्पति¹⁵ आदि अनेक वनस्पतियों का उल्लेख अथर्ववेद में प्राप्त होता है।

सूर्य सबका जीवनदाता है। यदि सूर्य न रहे, उसका प्रकाश या ताप न रहे तो जीवन असंभव हो जाएगा। मानव ही नहीं, अपितु पशु, पक्षी और वनस्पति-जगत् जो सूर्य की ऊष्मा से ही अपना भोजन पकाते हैं, ये सब नष्ट हो जाएँगे। सूर्य के संबंध में यह वैदिक अवधारणा है कि सूर्य पवित्रता देनेवाला है। सूर्य की किरणें जीवनीय तत्त्व चहुँ ओर फैलाती हैं, क्योंकि सूर्य की प्रखर किरणें अनेकानेक रोग के जीवाणुओं को समाप्त कर देती हैं। सूर्य की किरणों में स्नान (जो विदेशों में भी सनबाथ नाम से लिया जाता है) करने की विधि इसीलिए दी गई, क्योंकि यह शरीर के अंग-प्रत्यंगों को निरोगी करती हैं तथा इसकी किरणों से विटामिन-डी आदि भरपूर मात्रा में प्राप्त होते हैं, जो हड्डियों को पुष्ट बनाते हैं। यही कारण है कि नवजात शिशु के मालिश करने के उपरांत सूर्य की धूप में लिटाया जाता है। इतना ही नहीं पीलिया नामक रोग में भी चिकित्सक बालक की देह को धूप दिखाने की बात करते हैं। इतना ही नहीं सर्दी लग जाने पर अर्थात् जुकाम या छींक आदि लगने पर सूर्य की किरणों में ही बैठा जाता है, जिससे लाभ होता है। सूर्य की ओजोन पर्त किरणों को छानकर पृथ्वी तक भेजती है, किंतु मानव ने सूर्य के महत्त्व को भी नहीं समझा और औद्योगीकरण की अंधी दौड़ में सम्मिलित हो गया। परिणाम ओजोन पर्त में छिद्र के रूप में सामने है। यदि यह ओजोन पर्त फट जाती है तो मानव-जाति का विनाश निश्चित है। अतः सूर्य को पिता समान मानते हुए वायुमंडल को शुद्ध रखना होगा। ए०सी० से निकलनेवाली गैसों तथा कल-कारखानों से निकलते हुए धुएँ

के गुब्बारों को रोकना होगा, तभी स्वच्छ, साफ़, निर्मल तथा स्वास्थ्यवर्धक सूर्य का ताप हमारा संरक्षण कर पाएगा।

वेदों में, विशेष रूप से ऋग्वेद में, सूर्य की महिमा का गान एवं उसे मानवजीवन के लिए उपयोगी बताए जाने से 'सूर्य किरणों से चिकित्सा' इस शास्त्र का ही निर्माण हो गया। वनस्पतियों को पनपने के लिए जहाँ जल की महती आवश्यकता होती है, वहीं सूर्य की भी परम आवश्यकता होती है, क्योंकि पेड़-पौधे अपना भोजन सूर्य के प्रकाश में ही बना पाते हैं, जो हम फल, सब्जी आदि के रूप में प्राप्त करते हैं और हमारा जीवन-यापन सुचारु रूप से होता है। अतः ऋषियों की सूर्य-नमस्कार की अवधारणा को समझते हुए वायुमंडल को प्रदूषण-मुक्त रखना होगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि वैदिक अवधारणा यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को जल को स्वच्छ रखना चाहिए, उसका अनावश्यक दोहन नहीं करना चाहिए। उसके साथ प्राणवायु का शोधन भीतर से करना चाहिए तथा सूर्य और जल की सहायता से वनस्पतियों को सुरक्षित कर पर्यावरण को प्रदूषण से बचाना चाहिए, तभी एक निरोगी, बलशाली, खुशहाल वातावरण का सृजन हो सकेगा और पर्यावरण प्रदूषण-मुक्त हो सकेगा।

संदर्भ

1. अथर्ववेद, 1.3.3
2. अथर्ववेद, 1.6.2
3. अथर्ववेद, 1.4.4
4. अथर्ववेद, 1.6.3
5. अथर्ववेद, 1.35.3
6. अथर्ववेद, 1.5.1
7. अथर्ववेद, 3.7.5
8. अथर्ववेद, 1.33
9. पं० दामोदर सातवलेकर, अथर्ववेद काण्ड 2 पृ० 25
10. अथर्ववेद, 1.4.1-4
11. अथर्ववेद, 1.5.1-4
12. शं नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु पीतये। शं येरभिः स्रवन्तु नः 1.6.1
अप्सु में सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्॥ 1.6.2
आपः पृणीत भेषजं वरूथं वन्वेउ मम। ज्योक् च सूर्यं दूशो॥ 1.6.3
शं न आपो धन्वन्याइः शमु। सन्त्वनूप्याः।
शं न खनित्रिमा आपुः शभु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तुवार्षिकीः। 1.6.4
13. अथर्ववेद, 4.12.1, 6-7
14. अथर्ववेद, 5.5-17
15. अथर्ववेद, 6.10.9

रामधारीसिंह दिनकर के काव्य में प्रणय

डॉ० किरण वालिया

प्राचार्या,

ऐपीजे सरस्वती कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय,

चरखी दादरी (भिवानी) हरियाणा

प्रणय-भाव का निकटस्थ अथवा समानधर्म शब्द 'प्रेम' अथवा प्रेमानुभूति माना जाता है, परंतु सूक्ष्म विश्लेषणोपरांत यह स्पष्ट होता जाता है कि 'प्रेम' शब्द की अर्थगत व्याप्ति अत्यंत विस्तृत है, जबकि प्रणय एक सीमित अर्थ को इंगित करता है। किसी व्यक्ति या प्राणी के अन्य व्यक्ति या प्राणी अथवा निर्जीव वस्तु के प्रति संवेगात्मक आकर्षण को 'प्रेम' की संज्ञा दी जाती है, परंतु प्रणय में संवेगात्मक आकर्षण विपरीत योनि के प्रति आकर्षण है। प्रेम किसी से संभव है- माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री, पुस्तक, देश, भ्रमण और यहाँ तक किसी विशिष्ट खाद्य पदार्थ से भी, पर प्रणय केवल विपरीत योनि से ही संबंधित है।

पारंपरिक तथा आधुनिक साहित्य में प्रणय, प्रेम का अंश रूप है तथा परंपरागत रूप से यदा-कदा इसका समानार्थक शब्द भी मान लिया जाता है। प्रेम पर बहुत-कुछ लिखा गया है और बहुत-कुछ लिखा जा रहा है। प्रेम का जितना अंश प्रकट है, उससे कहीं अधिक मानव-मन की सतहों में डूबा होता है। इसकी तुलना जल में तैरते हिमखंड से की जा सकती है, जिसका अधिकांश भाग पानी की सतह में डूबा हुआ होता है। कुछ आलोचक तो प्रणय के संबंध में यहाँ तक कह देते हैं कि इसका जितना भाग दृष्टिगत है, उसके विषय में भी हम पूर्णतया भिन्न नहीं।¹ परंतु प्रेम में इतनी सामर्थ्य है कि इसके बल पर व्यक्ति सारे विश्व पर शासन कर सकता है। आचार्य शुक्ल ने प्रेम को किसी व्यक्ति के प्रति मन की ललक तथा एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग कहा है।² किसी ने चेतन प्राणियों को एक-दूसरे से बाँधने वाली, उन्हें जोड़ने और एक करने वाली शक्ति माना है। प्रेम मानव-हृदय की उस व्यापक वृत्ति का नाम है, जिसका प्रकाशन जीवन एवं काव्य में विविध रूपों में आया है। प्रेम की व्यापक परिभाषा देते हुए शुक्लजी कहते हैं-

'किसी प्रकार का सुख या आनंद देनेवाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिति को, जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पड़े, लोभ कहते हैं। विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ सात्त्विक रूप प्राप्त करता है, जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य जाति के प्रति होता है, वहाँ वह लोभ ही रहता है, पर जहाँ किसी जाति के किसी एक ही व्यक्ति के प्रति होता है, वहाँ रुचि या प्रीति का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है तथा प्रेम विशेषोन्मुख।³ शुक्लजी द्वारा दी गई उपर्युक्त परिभाषा में प्रेम तथा प्रणय दोनों के स्वरूप की झाँकी मिल

जाती है, पर शुक्लजी का यह कथन कि लोभ सामान्य के प्रति होता है तथा प्रेम विशेष के प्रति, किंचित स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। प्रेम सामान्य के प्रति भी हो सकता है, जैसे विश्व-प्रेम, मानव-मात्र से प्रेम आदि। प्रणय तथा काम का गहरा संबन्ध होते हुए भी प्रणय तथा काम में काफ़ी अंतर है। प्रणय के मूल में काम-भावना अवश्य रहती है। परंतु कामुकता में अधिकतर रूपलिप्सा एवं शारीरिक भूखा रहने के कारण निम्न प्रवृत्ति का आधिक्य रहता है, जबकि प्रणय में दांपत्य-प्रेम के साथ-साथ विशुद्ध भाव भी विद्यमान रहता है।

प्रणय के मूल में आकर्षण है और सौंदर्य आकर्षण का अक्षय स्रोत है। आकर्षण के रथ पर आरूढ़ होकर ही प्रणयी युग्म एक-दूसरे के निकट आते हैं। सौंदर्य का आकर्षण हृदय में प्रेमाग्नि की ज्वाला भड़काता है, परंतु सौंदर्य को रूप का स्थानापन्न नहीं माना जाना चाहिए। सौंदर्य वस्तु में नहीं, दृष्टि में होता है। रूप बाह्य अलंकारों की भाँति है, तो सौंदर्य आभ्यंतर आकर्षण की भाँति।

शृंगार को रसरज कहा गया है। रस काव्य की आत्मा है तथा शृंगार में रसोद्रेक की अमित संभावनाएँ हैं। शृंगार के दो पक्ष संयोग तथा वियोग हैं। दोनों में समान रूप से रसोद्रेक होता है तथा दोनों ही प्रणय-भाव के अपरिहार्य उपादान हैं। शृंगार का आविर्भाव रति-भाव की पूर्णता में होता है। नायक एवं नायिका शृंगार-भाव के क्रमशः आश्रय एवं आलंबन माने जाते हैं। इनके बीच शृंगार-भाव जगाने वाले कुछ उपकरण होते हैं, जिन्हें उद्दीपन कहा जाता है। जैसे-प्रकृति का बिखरा सौंदर्य, ऋतुएँ, वन, उपवन, पपीहे की पुकार इत्यादि। इसके अतिरिक्त शृंगार में अनुभावों का भी स्थान होता है। अनुभाव कटाक्ष, हाव-भाव, मुस्कान, अँगड़ाई आदि शारीरिक चेष्टाओं को कहते हैं। शृंगार के दो प्रकार हैं- संयोग एवं वियोग। संयोग में नायक-नायिका एक-दूसरे के साथ होते हैं तथा वियोग में दूरी तथा विरह उन्हें सताता है। अतः शृंगार प्रेम का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

प्रेम-भावना अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्त्व होने के कारण 'दिनकर' के काव्य-संसार में इसका सर्वांगीण प्राधान्य मिलता है। प्रेम का जो स्वरूप उनके काव्य में मुखरित हुआ है, उसमें स्त्री-पुरुष के बीच यह सहज आकर्षण रागात्मक वृत्ति अत्यंत उदात्त रूप ग्रहण कर मानव को पाशविक धरातल से ऊपर उठाने में सक्षम रही है। उनका मंतव्य रहा है कि 'कला, सुरुचि, सौंदर्यबोध और प्रेम इनका जन्म जैवधरातल पर होता है, किंतु सार्थकता उनकी तब सिद्ध होती है, जब वे ऊपर उठकर आत्मा के धरातल पर स्पर्श करते हैं।'⁴ वे मानते हैं कि प्रेम में भूत से ऊपर उठकर भूतोत्तर होने की शक्ति होती है, रूप के भीतर डूबकर अरूप का संधान करने की प्रेरणा होती है।⁵ यहाँ पर रामधारीसिंह 'दिनकर' की प्रेमभावना का दृष्टिकोण श्री अरविंद के अनुरूप भौतिकता का आधार ग्रहण कर आत्मा की ओर बढ़ने का अभियान ही है। प्रेम के बारे में कवि का मंतव्य-

‘शब्द नहीं है, यह गूँगे का स्वाद, अगोचर सुख है,
प्रणय प्रज्वलित उर में जितनी झंझुतियाँ उठती हैं,
कहकर भी उनको कह पाते कहाँ सिद्ध प्रेमी भी?
भाषा रूपाश्रित अरूप है यह तरंग प्राणों की।’⁶

‘दिनकर’ की कृति ‘रसवंती’ सौंदर्य, प्रेम और शृंगारिक भावनाओं को अभिव्यक्त

करती है। इसकी अधिकांश रचना सरस एवं हृदय-कलिका को विकास देने वाली हैं। 'रसवंती' में कवि समष्टि से व्यष्टि की ओर क़दम रखता है। वास्तव में जब दिनकर 'रेणुका' एवं 'हुंकार' के क्रांतिपूर्ण गीत गा रहे थे, उस समय कवि की सौंदर्य-भावना रसवंती की पृष्ठभूमि भी तैयार कर रही थी। इसलिए द्वंद्वगीत का धुआँ, हुंकार की आग और रसवंती का रस तीनों एक साथ उनके हृदय में विद्यमान थे। वे स्वीकार करते हुए कहते हैं— 'रेणुका और 'हुंकार' के विपरीत 'रसवंती' की रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई है। इसमें किसी निश्चित संदेश का अभाव है। इन गीतों में मैं अपने हाथ से छूट सा गया हूँ और प्रायः अकर्मण्य आलसी की भाँति उस प्रगल्भ अप्सरा के पीछे-पीछे भटकता फिरा हूँ, जिसे कल्पना कहते हैं—'दिनकर' प्रेम पर अपने विचार लिखते हैं—'प्रेम की उदात्तीकृत स्थिति वह भी है, जो समाधि से मिलती-जुलती है जिससे व्यक्तित्व का देवोपम विकास हुआ है, जिसके स्नायविक तार चेतन और सजीव हैं तथा जिसका मन, स्वभाव से ही, ऊर्ध्वगामी और उन्नयनशील है, उसे काम के स्पर्श मात्र से सत्ता का बोध होता है।' आगे दिनकर कहते हैं 'प्रेम में भूतल से ऊपर उठाकर भूतोत्तर होने की शक्ति होती है, रूप के भीतर डूबकर आरूप का संधान करने की प्रेरणा होती है।'⁹

उर्वशी से पहले दिनकर 'रसवंती' में अपनी दमित शृंगारिक भावनाएँ व्यक्त करते हैं। 'रसवंती' के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए सावित्री सिन्हा लिखती हैं— इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि, बिंदु और सिंधु दोनों को ही समेटकर उनकी रसवंती आगे बढ़ी। कभी ऐसे क्षण भी आए, जब सिंधु की विशालता विलीन हो गई और बिंदु की कोमल स्निग्ध गहराइयों में ही उसने अवगाहन किया। वैयक्तिक सुख-दुख, मधुमास का पराग, यौवन काल की उष्णता, प्रेम की शीतलता और रूप की चकाचौंध में कुछ दिनों के लिए उनकी 'रसवंती' लजीली, शर्मीली, कोमलांगी तन्वंगी ही रह गई। 'रसवंती' में उनकी कला चेतना का यही मधुर-कोमल रूप प्रधान रूप से व्यक्त हुआ है।¹⁰ 'रसवंती' से पूर्व कवि की भावनाएँ दमित थीं। 'रसवंती' में ये दमित भावनाएँ पूर्ण प्रवाह से बह निकली। इस तथ्य का उद्घाटन कवि ने 'रसवंती' के प्रथम गीत 'गीतशिशु' में करते हुए कहा है—

बड़े यत्न से जिन्हें छिपाया ये वे मुकुल हमारे,

जब अब तक बच रहे विधि ध्वंसक-इष्टप्रलय से।¹¹

दिनकर 'रसवंती' में सरस एवं कोमल कविताओं की उत्पत्ति का कारण बतलाते हुए कहते हैं -

उठेगा व्याकुल दुर्दमनीय,

क्षुब्ध होकर जब पारावार,

न रुद्र होगा कैसे हे देवि।

धृष्ट शैलों से कंठ-द्वार।¹²

जिस प्रकार शैल का अंतस्तल जब द्रवित होकर तीव्र गति से प्रवहमान होता है, तब शिलाएँ बाधक नहीं बनतीं। इस प्रकार जब रसवंती तरंगें मानस में उद्गत होती हैं, तो वे बलात् निस्सृत होती ही हैं। मानव अपनी शृंगारिक भावनाओं को अधिक देर तक दमित नहीं रख सकता। भावनाएँ प्राकृतिक होती हैं और समय पाकर बंधनों को तोड़ बाहर निकल ही आती

हैं।

इस प्रकार 'दिनकर' की ये भावनाएँ 'रेणुका' में अंकुरित हुई थीं। 'हुंकार' में दब गई और समय पाकर 'रसवंती' में पुनः फूट पड़ीं—

प्रीति न अरुण-साँझ के धन सखि।
पल-भर चमक बिखर जाते हो,
मना कनक-गोधूलि, लगन सखि।
प्रीति नील, गंभीर, गगन सखि।
चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक गगन सखि!¹³

प्रीति संध्या के अरुणाभ मेघों के समान नहीं है, जो पलभर चमककर बिखर जाते हैं। यह तो नील-गंभीर गगन के समान है, जो अपने में ही मगन हो विनत धरणि को चूम रही है। प्रणय तो सीमारहित होता है। जन्म-जन्मांतरों की सीमा को पार कर यह मूक प्रणय ही सत्य होता है।

कितना प्यार, जान मत यह सखि।
सीमा, बंध, मृत्यु से आगे
बसती कहीं प्रीति अहरह सखि!¹⁴

रेणुका में एक-दो शृंगारिक कविताएँ हैं। इनमें एक 'प्रेम का सौदा' है। प्रणय का सच्चा रूप कवि के अनुसार आत्मसमर्पण में है। प्रणय बलिदान माँगता है। प्रणय की दुनिया में कोई विरला ही प्रवेश कर सकता है, जो मोह-बंधन को त्यागकर अपने अहं का पूर्णता से विगलन करे, वही इस रास्ते पर चल सकता है। मर-मिटना ही प्रणय का शृंगार है।

मर-मिटो यह प्रेम का शृंगार है
बेखुदी इस देश में त्यौहार है।
खोजते ही खोजते जो खो गया,
चाह थी जिसकी, वही खुद खो गया!¹⁵

'कविता की पुकार' में शृंगार का स्वस्थ और उदात्तीकृत वर्णन मिलता है -
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरहगीत उन्मन,
मैया, लिख दे एक क्लम खत मो बालम के जोग,

'निर्झरिणी' में निर्झरिणी के समुद्र के प्रति प्रणय के संबंध में कवि कहता है कि वह गिरि के द्वारा उसके मार्ग का गतिरोध करने पर भी वह शिलाओं से टकराती है, अंबुनिधि से मिल ही लेती है। इस प्रकार 'दिनकर' के प्रारंभिक काव्यों में प्रणय का निष्कलुष रूप वर्णित है। कवि ने वासना को हेय दृष्टि से देखते हुए प्रेम मार्ग में व्यवधान कहा है—

व्यवधान वासना का कराल जगते जो आग लगती है!¹⁶

'दिनकर' ने प्रेम-भावना में वासना का विरोध किया है। वे वासना का धरातल स्थूल मानते हुए प्रेम के धरातल को सूक्ष्म मानते हैं; तथा प्रेम आत्मा में पलता है, जबकि वासना शारीरिक धरातल तक ही सीमित रहती है। प्रेम मन के मल को धोकर स्वच्छ कर देता है और मनुष्य-मात्र देवतास्वरूप दृष्टिगोचर जान पड़ता है—

प्रेम क्या है?

क्षीर का निर्झर.....

हृदय नर का, संत की आवाज़ हो जाता है।¹⁷

सात कवच पहने हुए भी नारी पुरुष के चुंबन से सिहरन तथा पुलकित अनुभव करती है। इतना ही नहीं पुरुष अपने में सुरक्षित नारी को देखना चाहता है तथा अपने संरक्षण का पूर्ण आश्वासन देता है—

चुंबनों के वर्म में, मैं ही तुम्हारे साथ हूँ,

तुम मुझे पहने हुए हो, अब भला क्या भीति है?¹⁸

अपने प्रारंभिक काव्य में प्रेम का निष्कलुष चित्रण करने के बाद 'उर्वशी' में दिनकर अपनी पूर्णता के साथ पुनः अवतरित हुए हैं। उर्वशी में प्रेम का पूर्ण विकास मिलता है। 'उर्वशी' में दिनकर ने विभिन्न पात्रों के मुख से अपनी प्रेमपरक मान्यताओं की अभिव्यक्ति की है—

कहते हैं धरती पर सब रोगों से कठिन प्रणय है।

लगता है यह जिसे उसे फिर नींद नहीं आती है।

दिवस रुदन में रात आह भरने में कट जाती है।

मन खोया-खोया आँखें कुछ भरी-भरी रहती हैं।

भीगी पुतली में कोई तस्वीर खड़ी रहती है।¹⁹

'उर्वशी' के द्वितीय सर्ग में महारानी औशीनरी प्रेम को परिभाषा में बाँधती हुई कहती है—

कौन कहे? यह प्रेम हृदय की बहुत बड़ी उलझन है

जो अलभ्य, जो दूर, उसी को अधिक चाहता मन है।²⁰

दिनकर लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम का प्रथम सोपान मानते हैं। वह आंगिक आलिंगन या कायिक क्रीड़ाओं को आत्मानुभूति, प्रेम में अनुभूति की प्रधानता को स्वीकारते हैं तथा देह तथा आत्मा के बीच की दूरी प्रेम-पुल द्वारा ही पार की जा सकती है, ऐसा वे स्वीकार करते हैं—

'मध्यांतर में देह और आत्मा में जो खाई है,

अनुल्लंघ्य वह नहीं, प्रभा के पुल से संयोजित है।'²¹

अतः नर-नारी का प्रेम ईश्वर-प्राप्ति में बाधक नहीं है, वरन् साधना के रूप में है। उनकी स्थापना है कि प्रेम का वास्तविक आनंद तो मन ही जानता है, तन तो केवल मात्र आधार ही है। अतः कवि ने भारतीय दर्शन के अनुकूल प्रेम के क्रमिक विकास का स्वरूप निम्न प्रकार वर्णित किया है—

जगता प्रेम प्रथम लोचन में, जब तरंग नभ मन में,

प्रथम देखती प्रिय एकदेही, फिर व्याप्त भुवन में।

पहले प्रेम स्पर्श होता है तदनंतर चितन भी,

प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है, तब वायव्य गगन भी।²²

प्रेम में वासना का होना ज़रूरी है, क्योंकि वासना भी प्रेम का एक अपरिहार्य तत्त्व

है। वास्तव में वासना के पंक में ही प्रेम का पंकज खिलता है। इसको भौतिक तथा निर्भौतिक बनानेवाला केवल मात्र मन ही है। उर्वशी में यही भाव हैं। पुरुरवा उर्वशी के शरीर का उपभोग करता हुआ भी निर्लेप है। भोग में योग सिद्धि पहले धर्म के क्षेत्र में थी आज साधारण सी बात है। सर्वथा रोमांटिक भाव वातानुगतिक प्रेम से ऊपर और भिन्न धरातल पर निर्भौतिक प्यार ही आध्यात्मिक प्रेम है। इस प्रकार पुरुरवा असीम की कामना में भटकता हुआ जीव है, जिसे पाने के लिए वह व्याकुल है, उसे पाने पर भी उसे शांति नहीं मिलती। कुछ और के लिए वह व्याकुल हो उठता है, न वह आकाश में विचरण कर पाता है, न उसे धरती पर शांति मिलती है—

फिर किसी का स्पर्श पाने को तृषा चीत्कार करती।
मैं न रुक पाता कहीं,
फिर लौट आता हूँ पिपासित
शून्य से साकार सुषमा के भवन में।²³

उर्वशी पूछती है कि ज्वलंत नर पर यह किसका अंकुश लटक रहा है, जो कि उसे जीवन का रस छककर पीने नहीं देता और न ही देवताओं के समान गंध-नभ में जीने देता है।²⁴ पुरुरवा इसका उत्तर देते हुए कहता है—

कौन है अंकुश, इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ।
पर सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है,
उस तृषा, उस वेदना को जानता हूँ।
आग है कोई, नहीं जो शांत होती,
और खुलकर खेलने से भी निरंतर भागती है।²⁵

सावित्री सिन्हा के शब्दों में— ‘पुरुरवा के द्वंद्व में विचारवान पुरुष की द्विधा का चित्रण है, जो विवेकरहित होकर काम के जैव धरातल के ऐंद्रिय सुख को ही जीवन की सिद्धि मानकर नहीं जी सकता। बुद्धि और हृदय, आदर्श और कामनाओं के द्वंद्व से ही उसमें शृंगार की तन्मयता के स्थान पर संकल्प और विकल्प उत्पन्न होते हैं, जो उसे पूर्ण और अखंड तन्मयता का भोग नहीं करने देते। पुरुष का जागरूक अहं और विवेक एक ओर उसे शृंगार की मादकता में पूर्ण रूप से तल्लीन नहीं होने देता और दूसरी ओर काम के प्रति अबाध आसक्ति से मुक्त हो सकने में वह असमर्थ रहता है।²⁶ दिनकर के अनुसार पुरुरवा की यह वेदना समग्र मानव-जाति की चिरंतन वेदना से ध्वनित है।²⁷ प्रणय की चिरंतन स्थिति के बारे में बताते हुए दिनकर पुरुरवा से कहलवाते हैं कि प्रणय की चिरंतन स्थिति वह होती है, जिसमें अपने शरीर का बोध भी भुला दिया जाता है। इसी को व्यक्त करता हुआ पुरुरवा कहता है—

जब भी तन की परिधि पार कर मन के उच्च निलय में
नर-नारी मिलते समाधि-सुख के निश्चेत शिखर पर।²⁸

दिनकर ने स्वयं उर्वशी की भूमिका में स्पष्ट किया है - ‘नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती, न नर नारी के आलिंगन में संतोष मानता है। कोई शक्ति है, जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग नहीं रहने देती और जब वे मिल जाते हैं, तब भी उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।²⁹

इस काव्य में प्रणय के उसी रूप को ग्रहण करके भावात्मक स्तर तक उठाने का प्रयास हुआ है, जो विवाहेतर हो, अतः इसे सहज रोमांटिक प्रणय अथवा मध्यकाल में जाग्रत एक विशिष्ट प्रकाश-तृष्णा के अभ्युदय के समकक्ष रखा जा सकता है। चिरंतन नर-नारी का प्रेमाख्यान यह 'उर्वशी' आनंदमय प्रसन्न मानव की उज्ज्वलतम रसमयी हिलोर है।³⁰ नगेंद्र के अनुसार— 'अद्वैलक प्रभाव की दृष्टि से उर्वशी' निश्चय ही प्रबल काव्य है। छायावादोत्तर युग में ऐसा प्रबंधकाव्य हिंदी में दूसरा नहीं लिखा गया और जहाँ तक मेरा ज्ञान है, अन्य भारतीय भाषाओं में भी इतनी प्रबल सामयिक रचना कदाचित् नहीं है।³¹

'दिनकर' के काव्य में प्रणय का सर्वोच्च रूप 'उर्वशी' में ही दृष्टिगोचर होता है। अतः 'उर्वशी' काव्य की अधिक समीक्षा अपेक्षित थी।

निष्कर्ष रूप में 'उर्वशी' का पुरुरवा जो उर्वशी के प्रेम-पाश में बँधा होने पर भी भीतर से दुःखी तथा व्याकुल जान पड़ता है, यह पुरुरवा के माध्यम से ही कवि-मन की व्यथा ही मुखरित हुई, जिसमें वह लौकिक प्रेम-स्थिति के बंधनों तक ही सीमित न रहकर पारलौकिक महासुखवाद की चिंता में लीन अलौकिक प्रेम की कामना करता है। अतः 'दिनकर' की प्रेम की उदात्त भावना में सेक्स केवल-मात्र शारीरिक मिलन नहीं है, जबकि प्रेम में मानसिक मिलन, इंद्रियों के मार्ग से अतींद्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की उदात्त भावना है। 'दिनकर' ने प्रसाद की भाँति भारतीय चिंतन तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान का समन्वय ही प्रेम-भावना में व्यक्त किया है।

मीडिया और हिंदी भाषा का बदलता स्वरूप

डॉ० बसंत बंसल

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

ऐपीजे सरस्वती कन्या स्नात० महाविद्यालय,
चरखी दादरी, (भिवानी) हरियाणा

समय के संचालन में
शब्द की अर्थगत खुशबू
भावमयता, शालीनता और महक
लुप्त हो जाएगी!
और तुम! ढूँढते रह जाओगे—
वाक्यगत शुद्धता, धाराप्रवाहमयता!
कहीं होगा मुँह किसी जानवर का,
कहीं होंगे पाँव मानव के
और हाड़ किसी अन्य जीव का!
ऐसी होगी 21वीं शदी की हिंदी भाषा...!”

क्या यह कविता मात्र कल्पना है? क्या यह मात्र शब्दजाल है? या फिर व्यर्थ का भाषाडर? नहीं! नहीं ऐसा नहीं है। यह मुमकिन है। आज के रुपहले संसार में सब-कुछ संभव है। और ... वह दिन दूर नहीं, जिस दिन भाषा का यह रूप हम सबके समक्ष होगा।

वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण से आच्छादित वर्तमान समय हाईटेक का है, कंप्यूटर का है, मीडिया का है। ऐसे परिवेश में देश, समाज एवं मनुष्य को नई-नई प्रेरणाएँ, परिकल्पनाएँ और विचारधाराएँ प्रभावित कर रही हैं। सूचना प्रौद्योगिकी के विकास एवं विस्तार ने नए-नए स्वरूप निर्मित किए हैं। इसी नवनिर्माण की प्रक्रिया में हिंदी मीडिया अपने नए स्वरूप के साथ विकसित एवं परिवर्द्धित हो रहा है। ऐसे में भूमंडलीकरण को प्रचारित करनेवाले मीडिया ने अँग्रेजी शब्दों से युक्त एक नई नवनिर्मित हिंदी को जन्म दिया है। इस प्रकार की हिंदी का समर्थन न केवल भारतीय विद्वान ही अपितु पाश्चात्य विद्वान भी समर्थन करते हैं। उनकी दृष्टि में यह ठीक हो सकता है, लेकिन किसी भी भाषा की मौलिकता को बनाए रखने के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें आमूल-चूल परिवर्तन नहीं किए जाने चाहिए और न ही उसकी गरिमा को नष्ट करना चाहिए। इस संबंध में एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री का कथन है कि ‘हमें भाषा के प्रयोगों को छोड़कर टेलीविज़न पर उसी भाषा के कार्यक्रम देने चाहिए, जो जहाँ पर कार्यक्रम दिखाए जा रहे हैं, वह उस स्थान-विशेष की भाषा हो न कि वहाँ की मानक भाषा, क्योंकि मानक भाषा से दर्शकों का कुछ लेना-देना नहीं होता।’¹

भाषा केवल भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम ही नहीं होती, अपितु वह किसी राष्ट्र की सभ्यता, संस्कृति की परिचायक भी होती है। जब बात की जाती है हिंदीभाषा की तो इस संदर्भ में सदैव कुछ छूट जाने का सा भान होता है। विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश भारत की अपनी कोई 'राष्ट्रभाषा' नहीं है। कहने भर के लिए हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है, लेकिन संविधान (अनुच्छेद 343-2) तक में हिंदी को 'राजभाषा' होने का सम्मान प्राप्त हुआ है। राष्ट्रभाषा के संबंध में बाबूराव पराडकर जी ने 1952 में नागपुर के साहित्यिक समारोह में कहा था कि 'राष्ट्रभाषा का अर्थ यही है कि हर एक राष्ट्रीय विचार, भाव, कल्पना, सूक्ष्म भावों की छटा, ऊँचे से ऊँचे दार्शनिक भाव तथा मामूली से मामूली बात को प्रकट करने वाली भाषा ही राष्ट्रभाषा है।'

एक कवि ने लिखा भी है—

मैं क्यों न पढ़ूँ रोज़ नए चाव से तुझे।

तू मेरे लिए एक भजन की किताब है।²

भारत संपूर्ण संसार में निर्मित वस्तुओं का खरीददार एवं उपभोक्ताओं से युक्त बाज़ार है। ऐसा नहीं है कि भारत के पास उत्पाद नहीं हैं। हैं, किंतु बाज़ार केवल उत्पाद खरीदने की ही जगह नहीं होता, अपितु वस्तुओं के बेचने की भी जगह होता है। इस प्रक्रिया में संचार माध्यम एवं प्रिंट मीडिया विशेष भूमिका निभाते हैं। इन माध्यमों में भाषा की प्रयुक्तता एवं शब्दों का आकर्षण उपभोक्ता को अपनी ओर आकर्षित करके वस्तु के प्रति उसके मन में ललक पैदा कर देता है। इस प्रयास में हिंदीभाषा का स्वरूप बदल जाता है या यूँ कहें कि हिंदी को सरल बनाने का ढोंग किया जाता है। परिणामतः प्रिंट मीडिया ने हिंदीभाषा को बाज़ारू और छिछला बना दिया। ऐसा नहीं है कि महान लेखक और पत्रकार भाषा के सरलीकरण के पक्ष में नहीं थे? वे भी थे, किंतु वे भाषा की आत्मा को शालीनता का पहनावा पहनाए रखना चाहते थे न कि उसकी आत्मा को नग्न करने का प्रयास करते थे। लेकिन आज तो जैसे कहीं उस पर से व्याकरण का आवरण उतारा जा रहा है, तो कहीं उस पर से नैतिकता की चादर! लगता है भौतिक संसार की चकाचौंध और संचार-माध्यमों की बढ़ती उन्मुक्त एवं निर्लज्ज अभिव्यक्ति शैली उसके तन पर कोई आवरण छोड़ पाएगी भी या नहीं?

आज की भाषा को देखकर चिंता होना स्वाभाविक है, क्योंकि आज के विश्व बाज़ारवादी मीडिया की दिन-दौगुनी उन्नति ने न केवल रेडियो की ध्वनि तरंगों को प्रभावित एवं परिवर्तित किया अपितु प्रिंट मीडिया भी इस परिवर्तन के आक्षेप से स्वयं को नहीं बचा पाया। आज प्रिंट मीडिया 'बाज़ारवाद की जकड़न' को अनुभव कर रहा है, जिससे वह नया भाषाई तेवर अपनाने के लिए मजबूर है। यही नया भाषाई तेवर सरलीकरण का दंभ भर रहा है। इस विषय में जवाहरलाल कौल लिखते हैं—'यह प्रश्न नहीं, प्रतिक्रिया थी, लेकिन मुझे लगा कि कुछ कहना चाहिए, मुझे लगता है कि जो लोग नहीं चाहते कि हिंदी अँग्रेज़ी की जगह ले, वे ही सरल हिंदी का प्रश्न खड़ा करते हैं और अब वे भी यही चाहते हैं, जो इसे 'डाउन मार्केट' की भाषा, यानी निचले या सामान्य बाज़ार की भाषा बनाए रखना चाहते हैं। इस बाज़ार को केवल ऐसी हिंदी नहीं चाहिए, जिसमें उर्दू-फ़ारसी के शब्द अधिक हों, बल्कि न हो तो भी चलेगा अगर इसमें अँग्रेज़ी के पर्याप्त शब्द हों। ... इंगदी, यानी वह भाषा जो हिंदी फ़िल्मी

सितारे प्रेस से बातचीत करते हुए बोलते हैं। इंग्लिश में हिंदी।’³

बाजारवाद के कारण हिंदी-पत्रकारिता, हिंदी संचार-माध्यमों पर अँग्रेज़ी का दबाव है। परिणामतः कहीं वह इंगदी, हिंग्रेजी तो कहीं वह हिंग्लिज़ की तर्ज के साथ अँग्रेज़ी का वर्चस्व क़ायम करने का प्रयास किया जा रहा है। डॉ० कुमुद शर्मा इस संदर्भ में ठीक ही लिखती हैं— ‘आज हिंदी प्रिंट मीडिया की भाषा की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह अँग्रेज़ी अनुवाद पर निर्भर है। हिंदी अख़बारों को अँग्रेज़ी अख़बारों का प्रतिरूप बना देने की कोशिश भी पत्र-समूहों के मालिकों द्वारा की जा रही है, क्योंकि वे भूमंडलीय बाज़ार के दबाव या आकर्षण में हैं। वे मानते हैं कि अँग्रेज़ी ही बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विज्ञापन बाज़ार की भाषा है।’⁴

आज की पत्र-पत्रिकाओं की भाषा में अराजकता दृष्टिगोचर होती है। भाषा में नित नए-नए प्रयोग किए जाते हैं। ऐसा लगता है जैसे ये सभी माध्यम भाषा पर प्रयोग करने के ‘ऑपरेशन थियेटर’ हों। पत्र-पत्रिकाओं में प्रयुक्त भाषा के कुछ उदाहरण देखिए—

- मुश्किल से काबू में आई ब्लू लाइन फिर हो जाएगी बेलगाम।
- प्रशासन गाँव के संग अभिनव को पलीता लगा रहे हैं अधिकारी।
- महिला बिल पर सरकार की किरकिरी।⁵
- टी-10 गली क्रिकेट का ‘बादशाह’ बना लुधियाना।⁶
- पूल ‘ए’ में सेमीफाइनल के लिए खुली जंग आज।⁷
- शहर में पसर गया सन्नाटा।⁸
- कहीं ट्विटिंग से क्विटिंग न हो जाए।⁹
- क्यों ख़ाद्य पदार्थों की महँगाई यूपीए सरकार के डीएनए में ही शामिल है।¹⁰

इस प्रकार की भाषा केवल प्रिंट मीडिया अर्थात् पत्र-पत्रिकाओं में ही नहीं अपितु इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के अंतर्गत भी इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाता है। क्योंकि आजकल इलैक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा जिस प्रकार की हिंदीभाषा का प्रचार हो रहा है, वह न तो हिंदी है और न ही अँग्रेज़ी। अपितु वह तो ‘हिंग्लिश’ या ‘हिंग्रेजी’¹¹ है। इस प्रकार की भाषा के संबंध में डॉ० कृष्णकुमार रत्न लिखते हैं ‘भाषा की जो रवानगी और तहज़ीब होती है, अच्छे ढंग से प्रस्तुत होनेवाली भाषा का, जो स्वतःस्फूर्त संप्रेषण होता है, वह ख़त्म हो जाएगा। मैं ऐसी भाषा के इस्तेमाल को ग़लत मानता हूँ।’

टेलीविज़न पर दिखाए जानेवाले कार्यक्रमों— विशेषकर धारावाहिकों से हमारी विचारधाराएँ, जीवन-शैली, भाषा आदि के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। क्योंकि हम इनके अनुसार अपनी जीवन शैली, खान-पान, रहन-सहन आदि में परिवर्तन करते हैं। जहाँ तक बात है भाषा की तो संभव है, हम उससे भी अछूते नहीं रहते। साथ ही इन धारावाहिकों के बीच में दिखाए जानेवाले विज्ञापनों ने तो हमारा संपूर्ण व्यक्तित्व ही प्रभावित किया है। लेकिन यदि उसके दूसरे पक्ष, अर्थात् मानव के भौतिक संसार की वस्तुओं के प्रति आकर्षण की बात छोड़ दें और दूसरे पक्ष की चर्चा करते हुए कुमुद शर्मा के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं— ‘भूमंडलीकरण के सहारे बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने जो वर्चस्व भारत में स्थापित किया है, उससे संचार माध्यमों ने विज्ञापन को संप्रेषण का, प्रचार का महत्त्वपूर्ण माध्यम बना दिया है, बल्कि

ये उपभोक्तावादी संस्कृति की जड़ें फैलाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। ये भी इक्कीसवीं सदी की हिंदी को 'नवाचार' दे रहे हैं।³

टेलीविज़न की विज्ञापनी भाषा के उदाहरण देखिए, जिसमें किस प्रकार हिंदीभाषा को तोड़ा-मरोड़ा गया है और उसमें अँग्रेज़ी के शब्दों को किस प्रकार मिलाकर 'मिश्रित' या 'संकर' भाषा बनाने का प्रयास किया गया है, जो किसी भी रूप में हिंदीभाषा के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। उदाहरण इस प्रकार हैं—

- अब बच्चे Happy मैं भी Happy.
- I Love you रसना।
- ठंडा-ठंडा Cool Cool
- Mango fruty, fresh and juicy
- साफ, स्वस्थ और डैड्डूफ रहित बालों के लिए क्लिनिक स्पेशल शैंपू।
- दूध-सी सफ़ेदी निरमा से आए।
रंगीन कपड़ा भी खिल-खिल जाए।
- धुलाई का Hero मैल को कर दे Zero
- No रूखापन, No चिपचिपाहट
- यही है Right Choice Baby
- Life हो तो ऐसी!
- खाओ Britannia fifty-fifty, very-very testy-testy¹⁴

इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों द्वारा इस प्रकार की भाषा का प्रयोग एक उद्देश्यपूर्ण ढंग से किया जाता है। वस्तु-निर्माताओं द्वारा अपनी वस्तु के विक्रय-हेतु विज्ञापनों की भाषा निर्मित करते समय भाषिक चतुराई से काम लिया जाता है। उनकी दृष्टि में भाषा के व्याकरण का कोई महत्व नहीं होता। विज्ञापनी भाषा केवल दर्शकों के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए प्रयुक्त की जाती है। इस प्रकार की भाषा में कई बार अँग्रेज़ी हिंदी-मिश्रित भाषा अर्थात् 'हिंग्रेज़ी' का प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार की भाषा को संकर भाषा (Hybrid) भी कहा जा सकता है। वर्तमान समय में इलैक्ट्रॉनिक माध्यमों द्वारा इस प्रकार की दोगली भाषा का प्रयोग बहुत अधिक होने लगा है। इसी प्रकार फिल्मों पर आधारित कार्यक्रमों में अँग्रेज़ी का दबदबा अधिक देखा जा सकता है। इस संबंध में गीताश्री जी लिखती हैं— 'अँग्रेज़ी मानसिकता में जकड़े हिंदी सिनेमाई दुनिया के सबसे लोकप्रिय शब्द अँग्रेज़ी में हैं। ये अँग्रेज़ी के तकनीकी शब्द हैं, जिन पर ना कोई ऐतराज है ना कोई हर्ज। ऐतराज तो वहाँ है, जब रोजमर्रे के कामकाज में अँग्रेज़ी शब्दों का धड़ल्ले से इस्तेमाल होता है। रुपहले पर्दे पर हिंदी में धाँसू संवाद बोलकर वाहवाही लूटने वालों के पर्दे के पीछे सब काम अँग्रेज़ी में होते हैं, वहाँ हिंदी के इस्तेमाल के बारे में कौन सोचे।'¹⁵

सब तरफ़ इस प्रकार की मानसिकता के लोग हैं, जबकि दूसरी ओर अमिताभ बच्चन जैसे लोग हैं जो हिंदीभाषा में अपनी फिल्म की पटकथा माँगते हैं। गीताश्री पुनः लिखती हैं—'अमिताभ बच्चन के करीबी बताते हैं कि निर्माताओं से वह पिछले कुछ वर्षों से हिंदी में

पटकथा माँगने लगे हैं। पहले उन्हें भी यह औरों की तरह रोमन में थमाई जाती थी। लेकिन वह इससे कभी सहमत नहीं हुए। महानायक ने एक साक्षात्कार में कहा था— ‘जिस भाषा की फिल्म में आप काम कर रहे हैं, उस भाषा में आप बातचीत नहीं करेंगे तो भावनाएँ कैसे व्यक्त करेंगे।’¹⁶ इस प्रकार का कार्य हिंदी-समर्थन के लिए उपयुक्त है।

वर्तमान समय की यह सबसे बड़ी विडंबना है कि हिंदी प्रिंट मीडिया और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया अपनी राष्ट्रभाषा, राजभाषा की गरिमा को नहीं बचा पा रहा है। इसका मुख्य कारण केवल यही लगता है कि 21 वीं के सदी संचार-माध्यमों ने नया रंग रूप अपना लिया है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने प्रिंट मीडिया और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया की सौम्यता को बाजारवाद के हवाले कर दिया है। इस विषय में श्री रामशरण जोशी का कथन देखिए—‘हिंदुस्तान में अंतरराष्ट्रीय कंपनियों के प्रोडक्ट अँग्रेजी में बिकते हैं। उनको हिंदी में बेचने की कौशिश ही नहीं करता, क्योंकि अंतरराष्ट्रीय बाजार हिंदी को इस राष्ट्र की भाषा के रूप में स्वीकार नहीं करता। वह अँग्रेजी को अपनी राष्ट्रभाषा मानता है। इसलिए अँग्रेजी के ज़रिए जो समूचे विश्व का बाजार इस देश में है, उसको जोड़े रखना चाहता है।... आज अँग्रेजी अखबारों में इतने अधिक विज्ञापन आए हैं कि एक रुपए में अखबार बेचकर भी वे संपादकों और दूसरे लोगों को अच्छी-अच्छी तनख्वाह दे पाते हैं। उसके बाद भी उनका सालाना शुद्ध मुनाफ़ा 100 करोड़ रुपए से ज़्यादा है। यह स्थिति ज़्यादा विज्ञापन मिलने के कारण है। मलाई अँग्रेजी अखबार मार ले जाते हैं और खुरचन हिंदी अखबारों के लिए बचती है। इस अंतरराष्ट्रीय बाजारवाद से हर हिंदी-अखबार प्रभावित हो रहा है।’¹⁷

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि प्रिंट मीडिया और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया ने हिंदी पर अपना जादू डालकर उसे पूर्ण रूप से इस प्रकार अपने आँचल में समेट लिया, जिस प्रकार अमरबेल अपने प्रभाव में आने वाले हर पेड़ को बढ़ने नहीं देती है। इस अँग्रेजी के तड़के से न केवल हिंदी-भाषा ही अपितु हिंदी के विद्वान भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके हैं। परिणामतः हिंदी साहित्य, हिंदी-पत्रकारिता, हिंदी प्रिंट मीडिया और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया में आमूल-चूल परिवर्तन दिखाई देने लगा है। ऐसे में हिंदीभाषा का भविष्य क्या होगा, यह विचारणीय है। यदि हम इस और कुछ सकारात्मक कार्य कर सकें तो उपयुक्त रहेगा।

संदर्भ

1. भूमंडलीकरण और मीडिया, डॉ॰ कुमुद शर्मा, पृ॰ 109
2. सम्मेलन पत्रिका, त्रैमासिक पत्रिका, अंक 15, पृ॰ 182
3. भूमंडलीकरण और मीडिया, डॉ॰ कुमुद शर्मा, पृ॰ 160
4. वही, पृ॰ 161
5. अमर उजाला, दैनिक समाचार-पत्र, 9 मार्च, 2010
6. वही
7. दैनिक ट्रिब्यून, दैनिक समाचार पत्र, 9 मार्च, 2010
8. राष्ट्रीय सहारा, दैनिक समाचार पत्र, 8 मार्च, 2010
9. आज समाज, दैनिक समाचार पत्र, 5 मार्च, 2010

10. इंडिया टुडे, फरवरी, 2010, पृ० 20
11. जनसंचार माध्यम 'भाषा और साहित्य', सुधीश पचौरी, पृ० 191
12. विश्व मीडिया बाज़ार, डॉ० कृष्णकुमार रत्नू, पृ० 131
13. भूमंडलीकरण और मीडिया, डॉ० कुमुद शर्मा, पृ० 111
14. ये सभी उदाहरण विभिन्न टी०वी० चैनलों के विज्ञापनों से संकलित हैं।
15. आउटलुक, मासिक पत्रिका, 2010 अंक फरवरी, पृ० 76
16. वही, पृ० 77
17. मीडिया और बाज़ारवाद, सं० रामशरण जोशी, पृ० 28-29

यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' के पौराणिक उपन्यास

डॉ० निर्मला शर्मा

वरिष्ठ प्रवक्ता, हिंदी विभाग

एम०एल०एंड जे०एन०के० गर्ल्स कॉलेज

सहारनपुर (उ०प्र०)

पुराणों की कथाओं, घटनाओं और पात्रों के आधार पर जिन उपन्यासों का सर्जन हुआ, उन्हें पौराणिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा गया। पुराण का अर्थ है— पुराना, प्राचीन, पूर्वकाल-संबंधी।¹ श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मा के संदर्भ में पुराण शब्द का प्रयोग किया गया है— 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो।'² यहाँ पुराण का अभिप्राय 'सनातन', 'शाश्वत' से है। सनातन का अर्थ नित्य, निरंतर और स्थायी से है।³

चंद्रजी के पौराणिक उपन्यासों में 'देहगाथा माधवी की' तथा 'एक नियति और' की गणना की गई है। चंद्रजी ने महाभारतकालीन कथाओं में राजा ययाति की बेटी माधवी और ऋषि विश्वामित्र के शिष्य गालव की कथा का अध्ययन करके जिस वेदना की अनुभूति की, उसे उपन्यास रूप में साकार कर दिया। इसी प्रकार ऋषि विश्वामित्र की तपस्या से भयभीत हुए इंद्रदेव द्वारा भेजी गयी मेनका अप्सरा और उसके द्वारा खंडित ऋषि की तपस्या, फिर ऋषि की कामाग्नि का प्रज्वलन, तृप्ति, संतानोत्पत्ति, विरक्ति, वितृष्णा और पलायन आदि ऐसे प्रश्न थे, जो उपन्यासकार को व्यथित करते रहे। राजा हो या ऋषि स्त्री-भोग की कामना कितनी बलवती होती है कि वे अपना यश, तप, बल और समृद्धि सब त्याग देते हैं। स्त्री का वस्तु जैसा उपभोग राजशाही संस्कृति और व्यवस्था की सच्चाई है। अभिशाप, वरदान और भविष्यवाणियाँ उस युग के चमत्कार हैं।

'देहगाथा माधवी की' और 'एक नियति और' दोनों में स्त्री-दोहन-शोषण के मर्मभेदी चित्र अंकित हैं। माधवी प्रारंभ में ही अपनी सेविका पल्लवी को बताती है, 'स्त्री अन्य संपदा की भाँति संपदा रही है। इस काल के पुरुषों ने, चाहे वह किसी भी वर्ग का हो, नारी को पद-दलित ही किया है। सौंदर्यशालिनी और आह्लाददायिनी माना है। देव हो-चाहे दैत्य, स्त्री के संदर्भ में वे नितांत लंपट और दुश्चरित्र ही रहे हैं। देवाधिदेव का कपटपूर्ण भेष परिवर्तित कर गौतम की पत्नी अहिल्या का सतीत्व-हरण, क्या क्षम्य अपराध है? चंद्रमा का अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा के संग बलात्कार कितना हृदयविदारक अपराध है?'⁴ माधवी स्वयं भी इस श्रृंखला से विलग नहीं। गालव को श्यामकर्ण अश्व न दे पाने की विवशता में बेटी को सौंप देना राजा ययाति के लिए भले ही दानवीरता के यश और अहंकार की तुष्टि का साधन रहा हो, परंतु एक पिता के लिए इससे निकृष्ट कृत्य कुछ नहीं। फिर गालव का अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसे तीन-तीन राजाओं के पास ले जाना, जघन्य

अपराध ही माना जाएगा। गालव माधवी से साधिकार कहता है, 'मैंने आपको अपनी गुरुदक्षिणा को देने के लिए शुल्क और साधन के रूप में प्राप्त किया है। अपने पिता की आज्ञा का पालन करके अपने धर्म को निभाइए और यशस्वी बनिए।' ⁵ माधवी अपने राजा पिता को मन-ही-मन कोसने लगी कि क्या उन्होंने अपनी बेटी को बाजारू स्त्री बनने के लिए इस कुटना मुनि को सौंपा है? राजा तो विलासी थे ही, अमात्य और अन्य अधिकारी भी इससे वंचित नहीं। राजाओं के लिए नित्य नई स्त्री लाना सेवक अपना पुनीत कर्तव्य समझते थे। पल्लवी भी देह-शोषण और विक्रय का शिकार बनती रही। अब वह माधवी की सेवा में उपस्थित थी।

'एक नियति और' में ऋषि विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के लिए देवराज इंद्र जब अप्सरा मेनका को उस वन-खंड में भेजना चाहते हैं, तब मेनका किंचित् तर्क करती है, तो इंद्रदेव आवेश में भरकर कह उठते हैं, 'मेनका, तुम हमारी अप्सरा हो, क्रीतदासी हो, हमारी आज्ञा का पालन करना तुम्हारा प्रथम धर्म है। तुम्हारी नैतिकता और चरित्र बस इतना ही है कि तुम अपने स्वामी, उसकी सत्ता और उसके हितों की रक्षा हेतु त्याग करो।' ⁶ इंद्रदेव की आज्ञा पर जब कामदेव की सहायता से मेनका ने ऋषि विश्वामित्र की तपस्या भंग की, तब नेत्र खोलते ही विश्वामित्र मेनका के अद्वितीय रूप-लावण्य पर मुग्ध हो उठे। 'वासना के उद्वेग ने उनकी वाणी को अस्पष्ट कर दिया। धीरे-धीरे राजर्षि परिरंभण के आनंद में निमग्न हो गए।' ⁷ परिणामस्वरूप कन्या शकुंतला का जन्म हुआ।

वनवासिनी शकुंतला से राजा दुष्यंत के प्रथम दर्शन में ही अशक्त और रुग्ण हो जाना, उनकी कुदृष्टि के साथ प्रज्वलित कामाग्नि का प्रमाण है। मादय विदूषक स्पष्ट कहता है, 'आपमें वासना का प्रबल प्रवेग मचल रहा है। आपकी दृष्टि में आदिम क्षुधा दहक रही है, क्योंकि आपकी दृष्टि शकुंतला के निसर्ग मुख-सौंदर्य को नहीं, उसकी पुष्ट देह को देखती है।' ⁸ राजा दुष्यंत की पहले शकुंतला से प्रणय-याचना, फिर गांधर्व विवाह और बाद में आशवासनों के मध्य गर्भवती शकुंतला को छोड़कर अपने राज्य में प्रस्थान कर जाना। ऋषि कण्व द्वारा जब शकुंतला को राजा दुष्यंत के पास भेजा गया, तब राजा ने यह कहकर उसका घोर अपमान किया, 'हम पराई स्त्री पर दृष्टि भी डालना पाप समझते हैं।' 'मैं इसे नहीं पहचानता, 'त्रिया-चरित्र यहाँ नहीं चलेगा', 'छल तो आपको विद्या की भाँति सिखाया जाता है।' ⁹ निराश हो शकुंतला निविड़-निर्जन वनप्रांतर में चली गई। सोचने लगी— 'अप्सरा और राजर्षि पाप करें और दंड मैं भोगूँ? न्यायासन में विराजने वाले ये देवता और ऋषि केवल अन्याय ही कर सकते हैं?' ¹⁰ इस प्रकार उपर्युक्त दोनों ही उपन्यास नारी के दोहन-शोषण की पुष्टि करते हैं।

चंद्रजी ने राजशाही संस्कृति व व्यवस्था की वास्तविकता उजागर करते हुए 'देहगाथा माधवी की' में स्पष्ट लिखा है— 'माधवी की जीवन परिस्थितियाँ सामंती व राजशाही संस्कृति व व्यवस्था की सच्चाई है और सच्चाई है— तार्किकता के दायरे में जीते सारे पात्र, उनकी विसंगतियाँ, लोलुपता, निडरता और पाखंड।' ¹¹ माधवी की परिस्थितियों को जन्म देनेवाला है— उसका पिता महाराजा ययाति, जिसकी दृष्टि में 'पितृ-आज्ञा मानना संतान का श्रेष्ठ धर्म है।' ¹² 'राजा ययाति के यहाँ से कोई याचक खाली हाथ तो नहीं जा सकता।' ¹³ इसलिए वे माधवी को बुलाकर समझाते हैं— 'पुत्री, ऋषियों में महान तपस्वी गालव मुनि मेरे द्वार पर

याचक बनकर आए हैं। संग आए हैं विष्णु वाहन पक्षीराज गरुड़। आठ सौ श्यामकर्ण अश्व देने के लिए मैं अभी सर्वथा असमर्थ हूँ। अतः मैं तुम्हें अश्वोपलब्ध के साधन के बदले प्रदान कर रहा हूँ। गालवजी तुम्हें किसी राजा या देवता को देकर उनसे बदले में आठ सौ अश्व प्राप्त कर लेंगे।¹⁴ आँखों में आँसू भरकर जब द्वंद्वमयी स्थिति में उसने पूछा, 'यह पितृ-आज्ञा है या राजाज्ञा, तो ययाति बोले, 'दोनों।' बेटी को जाते देख पिता की आकृति पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई अपितु गालव और गरुड़ की ओर उन्होंने अहंकारपूर्ण दृष्टि डालते हुए कहा, 'मेरी लाड़ली बिटिया, तुमने अपने राजा पिता के वचनों की रक्षा करके अपने कुल का गौरव बढ़ाया है और मुझे मोक्ष का अधिकारी।'¹⁵ चार पुरुषों द्वारा भोगी जाकर तथा चार बेटों को जन्म देकर माधवी जब पुनः राजा ययाति के पास लाई गई, तब राजा उसके स्वयंवर के लिए चिंतित हो उठे। राजा की इच्छा का समर्थन करते हुए महारानी देवयानी माधवी से कहती हैं, 'माँ-बाप का कर्तव्य बनता है कि तुम्हारा विवाह हो और स्वयंवर के माध्यम से हो। एक महाराजा की शान, बान, आन और वैभव के अनुसार हो। क्या तुम्हारे कारण सम्राट ययाति अपने कुल-गौरव को विस्मृत कर दें? क्या वे इस अपयश के भागी बनें कि अपनी पुत्री का विवाह करने में अक्षम हैं।'¹⁶ राजपंडित भी उसे यही समझाते हैं, 'ये इस धर्म-व्यवस्था में पाप नहीं है। सहर्ष स्वयंवर में पति का चुनाव करके गृहस्थी बनो। गृहस्थधर्म के पालन के बिना मोक्ष संभव नहीं'¹⁷ सबके समझाने पर भी माधवी स्वयंवर के लिए तैयार नहीं हुई। वह इस संस्कृति और व्यवस्था से आगे बढ़कर एकांतसेवन-हेतु संन्यास ले लेती है।

'एक नियति और' में राजा दुष्यंत और शकुंतला के प्रसंग में तत्कालीन संस्कृति और व्यवस्था का बोध होता है। राजा दुष्यंत जब आखेट के लिए एक दिन प्रस्थान करते हैं, तब एक हिरण का पीछा करते-करते अपरिचित बीहड़ वन में पहुँच जाते हैं। जब वे एक मृग को मारने की कोशिश कर रहे थे, तब एक तपस्वी ने राजा के सन्निकट आकर कहा, 'राजन, यह आश्रम की भूमि है। यहाँ पशु-पक्षी आश्रम की निधि हैं, इनको मारना न्यायसंगत नहीं। फिर आश्रम की परिधि में हिंसा वर्जित है।'¹⁸ राजा ने तुरंत धनुष-बाण रख पश्चात्ताप प्रकट किया। शकुंतला के अद्वितीय सौंदर्य से प्रणय-सूत्र में बँधा दुष्यंत जब पहली बार ही उसकी ओर आता है, तब शकुंतला स्पष्ट कह देती है, 'राजन, मैं कुँवारी कन्या हूँ। कृपया आप मेरे पिता कण्व से मेरे परिणय की बात कीजिए। इस आश्रम की मान-मर्यादा भंग करना अनुचित है।'¹⁹ ऋषि कण्व सोमतीर्थ गए हुए थे। शकुंतला ने स्पष्ट कहा, 'शील का ध्यान रखो। अपने प्रेम की स्वीकृति देने के पश्चात् भी मैं मान-मर्यादा और अपने घर-संसार के नियमों से बँधी हूँ। तुम्हें विदित है न, ऋषि-कन्याओं ने सदा गांधर्व विवाह किया है।'²⁰ शकुंतला के कहने पर राजा दुष्यंत पृथ्वी, आकाश, जल, वायु और सूर्य को साक्षी मानकर उससे गांधर्व विवाह कर लेता है। परंतु अपने राज्य में पहुँचकर विदूषक माढव्य के बार-बार कहने पर भी शकुंतला को अपने पास बुलाने के लिए तैयार नहीं होता है। अपितु राजमहल में शकुंतला के साथ गांधर्व विवाह की बात बताने के लिए भी मना करता है।

'एक नियति और' में देवसंस्कृति और व्यवस्था का भी संकेत मिलता है। ऋषि विश्वामित्र की तपस्या से चिंतित नारदजी देवराज इंद्र के समीप पहुँचकर बताते हैं, 'राजर्षि विश्वामित्र, ब्रह्मर्षि बनने की असफल चेष्टा के बाद वे देवराज इंद्र के सिंहासन को प्राप्त

करना चाहते हैं। विश्वामित्र की तपस्या से एक नया वातावरण तैयार हो रहा है और सारे देवता विचलित से हो रहे हैं। सभी का अनुमान है कि वे इंद्रासन लेकर ही रहेंगे।’²¹ इसके पश्चात् इंद्रदेव अन्य देवताओं एवं अप्सरा मेनका की सहायता से ऋषि की तपस्या भंग करा देते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों उपन्यासों में राजाओं और देवताओं की संस्कृति और व्यवस्था का समुचित दिग्दर्शन कराया गया है।

‘देहगाथा माधवी की’ में माधवी को वेद ऋषि का वरदान प्राप्त था कि पुत्र उत्पन्न करने के बाद वह फिर से कुँवारी हो जाएगी। कुँवारी होने के वरदान के कारण ही राजा ययाति उसका स्वयंवर करना चाहते हैं, परंतु माधवी इसका विरोध करती है, ‘मैं अपना स्वयंवर नहीं चाहती। मैं चार बच्चों की माँ हूँ। भले ही मैं उन पुत्रों को अपना पुत्र न कह सकूँ, पर उन्हें मैंने अपनी कोख में पाला है। प्रसवकाल की मर्मांतक वेदना झेली है। चार बच्चे? फिर भी कुँवारी? यह कैसी हास्यास्पद विडंबना है। यह जीवन की कैसी त्रासदी है?’²²

स्वप्न में एक बार माधवी आखेट के लिए जंगल में जाती है और एक बाघिन को तीर मारती है। बाघिन तीर से लहलुहान हो जाती है। माधवी को अनुभव हुआ कि बाघिन की आँखों में अश्रु थे। क्रोधाग्नि भी। बाघिन ने घृणा से कहा, ‘माधवी, मेरा शावक बहुत ही छोटा है और मेरी मृत्यु सन्निकट है। अल्पकाल में मेरी साँसों का साथ समाप्त हो जाएगा। मैं अभी युवा हूँ और मेरा बाघ मुझे प्रचुर मात्रा में चाहता है। बिना माँ के शावक मर जाएगा और बाघ मेरे वियोग में। मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि तुम्हें पुत्र और पति का संग नहीं मिलेगा।’²³ वह पल्लवी से कहती है, ‘यह स्वप्न संदर्भहीन नहीं है। मैंने आखेट में बाघिन को घायल किया था। मेरा कलेजा काँप रहा है। आज नहीं तो कल अवश्य ही कोई अशुभ घटित होगा।’²⁴ माधवी अंत तक भी पति और पुत्र का सुख प्राप्त नहीं कर पाती, तो इसके पीछे वह इसी शाप की सत्यता समझती है।

‘एक नियति और’ में शकुंतला को दिया गया दुर्वासा ऋषि का शाप विश्व-विख्यात है। दुष्यंत के ध्यान में लीन शकुंतला को दुर्वासा के आगमन का पता नहीं चला। इसलिए उनका स्वागत नहीं कर सकी। दुर्वासा ने दाँत पीसकर शाप दिया, ‘तूने मेरा अपमान किया है। जा, तू जिसकी स्मृति में तल्लीन है, वह तुझे भूल जाएगा।’²⁵ शकुंतला के जीवन में, बाद में यही शाप फलीभूत होता है।

भविष्यवाणी के भी इन उपन्यासों में अनेक प्रसंग मिलते हैं। ‘देहगाथा माधवी की’ में गालव ऋषि जब माधवी को राजा हयश्रुव को सौंपते हैं, तब बताते हैं कि— ‘आप माधवी का उपभोग एक पुत्र होने तक ही कर सकते हैं। इसके उपरांत मैं इसे वापस ले जाऊँगा। यह चार तेजस्वी पुत्रों को जन्म देनेवाली है।’ हयश्रुव ने आशंका प्रकट की— ‘और यदि पुत्री हुई तो?’ गालव बोले— नहीं, यह पुत्रवती ही होगी, क्योंकि महाराज ‘ययाति’ ने इसे कुल-स्थापना करने वाली कहा है। मेरा ज्ञान-बल भी यही कहता है।’²⁶

‘एक नियति और’ में परित्यक्ता शकुंतला ने ऋषि मारीच के आश्रम में जब एक पुत्र को जन्म दिया, तब नामकरण-संस्कार के दिन मारीच कश्यप ने अपनी ज्योतिष-गणना से कहा, ‘यह बालक अत्यंत प्रतापी और यशस्वी होगा। इसके नाम से यह आर्यभूमि अमर

हो जाएगी।’²⁷ इस प्रकार वरदान, अभिशाप और भविष्यवाणी से संबद्ध ये दोनों ही उपन्यास उस समय की स्थिति और मानवीय स्वभाव को सहज ही उजागर कर देते हैं।

‘देहगाथा माधवी की’ में भोजनगर के राजा उशीनर पुत्रहीन हैं, जो हमेशा इस पीड़ा से व्याकुल रहते हैं। वह माधवी से स्पष्ट कहते हैं, ‘मैंने यह सौदा बहुत विवशतावश किया है। कारण भी स्पष्ट है कि मैं पुत्रहीन हूँ। मेरे वंश की मेरे पश्चात् इतिश्री हो जाएगी। तुम्हारे और मेरे समागम के बाद जो भी संतान होगी, वह तो कुल-गौरव को बढ़ानेवाली ही होगी।’²⁸

इसी प्रकार ‘एक नियति और’ में राजा दुष्यंत को संतानहीन होने का दुःख पीड़ित करता रहता है। सोमरात के यह कहने पर कि निःसंतान मनुष्य श्रेष्ठ नहीं होता। उसके तो सारे लोक बिगड़ जाते हैं, राजा बोले, ‘मैं जानता हूँ। हमारे पीछे हमारे पुरुवंश की राज्यलक्ष्मी की क्या दशा होगी? यही चिंता हमें सताती रहती है कि हमारे पीछे हमारा वैदिक विधि से तर्पण कौन करेगा।’²⁹

इस प्रकार चंद्रजी ने अनेक विचार और समस्याएँ प्रस्तुत की हैं। ये सभी विचार एवं समस्याएँ वर्तमान से जुड़ी होने के कारण प्रासंगिक हैं।

कथा-संगठन की दृष्टि से दोनों उपन्यास प्रशंसनीय हैं, जो नारी-जीवन की समस्याओं को चित्रित करते हैं। समाज चली आती मान्यताओं को ही अंतिम सत्य मानता है, परंतु चंद्रजी का मानना है कि ‘परिवर्तन की वह लहर कब आएगी, जब नारी को पुरुष की पत्नी बनकर जीवित रहना नहीं होगा।’³⁰ अभिप्राय है कि नारी का स्वतंत्र अस्तित्व होगा।

चंद्रजी सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन चाहते हैं। इसलिए उन्होंने अपने पात्रों को हाड़-मांस के पुतले नहीं वरन् विचारशील, विद्रोही और निर्भीक प्रस्तुत किया है। दोनों उपन्यासों की प्रमुख नारियाँ इसका प्रमाण हैं। माधवी घोर यंत्रणाएँ भोगने के बाद जब लौटकर आती है, तब राजा ययाति से स्पष्ट कहती है, ‘अपनी श्रेष्ठता और दानशीलता की रक्षा के लिए आपने अपनी आत्मजा को दाँव पर लगा दिया? क्यों नहीं आपने अपना राज-पाट दाँव पर लगाया? आपके गौरवशाली कुटुंब में मैं ही एक अभागी थी? बोलिए महाराज?’ ‘यदि मैं संग जाने की दुर्वह चुभन और पतनशील यथार्थ को जानती तो मैं कतई उनके संग नहीं जाती। मैंने तो सोचा था कि धर्म का ढोल पीटने वाले, नैतिक आदर्शों की रक्षा करने वाले विद्वान ऋषि गालव मुझे किसी समृद्ध-समर्थ कुलीन राजा को सौंपकर आठ सौ श्यामकर्ण अश्व प्राप्त कर लेंगे। मैंने इसी कारण विनीत भाव से काल-धर्म के अनुसार आपकी आज्ञा मान ली।’³¹ ‘एक नियति और’ में शकुंतला ऋषि मारीच के आश्रम में आए राजा दुष्यंत के प्रति क्रोधाभिभूत हो कह उठती है, ‘आह! तुमने मेरे तन पर तिरस्कार के कितने अंगार चिपकाए ... इस दुःखिनी के मर्म पर कितने आघात लगाए। तुम्हारी विवशता को मैं भलीभाँति समझ रही हूँ। निःसंतान होने की विवशता ने ही तुम्हें मुझे फिर ढूँढ लाने के लिए बाध्य किया है।’³²

अन्य नारी-पात्रों में राजा ययाति की महारानी देवयानी अहंकार से परिपूर्ण असहिष्णु, वाचाल, अस्थिर और हठी है तो दूसरी ओर रानी शर्मिष्ठा विचारशील, न्यायप्रिय व समझदार। इसी प्रकार राजा दुष्यंत की प्रिय पत्नी वसुमती उग्र स्वभाव की है, तो हंसपादिका सुख-दुख से दूर रहनेवाली है। सेविकाओं, सहयोगिनियों और प्रिय सखियों के रूप में पल्लवी, प्रियंवदा व अनुसूया विशिष्ट संरचना हैं। दोनों उपन्यासों के सभी राजा भोगी-विलासी, सुरा-सुंदरी में

लीन रहनेवाले हैं, तो दूसरी ओर क्षत्रियधर्म का निर्वाह करनेवाले भी।

कथोपकथन द्वारा चंद्रजी ने कथानक को सहज स्वाभाविक बनाने के साथ-साथ पात्रों के सुख-दुख, राग-विराग तथा उत्थान-पतन को चित्रित करने का प्रयास किया है। 'देहगाथा माधवी की' में जब ऋषि गालव माधवी को अयोध्या नरेश हयश्रुव को सौंप देते हैं और राजा उन्मादित होकर एकांत की कामना करते हैं, तब माधवी निवेदन करती है, 'आप मेरे साथ सहशयन करेंगे। क्या कुँवारी स्त्री के साथ यह धर्मोचित है? आप मुझसे विवाह क्यों नहीं कर लेते, मैं राजकन्या हूँ। सौंदर्य और गुण में भी मैं पूर्ण हूँ। कुलीना कुल में जन्मी हूँ।' महाराज विहँस पड़े। बोले, 'माधवी, आपने जो भी कहा, यह अक्षरशः सत्य है, लेकिन अभी आप अपने पिता की आज्ञा-मात्र हैं और अश्व विनिमय की वस्तु हैं।' ³³

'एक नियति और' का प्रस्तुत कथोपकथन राजा दुष्यंत की मनःस्थिति तथा अभिनयशीलता का सुंदर प्रमाण है। ऋषि कुमारों और गौतमी के साथ आई शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यंत ने गंभीर स्वर में कहा, 'यह देवी कौन है? हम इसे नहीं पहचानते।' शारद्वत ने तनिक मुस्कराकर कहा, 'यह घूँघट में है, इसलिए आप इनके तपोमय सौन्दर्य को नहीं पहचान पा रहे हैं।' राजा ने स्पष्ट कहा, 'हम पराई स्त्री पर दृष्टि भी डालना पाप समझते हैं।' ³⁴

कथोपकथन द्वारा चंद्रजी ने एक ओर कथा में सरसता, रोचकता तथा सत्य का सन्निवेश किया है, तो दूसरी ओर पात्रों की वस्तुस्थिति स्पष्ट की है।

चंद्रजी देशकाल और वातावरण की दृष्टि से एक कुशल चित्रकार हैं। उन्होंने राजमहलों और वहाँ के विविध क्रियाकलापों द्वारा तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक गतिविधियों को ही साकार नहीं किया है, अपितु वातावरण की कटुता-मधुरता, प्रेम-घृणा, राग-विराग आदि को भी वाणी दी है। स्थानगत प्राकृतिक दृश्यों की अवतारणा में वे सिद्धहस्त हैं। 'देहगाथा माधवी की' में राजा ययाति का 'भव्य गगनस्पर्शी राजप्रासाद। संगमरमर के कलात्मक नक्काशीदार स्तंभ। पृथक् आवश्यकतानुसार कक्ष। महारानी देवयानी का वैभव-संपन्न कक्ष। ययाति तनिक मदिरा के नशे में। सुरा और सुंदरी के उन्माद में आठों पहर मदमस्त रहनेवाले ययाति।' ³⁵ राजा हयश्रुव की अयोध्या भक्त नगरी थी। 'उसके राजप्रासाद दूर से दिखाई दे रहे थे। प्रासाद के ऊँचे-ऊँचे स्वर्णकलश भास्कर की किरणों से दपदपा रहे थे। प्रासाद का तोरणद्वार अत्यंत ही मनमोहक लग रहा था। महीन फूल-पत्तियों की नक्काशी। प्रासाद के द्वार के दाएँ-बाएँ दो द्वारपाल शस्त्रों से सज्जित थे। उनके हाथों में भाले थे।' ³⁶ इसी प्रकार राजा दिवोदास की महान पवित्र काशी नगरी। 'सत्य और धर्मनगरी। वहाँ का जन-जन सातों सुखों का आनंद ले रहा था। वहाँ की प्रजा राजा की कृपा से इतनी सुखी थी कि विश्वनाथ की नगरी काशी में विश्वनाथ को ही भूल गई। काशी गंगा की नगरी है। यहाँ लोक-मानस की जगततारिणी गंगा अपनी समूची विराटता से प्रवाहित होती थी।' ³⁷

भोजनगर में राजा उशीनर का निजी कक्ष अनेक सुखदायक वस्तुओं से सजा था-मखमली शैया। भाँति-भाँति की मदिराएँ। पुत्र-प्राप्ति की लालसा से सरिता कूलों, पर्वत की सुरम्य घाटियों, निर्झरों के कल-कल निनाद करते जल-प्रवाहों के सन्निकट, पर्वत की घटियों में उशीनर माधवी को लेकर विहार करते थे और खूब आनंदमग्न रहते थे।' ³⁸ अंत

में तपोवन 'विश्वामित्र का रमणीक आश्रम। चतुर्दिक हरीतिमा का साम्राज्य। शरद ऋतु का आगमन हो चुका था। रात्रिकालीन चंद्रज्योत्स्ना कोहरे के कारण धुँधली हो गई थी। प्रभात के समय पत्तियों पर ओस की मोतियों के समान बूँदें चमक रही थीं। जब गालव और माधवी ने आश्रम-क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय प्रखर धूप थी। समस्त पृथ्वी धूप से नहाई लगती थी। विश्वामित्र अपने आश्रम में पेड़-पौधों का जल-सिंचन कर रहे थे।'³⁹ माधवी वहाँ की सादगी और पवित्रता से प्रभावित हो विश्वामित्र से बोली, 'यहाँ की सादगी, शुचिता और शुभ्रता ही तो मन को लुभाती है। सच तो यह है कि वैभव व विलास को भोगते-भोगते मैं ऊब गई हूँ। अब तो इस आश्रम का ही आनंद लेना चाहती हूँ। यहाँ की चप्पे-चप्पे की सादगी मेरा मन मोह रही है।'⁴⁰

'एक नियति और' के प्रारंभ में ऋषिवर मारीच का आश्रम अलौकिक वेद-ऋचाओं से गुंजित, हरीतिमाच्छन्न, प्रशक्त, सघन वृक्षों, लताओं और सुवासित सुमनों से परिपूर्ण है। 'आश्रम में देवलोकीय शांति छाई हुई है। सारे तपस्वी कदाचित् या तो प्रखर ताप से बचने के लिए विश्राम कर रहे हैं या सांध्य हवन हेतु सामग्री जुटाने में मग्न हैं।'⁴¹ इसी प्रकार ऋषि कण्व के आश्रम में चारों ओर प्रशान्त मौन छाया हुआ था। आम्रवृक्ष पर कोयल बोल रही थी। एक मृग राजा दुष्यंत को ऐसे देख रहा था मानो वह कोई प्रश्न पूछ रहा हो कि तुम यहाँ क्यों आए हो। राजा सोचने लगा, 'यह आश्रम है। यहाँ के लोग सीधे-सादे और सरल हैं। सादगी यहाँ का जीवन है। छल, कपट, वैभव-विलास और समृद्धि की कामनाओं से यहाँ प्रत्येक व्यक्ति रहित है। यहाँ केवल मन की पवित्रता और शुद्धता है।'⁴² ऐसे शुद्ध पवित्र वातावरण में हस्तिनापुर के राजा दुष्यंत ने अपनी तृष्णा का जाल फैला दिया।

इस प्रकार देशकाल-वातावरण द्वारा राजाओं की विलासिता, राज्य की शांति, आश्रमों की हरीतिमा, पवित्रता, शुद्धता और आचरण की सौम्यता के साथ तपोवन को प्रमदवन बना देने से भंग मर्यादा के संकेत भी मिलते हैं, जिसे ऋषि कण्व अनायास समझ जाते हैं। राजनीतिक गतिविधियों के रूप में 'एक नियति और' में देवराज इंद्र ने कामदेव एवं मेनका के द्वारा राजर्षि विश्वामित्र का सारा अहं, तपस्या और शक्ति भस्म कर दिए।

चंद्रजी का 'देहगाथा माधवी की' में शब्द-चयन, भाषा का प्रवाह, शैली की वर्णनात्मकता तथा पात्रों के मनःविषाद के साथ तत्कालीन संस्कृति का यथार्थ द्रष्टव्य है— 'माधवी....। चार-चार बार देह से विदेह होनेवाली माधवी पीड़ाओं की पिंडमात्र माधवी। वह बैठी-बैठी पीठ तकिये के सहारे अर्धशायित हो गई। कक्ष में गहरा सन्नाटा था। कुछ क्षणों के लिए निर्जीव-सजीव चीजें चुप थीं। माधवी ने नयन मूँद लिए। अचानक उसने बाएँ कान को खुजलाकर कहा, 'पिता के प्रति तब अथाह अनुराग, अटूट श्रद्धा और समर्पण की भावनाएँ मेरी दुर्बलताएँ बन गई थीं। उनकी आज्ञा को सर्वोपरि मानकर मैं अंधता से पालन करने पर उतर आई।'⁴³

पात्रों के पारस्परिक विचार-विमर्श में एक ओर विचारात्मक शैली है, तो दूसरी ओर सूत्रबद्धता, दार्शनिकता एवं समृद्ध भाषा की सजगता। राजा ययाति बोले, 'इस सृष्टि के आरंभ से लेकर आज तक क्षण-क्षण स्त्री-पुरुष अपनी पूर्णता की तलाश कर रहे हैं। ...देवयानी, मैंने तुम पर उपकार करके कुएँ से निकाला था और तुम तत्क्षण मुझ पर आसक्त हो गई थीं। क्यों?

उत्तर दो। उस संवेगात्मक स्थिति में अप्रत्याशित यह विचार तुम्हारे मन में क्यों जागा? इसलिए ही तो कि तुम्हें मैं पसंद आ गया। इसे ही प्रथम दृष्टि में प्रेम, नहीं-नहीं आसक्ति कहते हैं।' 44

कटु उक्तियों और तीखे व्यंग्यों का प्रयोग करके उपन्यासकार ने एक ओर पात्रों की निर्भीकता प्रदर्शित की है तो दूसरी ओर तथ्यों को उजागर किया है। ऐसे स्थलों पर भाषा संस्कृतनिष्ठ और ओजगुण-संपन्न हो गई है। यत्र-तत्र कहावतों-मुहावरों और सूक्तियों के समावेश ने प्रस्तुतीकरण को समृद्ध बनाया है। शर्मिष्ठा ने विकल भाव से कहा, 'देवयानी की समस्त कुंठाएँ व उन्माद कच के प्रेम में पराजित होने की प्रतिक्रिया है। हताशा जीवन में फूल की जगह शूल उत्पन्न कर सकती है। भग्न-प्रीति की व्यथाएँ सहजता से विमृत नहीं की जा सकती।' 45

भावनात्मक और चित्रात्मक शैली के अनेक उदाहरण 'एक नियति और' में देखे जा सकते हैं। राजर्षि विश्वामित्र कदंब वृक्ष-तले आत्मलीन-से बैठे हैं। 'मेनका गर्भवती है।' यह वाक्य युद्ध में बरसते हुए बाणों की तरह उन पर आक्रमण कर रहा था। 'यह मैंने कैसा पाप कर दिया।' 46

अलंकृत-काव्यमयी भाषा-शैली के निर्वाह में चंद्रजी पूर्ण कुशल हैं। सौंदर्य-वर्णन, पात्रों के स्वभाव व चरित्र-चित्रण तथा प्राकृतिक दृश्यों के निरूपण में ऐसे ही प्रयोग इस उपन्यास में पर्याप्त रूप से प्राप्त होते हैं- 'मेनका का रूप-लावण्य अद्भुत या उसके देह में मंद ज्योत्सना दपदपा रही थी। केसर के अंगराग की सुवास की महक फैली थी। घनश्याम केश-राशि, जिसमें फूल, गले में चंदन, मुक्ताओं के हार, कंचुकी में से झाँकते दो स्वर्ण-कलश, नाभि-छिद्र के चारों ओर लाल कमलों का लेप। फिर एक अधोवस्त्र। कपोलों पर फैली स्मित रेख।' 47 कतिपय स्थलों पर चंद्रजी ने व्यावहारिक शब्दों के साथ राजस्थानी शब्दों का सुंदर प्रयोग करके सहजता, सरसता और चारुत्व का परिचय दिया है। 'देहगाथा माधवी की' में माधवी ने ललाट में बल डालते हुए गुस्से में कहा, 'यदि मैं संग जाने का पतनशील यथार्थ जानती, तो मैं कतई उनके संग नहीं जाती।' 48

बिंब और प्रतीक के अनेक स्थल इन उपन्यासों में विद्यमान हैं। 'एक नियति और' में प्रकृति के सुंदर बिंब जहाँ-तहाँ देखे जा सकते हैं- 'धीरे-धीरे इंद्रदेव गवाक्ष में आए। श्वेत संगमरमर के गजमुख स्तंभों के सहारे वे खड़े हो गए। चारों ओर हिम-ही-हिम पसरा हुआ था। हाँ, घाटियों के मध्य वृक्षों पर फूल आ गए थे, जो बता रहे थे कि वसंत ऋतु आ गई है। छोटे-छोटे जलाशयों में कमल खिल गए थे। उनकी दृष्टि अपने देश की तन्वी कायावाली उन युवतियों पर गई, जिन्होंने चंपा के फूल अपने जूड़ों में लगा रखे थे।' 49 'देहगाथा माधवी की' में 'प्रभात सूर्य प्राची में अपनी अरुणिम आभा बिखरने लगा था। प्राची की क्षितिज-कन्या के अधर रक्तवर्णी लग रहे थे। सूर्य का उदय-उत्सव आरंभ हो गया था। क्षितिज कन्या के अधरों की रक्तवर्णी आभा अरुणोदय के संग-संग फीकी पड़ते-पड़ते लुप्त हो गई थी। अब उजाला ही उजाला था। सृष्टि पर सौंदर्य बरसाता रश्मियों का प्रेम-प्रकाश। पावन स्पर्शों का खेला।' 50

प्रतीक की दृष्टि से सभी राजा कामदग्ध वासना के पुतले सिद्ध होते हैं। नारी को

महाशक्ति का प्रतीक बताते हुए उपन्यासकार माधवी से कहलाते हैं, 'महाशक्ति और महाभैरवी की प्रतीक विशुद्ध स्त्री कितना पाप-पंकिल हो गई है कि उसे अपने से ग्लानि हो रही है।'⁵¹ 'देहगाथा माधवी' की में नारी वस्तु-विनिमय के प्रतीक रूप में सामने आती है।

संक्षेप में, चंद्रजी ने पौराणिक उपन्यासों में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था, संस्कृति और मान्यताओं का यथार्थ प्रस्तुत करते हुए प्रमुख पात्रों माधवी और शकुंतला के आक्रोश, विद्रोह, विचारशीलता व निर्भीकता द्वारा समाज के परिवर्तन की कामना की है।

संदर्भ

1. संस्कृत-हिंदी-कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 623
2. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय 2, श्लोक 20
3. संस्कृत-हिंदी-कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ० 1066
4. देहगाथा माधवी की, यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र', पृ० 6
5. वही पृ० 59
6. एक नियति और, यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र', पृ० 18
7. वही, पृ० 22, 23
8. वही, पृ० 40
9. वही, पृ० 81, 82
10. वही, पृ० 86
11. देहगाथा माधवी की, भूमिका शीर्षक, मैं इतना ही कहूँगा, पृ० 3
12. वही पृ० 21
13. वही, पृ० 8
14. वही, पृ० 49
15. वही, पृ० 50
16. वही, पृ० 13
17. वही, पृ० 21
18. एक नियति और, पृ० 31
19. वही, पृ० 48
20. वही पृ० 53
21. वही, पृ० 13
22. देहगाथा माधवी की, पृ० 16
23. वही, पृ० 38
24. वही, पृ० 38, 39
25. एक नियति और, पृ० 68
26. देहगाथा माधवी की, पृ० 59
27. एक नियति और, पृ० 95
28. देहगाथा माधवी की, पृ० 85
29. एक नियति और, पृ० 100
30. वही, पृ० 142

31. देहगाथा माधवी की, पृ० 22, 23
32. एक नियति और, पृ० 140
33. देहगाथा माधवी की, पृ० 61, 62
34. एक नियति और, पृ० 80, 81
35. देहगाथा माधवी की, पृ० 7
36. वही, पृ० 55
37. वही, पृ० 70
38. वही, पृ० 86
39. वही, पृ० 98
40. वही, पृ० 103
41. एक नियति और, पृ० 9
42. वही, पृ० 33
43. देहगाथा माधवी की, पृ० 5
44. वही पृ० 19, 20
45. वही, पृ० 12
46. एक नियति और, पृ० 25
47. वही, पृ० 22
48. देहगाथा माधवी की, पृ० 23
49. एक नियति और, पृ० 15
50. देहगाथा माधवी की, पृ० 14
51. वही, पृ० 74, 75

साहित्य एवं पत्रकारिता का अंतर्संबंध

संगीता राव

हिंदी विभाग, अहीर कॉलेज, रेवाड़ी

साहित्य वह विधा है, जिसमें रचनाकार सामाजिक जीवन के नानास्रोतों से अपना प्राणरस खींचता है, सामाजिक जीवन की अंतर्वस्तु से रूपायित होता है और जो कुछ भी वह सामाजिक जीवन से पाता है, उसे ही कलात्मक रूप में एक सचेत मानस-व्यापार के तहत पुनर्रचित करते हुए अपने समूचे मानवीय और सामाजिक सराकारों के साथ समाज को वापस लौटा देता है। अतः साहित्य पूरी तरह से समाज से जुड़ा है। समय का उतार-चढ़ाव हिंदी-साहित्य की हर विधा में केंद्रित है।

साहित्य व पत्रकारिता का अंतर्संबंध जानने से पहले हमें साहित्य व पत्रकारिता के अर्थ को जानना आवश्यक हो जाता है।

साहित्य :

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति 'सहित' शब्द युक्त भाववाचक प्रत्यय 'ष्यञ' से होती है। साहित्योः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम् अर्थात् संयुक्त शब्द और अर्थ का भाव साहित्य है।¹ आचार्य कुन्तक ने भी भी माना है कि साहित्य में सहित का भाव विद्यमान है 'सहितस्य भावः साहित्यम्'।²

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने ज्ञान-राशि के संचित कोष का नाम साहित्य माना है।³ अतः साहित्य में जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष, का उसके ऊँच-नीच भावों का, धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, राजनीतिक परिस्थितियों का प्रतिबिंब देखने को मिलता है।

पत्रकारिता :

डॉ० रामचंद्र वर्मा : वह विधा जिसमें पत्रकारों के कार्यों, कर्तव्यों आदि का विवेचन होता है, पत्रकारिता है।⁴

महात्मा गांधी जी का मानना था कि पत्रकारिता का उद्देश्य जनता की इच्छाओं, विचारों को समझना उन्हें व्यक्त करना है इसका दूसरा उद्देश्य जनता में वांछनीय भावनाओं को जागृत करना तथा तीसरा उद्देश्य सार्वजनिक दोषों को निर्भयतापूर्वक प्रकट करना है।⁵

जबकि मैथ्यु आर्नल्ड ने पत्रकारिता को शीघ्रता से लिखा जाने वाला साहित्य कहा है।⁶

साहित्य व पत्रकारिता का अंतर्संबंध :

प्रत्येक युग के साहित्य के माध्यम से उस युग के सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन से हमारा परिचय होता है। इसके अतिरिक्त जनमानस की सवेदनाएँ, अनुभूतियाँ, प्रेम, घृणा, सुख-दुख सब साहित्य के माध्यम से ही अभिव्यक्त होते हैं। इसके साथ ही पत्रकारिता में भी वैयक्तिक पत्रों के साथ-साथ साहित्य, समाज, राजनीति,

समसामायिक साहित्य, समकालीन समस्याओं को प्रस्तुत किया जाता है। अतः पत्र-साहित्य, साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

साहित्य भी समाज और जीवन की भाँति निरंतर प्रवाहमान है। साहित्य को सभ्यता की निर्माण-शक्ति माना गया है। जैसे जीवन में उतार-चढ़ाव आते हैं, वैसे ही अभिव्यक्ति साहित्य में होती है। जिस प्रकार आधुनिक समय में परंपराएँ टूट रही हैं, मनुष्य एकांतजीवी होता जा रहा है। मनुष्य के विचार एक तरुफा हो रहे हैं। साहित्य में ऐसे ही बिंदुओं को प्रकट किया जाता है। लेकिन अब साहित्य के लिए स्वायत्तता और पहचान बनाए रखना आवश्यक हो गया है।

पत्रकारिता का उद्देश्य बदलता रहा है। पुनर्जागरण राष्ट्रीय अस्मिता, औद्योगिकरण, आधुनिक राष्ट्र का निर्माण जैसे लक्ष्यों को हिंदी-पत्रकारिता अपना केंद्रिय विषय बनाती रही है। विज्ञापन, समाचार, समीक्षा, जनमत-सर्वेक्षण सभी पत्रकारिता के माध्यम से जनता तक पहुँचते हैं। जो कुछ मनुष्य-जीवन में घटित होता है, जिसकी अनुभूति होती है, जो चिंतन और मनन का विषय है, जिसे उसने देखा, जो सर्वहितकारी है, भाषा के माध्यम से व्यक्त हुआ, वही साहित्य है। वातावरण भी साहित्यकार को प्रभावित करता है, क्योंकि जीवन की सही स्थिति वातावरण के भीतर से ही झलकती है।

पत्रकारिता समाज के लिए ज्ञानवर्धन, मनोरंजन और उद्बोधन का आधार है। पत्रकारिता ही स्वतंत्रता और अभूतपूर्व क्रांति की संदेशवाहिका है। पत्रकारिता को समाज का सेवक और लोकतंत्र की आधारभूमि मान सकते हैं। अतः साहित्य और पत्रकारिता दोनों ही समाज से जुड़ी हैं। दोनों में सामाजिक वातावरण व परिस्थितियों को चित्रित किया जाता है। पत्रकारिता समाजोन्नयन के लिए अपनाई गई वह विधा है, जिसमें समाज की विषमताओं के दिग्दर्शन और देश-विदेश के विभिन्न क्षेत्रों के समाचार के साथ ज्ञान-विज्ञान की नूतन उपलब्धियों का परिचय कराया जाता है, उसे पत्रकारिता की संज्ञा दी जा सकती है।

महात्मा गांधी जी ने तो पत्रकारिता को आदर्श समाज-स्थापना के लिए सामाजिक बुराइयों को दर्शाते हुए दिशा-निर्देशक के रूप में स्वीकार किया है। साहित्य और पत्रकारिता दोनों का लक्ष्य संपूर्ण मानवता का सांस्कृतिक विकास होता है। (पत्रसाहित्य में किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है। पत्रों में ही लेखक की वैयक्तिकता स्पष्टतः मुखरित होती है। व्यक्तिगत पत्रों में साहित्यकार के पारिवारिक जीवन, व्यक्तिक समस्याएँ, सृजन-प्रक्रिया व निजी लेखा-जोखा मिलता है। व्यक्तिक पत्रों के अतिरिक्त अन्य नाना विषयों से संबंधित पत्रों से साहित्य, समाज राजनीति, समसामायिक साहित्य, समकालिक समस्याओं आदि का सम्यक परिचय मिलता है। अतः पत्र-साहित्य का साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। पत्र साहित्य के विकास में नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सरस्वती, माधुरी, धर्मयुग, साप्ताहिक, हिन्दुस्तान, ज्ञानोदय, तथा राष्ट्रवाणी पत्रिकाओं ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।)

सामाजिक परिवर्तनों के साथ पत्रकारिता के अर्थ में नए तत्त्व सम्मिलित हो गए हैं। पहले पत्रकारिता समाचार-पत्र व पत्रिकाओं के लिए लेखन-कार्य तक सीमित थी, किंतु वर्तमान समय में प्रिंट व इलैक्ट्रॉनिक मीडिया के माध्यम से समाचारों के प्रसारण द्वारा पत्रकारिता का अर्थ व स्वरूप बदला है। कम्प्यूटर, वीडियो, इंटरनेट जैसे नए संचार माध्यमों के कारण पत्रकारिता के क्षेत्र में अद्भुत क्रांति हो रही है।

साहित्य के इतिहास में पत्र-पत्रिकाओं का विशेष महत्त्व है। साहित्य की नयी प्रवृत्तियाँ, उसमें होनेवाले प्रयोग और नूतन दृष्टिकोण सर्वप्रथम पत्रिकाओं के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पाते हैं। साहित्यकार व पत्रकार दोनों समाज के प्रति सजग होते हैं। दोनों ही अभिव्यक्ति व भाव-संप्रेषण में सक्षम होते हैं। हर पत्रकार पहले साहित्यकार तथा साहित्यकार पहले पत्रकार होता है। जिस प्रकार हिंदी साहित्य के आधुनिक युग में पत्रकारिता ने खड़ीबोली हिंदीगद्य को परिष्कृत करके, राष्ट्रीय समस्याओं पर विविध कोणों से दृष्टिपात करने और ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में लेखन करके हिंदी को समृद्ध व अनुवाद के माध्यम से उसे नई चेतना और दृष्टिसंपन्न बनाने का कार्य किया। इसी प्रकार हिंदी-पत्रकारिता के माध्यम से ही साहित्य समीक्षा का प्रारंभ हुआ और साहित्य-समीक्षा को परिभाषित कर उसका रूपाकार निर्धारित हुआ।

वर्तमान समय में समाज में जीवन में जो विकृतियाँ पैदा हुईं, उनका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा है। उपभोक्तामूलक संस्कृति का प्रभाव साहित्य में दिखायी देता है। कितनी ही पत्रिकाएँ बंद हो गईं। साहित्य इलैक्ट्रॉनिक मीडिया और सूचना-तंत्र के दबाव में है। अतः सूचना प्रौद्योगिकी और भू-मंडलीकरण जैसी स्थितियों में साहित्य का दायित्व और अधिक बढ़ गया। इसी प्रकार (प्रिंट मीडिया) पत्रकारिता को भी 'इलैक्ट्रॉनिक मीडिया' अर्थात् रेडियो, टी०वी० और अब इंटरनेट से चुनौती मिल रही है। लेकिन दूरदर्शन की बढ़ती लोकप्रियता, इंटरनेट की संचारक्रांति के बावजूद पत्रकारिता का अपना अहम स्थान है। पत्रकारिता का प्रभाव कम नहीं हो सकता है हिंदी की पत्रकारिता को विगत दो दशकों में जो विस्तार मिला है, वह सामने है। हिंदी-पत्रकारिता राष्ट्रीय स्तर से लेकर ग्रामीण अंचल तक पहुँच चुकी है। अतः हिंदी पत्रकारिता के बढ़ते वर्चस्व एवं महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

आधुनिक विश्व में पत्रकारिता लोकमत की सबसे सशक्त और लोकप्रिय अभिव्यक्ति का माध्यम है। बाह्य जगत् के आयातित ज्ञान की अभिव्यक्ति पत्रकारिता के द्वारा ही होती है। हिंदी पत्रकारिता का इतिहास बहुत पुराना नहीं अपितु इसकी कुल उम्र पौने 200 साल है। पत्रकारिता हमारी स्वतंत्रता और अभूतपूर्व क्रांति की संदेशवाहिका है। हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में भारतेंदु जी का अन्यतम स्थान है भारतेंदु मंडल के समस्त कवि किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका से जुड़े हुए थे। अतः भारतेंदुकाल में भारतेंदु जी व उनके सहयोगी कवि, लेखकों द्वारा अनेक पत्रिकाओं का संपादन व प्रकाशन हुआ। 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र मैग्जीन', 'बालबोधिनी' तथा 'आर्यमित्र' व 'काशी समाचार' में तत्कालीन साहित्यिक विधाओं को प्रकाशित किया जाता रहा।

द्विवेदीकाल में राजनीतिक व साहित्यिक दो प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। 19वीं शती के अंत तक भारतीय संस्कृति, राजनीतिक, सामाजिक व राष्ट्रीय चेतना का मुख्य केंद्र कलकत्ता ही रहा। 'केसरी' पत्रिका का, जो पहले साहित्यिक होने के साथ बाद में राजनीतिक पत्रिका बनी, प्रकाशन-स्थान कलकत्ता ही था। सन् 1900 में महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन हुआ। इसी समय महान् लेखक श्री माधवप्रसाद मिश्र व देवकीनंदन खत्री द्वारा 'सुदर्शन' नामक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन किया गया।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी महान् साहित्यिक लेखक थे, जिन्होंने अपनी पत्रिका 'सरस्वती' के माध्यम से साहित्य की प्रत्येक विधा को बल प्रदान किया। इन्होंने साहित्य व

कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा को अपदस्थ कर हिंदी गद्य व पद्य दोनों क्षेत्रों में खड़ीबोली को प्रतिष्ठित किया। इसी युग में 'रामेश्वरी नेहरू' द्वारा सम्पादित 'स्त्री-दर्पण' पत्रिका में महिला-समस्या से संबंधित लेखों के अतिरिक्त महिला लेखिकाओं की रचनाओं को प्रकाशन में प्राथमिकता मिलती थी। इसी युग की साहित्यिक पत्रिकाएं चाँद, प्रभा, माधुरी आदि ने साहित्य-समृद्धि व भाषा-परिष्कार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

छायावादी काल में माधुरी, मर्यादा, चाँद, सुधा, विशाल भारत, हंस आदि पत्रिकाओं ने साहित्यिक विधाओं को पाठकों तक पहुँचाया। इसी काल के मतवाला, जागरण, भारतमित्र का साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन्हीं पत्रों के द्वारा साहित्यिक गतिविधियों को नियंत्रित व संचालित किया जाता था।

आधुनिक हिंदी-पत्रकारिता स्वतंत्रता के बाद ही अस्तित्व में आयी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद तो जैसे हिंदी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ सी आ गई तथा पत्रकारिता के उज्वल भविष्य की आशा बंधी। सामाजिक परिवर्तनों के साथ-साथ पत्रकारिता के अर्थ में नए तत्त्व सम्मिलित हो गए। अब हिंदी-पत्रकारिता ज्ञान-विज्ञान के उद्घाटन के साथ साहित्य और शोध को बढ़ावा देने के उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ी है। हिन्दुस्तान, दिनमान, सैनिक, शक्ति, कर्मवीर, संचेतना, साहित्य संदेश, धर्मयुग, इंडिया टुडे, वामा, कादंबिनी, वीणा आदि में विशुद्ध साहित्यिक विचारों को स्थान दिया गया। समीक्षा पत्रिका ने हिंदी-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं की बिना पक्षपात के समीक्षा प्रस्तुत कर हिंदी साहित्य को सही व स्वस्थ विकास की दिशा प्रदान की। अनेक शोध-पत्रिकाएँ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हिंदी-अनुशीलन, हिन्दुस्तानी, सम्मेलन पत्रिका, आलोचना, शोध दिशा, नया ज्ञानोदय, साक्षात्कार, हरिगंधा आदि पत्रिकाएँ साहित्यिक घटनाक्रम की सुंदर अभिव्यक्ति कर रही हैं। अपना अहम स्थान बनाए हुए हैं।

संदर्भ

1. साहित्य का उत्कर्ष, डॉ० श्यामनारायण पांडेय।
2. साहित्य का उत्कर्ष, डॉ० श्यामनारायण पांडेय।
3. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल।
4. प्रयोजनमूलक हिंदी और काव्यांग, डॉ० नरेश मिश्र।
5. प्रयोजनमूलक हिंदी और काव्यांग, डॉ० नरेश मिश्र।
6. अंतिम दो दशकों का हिंदी साहित्य, संपादक डॉ० मीरा गौतम
7. साहित्य का उत्कर्ष, डॉ० श्यामनारायण पांडेय
8. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल
9. प्रयोजनमूलक हिंदी, डॉ० नरेश मिश्र
10. अंतिम दो दशकों का हिंदी साहित्य, डॉ० मीरा गौतम

□ कोठी नं० 25
राधास्वामी कालोनी
निकट सेक्टर-3
रिवाड़ी 123001 (हरियाणा)

नारी-विमर्श : विविध आयाम

सारिका त्यागी, शोध छात्रा

पुरुष और स्त्री का सहज आकर्षण अनादिकाल से चला आ रहा है; समाज में ही नहीं, साहित्य में भी, यथार्थ में ही नहीं, कल्पना में भी। नारी का साहचर्य पुरुष के लिए सुखद अनुभूतियों का स्रोत रहा है और पुरुष की कल्पना नारी में सर्वाधिक आनन्द प्राप्त करती रही है। चिरकाल से ही नारी सुकुमारता, कोमलता, विनम्रता, त्याग, कर्तव्यपरायणता तथा मधुरता की प्रतीक तथा पुरुष शक्ति, शौर्य एवं कठोरता का प्रतीक रहा है।

‘आँचल में दूध और आँखों में पानी लिए त्यागमयी नारी सामाजिक व्यवस्था का अनिवार्य अंग रही है; और यह स्पष्ट है कि हमारी आदिमकालीन गृहस्थी का शिलान्यास नारी की कोमलता के कर-कमलों द्वारा ही हुआ होगा, पुरुष की कठोरता से नहीं। महादेवी वर्मा के शब्दों में— ‘पुरुष को यदि वृक्ष की उपमा दी जाए, जो अपने चारों ओर के छोटे-छोटे पौधों का जीवनरस चूसकर आकाश की ओर बढ़ता है तो स्त्री को ऐसी लता कहना होगा, जो पृथ्वी से बहुत थोड़ा-सा स्थान लेकर अपनी सघनता में बहुत से अंकुरों को पनपाती हुई, उस वृक्ष की विशालता को चारों ओर से ढक लेती है..... प्रकृति ने केवल उसके शरीर को अधिक सुकुमार नहीं बनाया वरन् उसे मनुष्य की जननी का पद देकर उसके हृदय में अधिक संवेदना, आँखों में अधिक आर्द्रता तथा स्वभाव में अधिक कोमलता भर दी।’¹

नारी की काल-सापेक्ष स्थिति :

युगांतरों से उत्थान-पतन की तरंगों में झूलती हुई भारतीय नारी को कभी तो सम्मान का स्वर्णिम कगार मिला तो कभी पतन की मझधार।

वैदिककाल :

नारी का सर्वाधिक सशक्त रूप हमें वैदिक युग में देखने को मिलता है। यह मातृ-सत्ता-प्रधान युग था। पुत्र न होने पर पिता की संपत्ति की अधिकारिणी पुत्री होती थी, मातृत्व को दैवी शक्ति माना जाता था और संतान को पिता के वंश या कुल से नहीं, वरन् माता के नाम से परिचय मिलता था। सती होना उसकी इच्छा पर निर्भर था, विवाह के लिए स्वयंवर-प्रथा प्रचलित थी, कन्या स्वयं वर का चुनाव करती थी। इस युग में नारी न केवल पठन-पाठन के लिए स्वतंत्र थी, वरन् वेद-ऋचाओं की रचना भी करती थी। यह युग नारी का स्वर्णिम युग कहा जा सकता है।

उत्तर वैदिककाल :

उत्तर वैदिककाल में कन्या-जन्म को विपत्ति का कारण माना जाने लगा तथा उसे शूद्र से भी नीच कहा जाने लगा व पुत्र को स्वर्ग-तुल्य कहा जाने लगा व पिता के धन पर कन्या का अधिकार समाप्त कर दिया गया। यद्यपि इस काल में कहीं-कहीं सहमरण का उल्लेख भी

मिलता है, फिर भी विधवा-विवाह का प्रचलन भी रहा। इस प्रकार इस काल को नारी के पतन का प्रारंभिक काल कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जब मातृसत्तात्मक समाज पितृसत्तात्मक समाज में पूर्णतया परिवर्तित हो चुका था तथा नारी अपना अस्तित्व खोकर पुरुष की छाया-मात्र बन गयी थी।

महाकाव्यकाल :

इस काल में नारी की उत्तर वैदिककाल से भी अधिक दुर्दशा होने लगी। वैदिकयुग की सम्मानित नारी इस काल में आते-आते पण्य सामग्री बन चुकी थी और वह पुरुष की संपत्ति कही जाने लगी। इस काल में स्वयंवर-प्रथा प्रचलित थी, परंतु कन्या को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। उसे पिता की निर्धारित शर्तों को पूरा करना पड़ता था। गांधारी द्वारा अंधे पति के कारण अपनी आँखों पर जीवन-भर पट्टी बाँधे रहना तथा द्रौपदी को जुए पर लगाया जाना, नारी-दुर्दशा का ही प्रमाण है। नारी को बुराइयों का पर्याय माना जाने लगा, जो निम्न उद्धरण से स्पष्ट है-

यदि जिह्वासहस्रं स्याज्जीवेच्च शरदां शतमा,
अनन्य कर्मा स्त्रीदोषान् नुक्ता निधनं व्रजेत।²

बौद्धकाल :

जिस नारी को पुरुष की अधिकार-लिप्सा ने दबा दिया था, उसने इस युग में आकर कुछ राहत की साँस ली। बुद्ध के द्वारा धर्म का द्वार विधवा, पतित, वेश्या आदि सभी के लिए खोल दिए जाने से, नारी प्रायः बौद्धसंघ में दीक्षित हो जाया करती थी। इस युग में पुत्री का जन्म अमंगलकारी समझा जाना बंद हो गया। परंतु बौद्ध के निर्वाण के पश्चात् नारी-पतन रूपी वृक्ष की शाखाएँ फिर से फूटीं और नारीदेह को काम-तृप्ति का आधार मानकर उसका शोषण होने लगा। इस प्रकार वैदिकयुग की देवी नारी की स्थिति इस काल में पावनता की पुष्करिणी-सी न रहकर जनसाधारण की प्यास बुझानेवाली पोखर-सी हो गई थी।

पौराणिक काल :

इस युग को नारी-पतन की चरम सीमा का प्रथम चरण कहा जाने लगा। मनुस्मृति के अनुसार-‘नारी को नितुर व दुराचारी व कुत्सित पति को भी देवता के समान समझना चाहिए।’³ पति की आराधना को ब्रह्म की आराधना बताया गया और इन नियमों का उल्लंघन करने वाली नारी को कठोरतम दंड के निर्देश दिए गए। इतना ही नहीं, छः बार गृहस्थी होकर संन्यासी होनेवाले भूर्तहरि ने भी नारी को- ‘मनुष्य रूपी मछली को फँसानेवाला काँटा, संदेहों का भँवर, धृष्टताओं का लोक, दुस्साहसों का नगर, दोषों की अक्षय निधि, सैकड़ों कपटोंवाली, स्वर्ग द्वार का विघ्न, अविश्वासों की जन्मभूमि, नरकपुरी का द्वार, मायाओं की पेटी, ऊपर से अमृतमय व भीतर से विषमय तथा प्राणियों को बाँधनेवाला पाश कहा है।’⁴

उत्तर पौराणिक काल या मध्यकाल :

मध्यकाल को नारी-पतन का अंतिम चरण कहा जा सकता है। इस युग में माता को गुरु कहकर मानव का प्रथम विद्यालय कहा है तो वहीं दूसरी ओर उसे संतानोत्पत्ति का साधन व समस्त झगड़ों की जड़ कहा है। इस युग में नियोग-प्रथा प्रचलित थी, जिसके अंतर्गत पत्नी

को धर्मनटी बनाकर पति के द्वारा अन्य पुरुष के पास भेजा जाता था। इस युग में नारी ने युद्धों में अपने पिता, पति, पुत्र इत्यादि का सहयोग कर अपनी वीरता व प्रशासन-कौशल का परिचय दिया व राजनीतिक क्षेत्र में भी क़दम बढ़ाए। उदाहरणस्वरूप रज़िया बेगम, नूरजहाँ। नूरजहाँ के चित्र के तो सिक्के भी चले थे, जोकि नारी-सम्मान को दर्शाते हैं।

आधुनिक काल :

19वीं शताब्दी से पूर्व तो नारी की दुर्बलता अपनी चरम सीमा पर थी, परंतु 19वीं शताब्दी के मध्य में नारी-कल्याण-संबंधी कार्यों का श्रीगणेश हुआ। नारी ने घर की देहरी को लॉघते हुए धीरे-धीरे शाला की पगडंडी पर अपने पाँव रखे। विधवा पुनर्विवाह विधेयक पारित हो गया। पर्दा-विरोध, विधवा दशा सुधार, बाल-विवाह तथा अन्य कुरीतियों के उन्मूलन के प्रस्ताव पारित किए जाने लगे। इस प्रकार इस काल से इन नूतन परिस्थितियों के परिवेश में विभिन्न संस्थाओं के अथक् प्रयासों के कारण नारी-उत्थान की आशा का अरुणोदय होने लगा।

वर्तमान काल :

जब संपूर्ण देश में प्रगति की स्वर्णिम रश्मियाँ विकीर्ण हो रही हैं तो नारी-समाज इसके संस्पर्श से कैसे अछूता रह सकता है। अब नारी परिवर्तित हो रही है, जीवन और समाज का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जहाँ स्त्रियों के पैर न पड़े हों। सभी क्षेत्रों में वह अपनी प्रतिभा का झंडा फहरा रही है। आज़ाद भारत में नारी ने अपने लिए गौरवशाली अतीत और वर्तमान को रचा है। स्त्री की प्रगति के परिदृश्य में देखें तो चाहे खेल का मैदान हो, फ़िल्मी जगत हो, ऐवरेस्ट की चोटी हो या राजनीतिक क्षेत्र हो या अंतरिक्ष-यात्रा हो, नारी ने हर क्षेत्र का संस्पर्श किया है।

परंतु सोचने की बात यह है कि वह जितना अधिक प्रगति कर रही है, उतनी ही ज़्यादा शोषित हो रही है। बढ़ती भ्रूण-हत्या से ज्ञात होता है कि आज भी पुत्री को पुत्र के समान दर्जा नहीं मिला है। नारी की वर्तमान स्थिति को मैं अपने शब्दों में इस प्रकार वर्णित करना चाहूँगी—

पलट दी तस्वीर भारत की, नारी की आगे बढ़ने की चाह ने
चुप हूँ, कैसे कहूँ, रोड़े अब भी हैं उसकी राह में,
उसकी साफलताओं की तस्वीर अभी धुँधली है,
क्योंकि आज भी माताएँ पुत्र-मोह में उलझी हैं।

आज भी सामान्यतः नारी की स्थिति उस चिड़िया के समान है, जो पिंजरे का द्वार खुल जाने पर मुक्त रूप से सामने खुले आकाश में दूर तक नहीं उड़ पाती, आस-पास छोटी-मोटी उड़ानें भरकर रह जाती है।

नारी-विमर्श : विविध पहलू :

नारी-विमर्श साहित्य के अंतर्गत वह समस्त साहित्य वर्गीकृत किया जाना चाहिए, जिस साहित्य के केंद्र बिंदु में नारी हो। फिर ऐसा साहित्य चाहे नारी द्वारा लिखा गया हो या पुरुष द्वारा, इसका महत्त्व नहीं। महत्त्व इस बात का है कि नारी से सरोकार रखनेवाले मुद्दों को

कितनी शिद्धत से उठाया जाता है।

‘नारी-विमर्श का साहित्यकार उसे माना जाएगा, जिसके हृदय में नारी के प्रति सहानुभूति व समानुभूति हो अर्थात् जो नारी-हृदय में पैठ कर सकता है, जो नारी की कसक को पहचानता हो, जो नारी-भावों की अतल गहराइयों में उतर सकता हो अर्थात् जिसने नारी के जीवन को जिया है या जो हृदय नारी-सी कोमलता लिए हो। यह जरूरी नहीं कि नारी-जीवन के उजले पक्ष को रेखांकित करनेवाला साहित्यकार कहलाए, चाहे वह लेखक पुरुष हो या महिला।’⁵

नारी-विमर्श का सूत्रपात आधुनिक युग की देन नहीं है अपितु महिलाओं द्वारा रचित नारी-विमर्श का प्रथम दस्तावेज़ ‘पेरिगाथा’ लगभग पच्चीस सौ वर्ष पुराना साहित्य है। इसमें नारी-मुक्ति कामना को तरह-तरह से व्यक्त किया गया है। नारी-विमर्श को महादेवी जी ने अपने काव्य का विषय बनाया— ‘समाज ने स्त्री के संबंध में अर्थ का ऐसा विषम विभाजन किया है कि साधारण श्रमजीवीवर्ग से लेकर संपन्नवर्ग तक की स्त्रियों की दशा दयनीय कही जाने योग्य है। वह केवल उत्तराधिकार से वंचित नहीं है वरन् अर्थ के संबंध में भी सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की विवशता के बंधन में बँधी हुई है। कहीं पुरुष ने न्याय का सहारा लेकर और कहीं स्वामित्व की शक्ति से लाभ उठाकर उसे अधिक परालंबी बना दिया है कि उसकी सहायता के बिना संसार-पथ में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती।’⁶ इसके पश्चात् सन् 1949 में प्रकाशित सीमोन द बुआ की प्रसिद्ध पुस्तक द सेकेंड सैक्स ने नारीवादियों को प्रेरित किया। उन्होंने स्त्रियों के विरुद्ध होनेवाले अत्याचारों व अन्यायों का विश्लेषण करते हुए कहा कि पुरुष ने स्वयं को विशुद्ध चित्त के रूप में परिभाषित किया और स्त्रियों की स्थिति का अवमूल्यन करते हुए उसे अन्य रूप से परिभाषित किया।

सिमोन द बुआ :

‘स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि उसे बना दिया जाता है।’⁷

क्यों आवश्यक है नारी-विमर्श :

‘भूमंडलीकरण के युग में सांस्कृतिक विरासत खत्म होती जा रही है, जीवनमूल्यों में निरंतर गिरावट आ रही है। भौतिकवाद का प्रभाव नारी-जीवन पर पड़ रहा है। हमारी संस्कृति में नारी पूज्या थी, वह परिवार की चारदीवारी में कैद थी, परंतु आज वह पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल रही है। वह दहलीज़ लाँघ चुकी है। टूटते परिवारों के कारण नारी की सुरक्षा और स्वतंत्रता दोनों में परिवर्तन आ गया है। अतः आज के परिवेश में नारी-विमर्श आवश्यक हो गया है। नारी-विमर्श को किसी बंधन में बाँधा नहीं जा सकता। नारी से जुड़े जनवादी साहित्य को संयत होना होगा। समकालीनता और जनवाद के स्थान पर नारी-विमर्श में अश्लीलता की अनुभूति नहीं होनी चाहिए।’⁸

वर्तमान में नारी-विमर्श आवश्यक है, 21वीं शती में लोकतांत्रिक देश में अधिकारों को ध्यान में रखते हुए हाशिए पर स्थित दमित, कुचले जनों की अभिव्यक्ति को साहस, स्वतंत्रता मिले। यह स्वाभाविक है लेकिन दुःख है कि प्रगत अग्रसर उच्च विभूषित स्त्रियों का लेखन ही नारी-विमर्श बना है, अन्य चुप हैं। उनमें चुप्पी तोड़ने की पहल किसी ने भी नहीं

की है क्यों?

नारी-विमर्श इसलिए भी समय की आवश्यकता बना हुआ है, क्योंकि नारी-जाति का एक बड़ा समूह नारी विमर्श शब्द से अनभिज्ञ है।

आख्यायन नारी विवशता का :

नारी के पक्ष में हमारे देश में आज तक कितने भी कानून क्यों न बन गए हों, आम औरत आज भी पुरुष की दासता से मुक्त नहीं हुई है। जन्म के बाद ही नहीं, जन्म से पूर्व भी कन्या-भ्रूण के प्रति हमारे समाज की पुरुष मानसिकता जग ज़ाहिर है। महादेवी जी ने नारी की विवशता को इस प्रकार वर्णित किया है—

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा ना कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही,
उमड़ी कल थी, मिट आज चली।⁹

नारी-जीवन की अधिकतर समस्याओं का कारण उसकी देह है, उसकी रूप-राशि उसकी उलझन बन गयी है। सीता के सौंदर्य के कारण ही रावण ने उसका अपहरण किया था। बेचारी द्रौपदी का दोष तो यही था कि वह अद्वितीय रूप-राशि की स्वामिनी थी—‘और द्रौपदी? उफ कितनी अभिशप्त थी वह, बिना किसी दोष के, एक दो नहीं पाँच-पाँच की अंकशायिनी बनने को विवश, दिल केवल अर्जुन और देह पाँचों भाइयों की शैयाओं पर और भरे दरबार में कौरवों द्वारा नग्न कर देने की पीड़ा सहन करने को अभिशप्ता।’¹⁰

भूमंडलीकरण के दौर में भी स्त्री हिंसा से मुक्त नहीं हो पायी है। स्त्री के प्रति पुरुष के हिंसात्मक रवैए की गवाही देते हुई घटनाएँ आए-दिन समाचारपत्रों और पत्रिकाओं के पन्नों की सुखियाँ बनती हैं। भ्रूण-हत्या के द्वारा वह माँ की कोख में ही हिंसा का शिकार हो जाती है। कम दहेज के कारण उसका ससुराल में मानसिक उत्पीड़न ही नहीं होता है, बल्कि उसकी हत्या भी कर दी जाती है।

औरतों के विरुद्ध हिंसा के मामलों में सबसे जघन्य अपराध बलात्कार है। कई बार पुरुष जब प्रेम हासिल नहीं कर पाता तो वह इस मार्ग को चुनता है—

तुम अगर मुझको ना चाहो तो कोई बात नहीं,
तुम अगर किसी ओर को चाहोगी तो मुश्किल होगी।

बलात्कार की घटनाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ रही हैं और बलात्कारी को संदेह का लाभ देकर बरी कर दिया जाता है। न्यायाधीश के निर्णय के अंतिम शब्द— ‘मैं जानता हूँ अभियुक्त ने अपराध किया है, किंतु साक्ष्यों के अभाव में मैं अभियुक्त को संदेह का लाभ देते हुए मुक्त कर रहा हूँ।’¹¹

अनैतिक देह-व्यापार के लिए विवश स्त्रियों के यौन-शोषण की व्यथा भी कम हृदय-विदारक नहीं है। देश के गरीब, पिछड़े इलाकों की नाबालिग लड़कियों को महानगरों में बेचकर उनसे वेश्यावृत्ति करायी जाती है। अर्थ के अभाव में वह इन अनर्थ कार्यों के लिए मजबूर होती हैं और पुरुष की वासना के लिए विवश हो जाती हैं। वरना वह भी ऐसे स्वप्न देखती हैं—

एक सपना मैंने भी देखा,
 कोई मेरे द्वार पर आएगा।
 नगाड़े बजाकर मुझे ले जाएगा,
 कँगना खोलेगा,
 मेरी लज्जा की कँवारी डोर की गाँठ खोलेगा।
 मेंहदी रची हुई, अधमन कसी हुई,
 कमल की पँखुरी, नटखट मुट्ठी
 आपसे आप ही मगर खुल जाएगी
 सपना पूरा हुआ बहू मैं बन गयी
 पर न सास की
 पर न एक पुरुष की।¹²

नारी-विमर्श का मतलब पुरुष-बहिष्कार नहीं :

स्त्री और पुरुष दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। आज स्त्री और पुरुष दोनों ही अंतर्विरोधों से गुजर रहे हैं। नारी-विमर्श के बहाने पुरुष पर कटाक्ष किया जाने लगा है और यह मात्र बहस बनकर रह जाती है और बात वहीं-की-वहीं बनी रहती है। स्त्री-विमर्श पुरुष-विरोधी नहीं है अपितु मूल विषय है स्त्री को स्त्री की दृष्टि से देखो।

नासिरा जी के शब्दों में- 'स्त्रीवादियों का यही अतिरेक मुझे उलझन में डालता है। पुरुष के खिलाफ़ खड़ी होने में ही स्त्री की मुक्ति क्यों देखी जाती है? ऐसी स्त्री की कल्पना क्यों नहीं की जाती, जो न अपने खिलाफ़ हो और न समाज के और न परिवार के। दिखावे की क्रांतिकारिता के बजाय संयत सोचना और समझदारी का रास्ता स्त्री को भी ज्यादा रास आ सकता है, पुरुष को भी और समाज को भी।' ¹³

नारी शोषण के लिए स्वयं जिम्मेदार :

हम हमेशा से ही नारी की दशा के लिए पुरुष को जिम्मेदार ठहरा देते हैं कि वह नारी का शोषण कर रहा है और उसे उसके अधिकारों से वंचित कर रहा है, परंतु ऐसा नहीं है। कहीं-न-कहीं नारी भी अपनी स्थिति के लिए जिम्मेदार है। इसका एक उदाहरण में गांधारी के माध्यम से देना चाहूँगी- एक धृतराष्ट्र है, जिसको प्रकृति ने अंधा कर दिया है, वहीं उनकी पत्नी गांधारी ने स्वयं आँखों पर पट्टी बाँधकर अपने को अंधा कर लिया। मैं सोचती हूँ एक महिला जिसके पास आँखें थी, उसने संपूर्ण जीवन अंधकारमय जिया, जबकि किसी ने उससे ऐसा नहीं कहा। इससे ज्ञात होता है कि नारी खुद ही पुरुष को सर्वस्व मानकर पूजती है, चाहे इसके लिए उसे खुद को ही सजा क्यों न देनी पड़े।

प्रशासनिक पदों पर काम करने वाली स्त्री शिक्षित होते हुए भी अपने समस्तरीय पति द्वारा प्रताड़ित की जाती है। आज एक पुत्री को पिता की संपत्ति में बराबर की हकदार है, परंतु यह भी सच है 5 प्रतिशत लड़कियाँ भी अपने हक नहीं ले रही हैं, अपितु स्वयं अपने खर्च के लिए जीवन-भर पिता, पति, पुत्र और भाई पर निर्भर रहती हैं।

मुझे तो ऐसा लगता है कि नारी कभी स्वाधीन होना ही नहीं चाहती, अपितु बचपन,

यौवन व वृद्धावस्था तक वह क्रमशः पिता, पति व पुत्र के अधीन रहना चाहती है। जब तक स्त्रियाँ पति की सेवा और पुत्र-प्राप्ति को स्टेटस का प्रतीक मानती रहेंगी, तब तक उनकी अस्मिता की समानता की माँग ऐसी ही पड़ी रहेगी। वे चाहे कितनी भी आत्मनिर्भर हो जाएँ, पति द्वारा पिटती रहेगी और समाज द्वारा प्रताड़ित होती रहेंगी। अंत में मजाज लखनवी की नज़्म की पंक्तियों में मैं अपनी बात कहना चाहूँगी—

तेरे माथे पर यह आँचल खूब है लेकिन
जो इस आँचल को परचम बना लेती तो अच्छा था।

स्वतंत्र नारी कितनी स्वतंत्र :

नारी उदय का सूर्य अब चमकने लगा है शिक्षा ने नारी के लिए व्यावसायिक संदर्भों के नए आयाम खोल दिए हैं। नारी और पुरुष के समीकरण बदल गए हैं। आज का पुरुष अपनी जीवन-संगिनी को घर में कैद नहीं रखना चाहता है। वह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होती जा रही है, लेकिन एक प्रश्न मेरे मस्तिष्क में कौंधता रहता है कि स्वतंत्रता के इतने वर्ष बाद भी क्या नारी सच में स्वतंत्र हो गयी है? अगर वह स्वतंत्र है तो फिर बार-बार उसे स्वतंत्र कराने की बात क्यों करते हैं? इसका अभिप्राय है कि वास्तविक अर्थों में नारी अभी स्वतंत्र नहीं है।

नारी को स्वतंत्र होने के लिए सबसे पहले अपने विचारों में परिवर्तन लाना होगा, उसे स्वयं में जागृति पैदा करनी होगी कि हमें स्वतंत्र होना है कि न ही अपना रोना रोना है। इसलिए यह अनुगूँज मैं उन स्त्रियों तक पहुँचाना चाहती हूँ, जो वास्तविक अर्थों में स्वतंत्र होना चाहती है। वे स्वयं अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो और खुद अपने जीने के रास्ते तलाशें—नारी की स्वतंत्रता, उसकी अपनी स्वतंत्रता।

‘किसी प्रतिस्पर्द्धा में दूसरों को पछाड़ने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि प्रतिस्पर्द्धा मानसिक, शारीरिक तथा युद्धकौशल तीनों रूपों में दूसरे स्पर्द्धा से बराबर हो अथवा उस पर भारी पड़े। प्रतिस्पर्द्धा के समस्त आयामों के दृष्टिकोण से तथा दृढ़ नियति के साथ।’¹⁴

अंत में मैं करना चाहूँगी कि स्त्री को पुरुष से प्रतिद्वंद्विता नहीं, सहकार चाहिए। स्त्री न तो पुरुष से हीन है और न उसे पुरुष से बराबरी करनी चाहिए। दोनों ही स्थितियों में उसकी अप्रतिष्ठा है। पुरुष जैसा बनने का स्त्री का प्रयत्न एक ओर तो उसके द्वारा पुरुष की श्रेष्ठता स्वीकार करना है, दूसरी ओर उसकी अहमन्यता को बढ़ावा देना है।

स्त्री यह न भूले कि पुरुष भी स्त्री के बिना अपूर्ण है और स्त्री तो पुरुष की अपेक्षा अधिक गरिमामय इसलिए है, क्योंकि वह पुरुष की जननी है व मानव-आत्मा की शिल्पी है। तब इस स्थिति में पुरुष उससे श्रेष्ठ कैसे हो सकता है। अतः स्त्री को पुरुष-जैसा बनने की असफल कोशिश त्यागकर अपने स्त्रीत्व को ऊँचा उठाने का प्रयास करना चाहिए।

कोमल है, कमज़ोर नहीं तू,
शक्ति का नाम ही नारी है,
सबको जीवन देने वाली
मौत भी तुझसे हारी है।

संदर्भ

1. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृ० 32
2. महाभारत, 12/74/9
3. मनुस्मृति, 15/54/158
4. आधुनिक हिंदी मुक्तक काव्य में नारी, डॉ० सावित्री डागा, पृ० 19
5. हिंदी कहानी और नारी विमर्श के अहम सवाल, डॉ० शोभा पवार 'निंबालकर', पृ० 12
6. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ
7. सीमोन द चुआ, द सेकेण्ड सैक्स।
8. हिंदी कहानी और नारी-विमर्श के अहम सवाल, डॉ० शोभा पवार 'निंबालकर', पृ० 14
9. स्त्री विमर्श : विविध पहलू, कल्पना वर्मा, पृ० 12
10. आख्यायन महिला विवशता का, डॉ० हरिश्चंद्र व्यास, पृष्ठ 36
11. स्त्री घोष, कुमुद शर्मा, पृ० 21
12. आधुनिक हिंदी मुक्तक काव्य में नारी, डॉ० सावित्री डागा, पृ० 231
13. औरत के लिए औरत, नासिरा शर्मा, पृ० 193
14. आजाद औरत कितनी आजाद, शैलेंद्र सागर, रजनी गुप्त, पृ० 159

समकालीन कहानी का परिवेश और संदर्भ

डॉ० प्रतिभा मुदलियार

प्रो० हिंदी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय

मानसगंगोत्री, मैसूर

आधुनिक हिंदीसाहित्य का इतिहास आंदोलनों का इतिहास कहा जा सकता है। विधागत आंदोलन में कविता के बाद सर्वाधिक हलचल कहानी के क्षेत्र में हुई। नई कहानी, अकहानी, साठोत्तरी कहानी, समांतर कहानी, सचेतन कहानी, अच्छी कहानी, सहज कहानी, समकालीन कहानी, समांतर कहानी, उत्तराधुनिक कहानी आदि-आदि। यहाँ केवल समकालीन कहानी का संदर्भ लिया जाएगा। समकालीन यह शब्द बड़ा भ्रम उत्पन्न करता है। दरअसल, समकालीनता के दो पक्ष हैं... एक भावबोध और दूसरा कालबोध। किस रचना को किस आधार पर समकालीन कहा जाए, यह भी विचारणीय है।

एक रचना की श्रेष्ठता और समकालीनता का निर्णय रचना में निहित जीवनबोधों के आधार पर ही संभव है। सभी समकालीन रचनाएँ किसी-न-किसी दृष्टि से श्रेष्ठ अवश्य होंगी। पर सभी श्रेष्ठ रचनाओं को हम समकालीन नहीं कह सकते, क्योंकि श्रेष्ठता का मापदण्ड बदलती सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों, विचारधाराओं तथा गतिविधियों के अनुसार बदलता रहता है। प्रत्येक काल की कोई रचना किसी विशेष दृष्टि से श्रेष्ठ अवश्य होगी, और वह अपने काल के अनुसार समकालीन भी होगी। पर जिस अर्थ में समकालीन शब्द को वर्तमान में ग्रहण किया जा रहा है, उस अर्थ में तो कदापि नहीं। साहित्य को समकालीन होने के लिए एक ओर अपने काल में रहना है, उसी प्रकार उसे अपने समय को लाँघना भी पड़ता है। किसी रचना को अपने काल में रहने तथा उसके अतिक्रमण करने के लिए अपने काल को गहराई से समझना पड़ता है। समकालीन साहित्य के इस कालबोध के दो पक्ष हैं, इतिहास-बोध और दूरदृष्टि। ये दो पक्ष जब रचना के कलागत रूप से संपृक्त होकर बहुलार्थी संदर्भों में प्रतिफलित होते हैं, तब एक रचना समकालीन बनती है। ऐसी रचनाओं को बदलती परिस्थितियों से संवाद करने और उसके लिए विकल्प प्रस्तुत करने की क्षमता होती है।

समकालीन कहानी का समय भले ही आधार के तौर पर 1970 माना जा रहा है, परंतु इस कहानी-लेखन में पीढ़ियों का लेखन शामिल है, सन् 1970 के पहले के कहानीकार भी और बाद के कहानीकार भी भूँडलीकरण, मूल्यों में परिवर्तन, बदलते संबंधों, बदलती मान्यताओं, मानवाधिकारों, यौन-वर्जनाओं, स्वार्थों अर्थात् लगभग सभी विषयों पर बहुत अच्छी कहानियाँ लिख रहे हैं। सूचना-क्रांति के इस युग में कोई किसी से पीछे नहीं रह जाए, यही होड़ लगी हुई है। इस दौर की कहानियों में युगीन चित्रण करने के लिए शिल्प के कोई

नए नियम नहीं गढ़े गए हैं। इतना अवश्य है जिस तरह पहले लिखा जाता था, वह प्रकार वैसा ही प्रयुक्त हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि अब गालियाँ, यौनचित्रण, लेखिकाओं की कहानियों में पुरुषों जैसी बातों और लेखकों की कहानियों में स्त्रैण बातों का लिखना, संकेतों, प्रतीकों का इच्छित प्रयोग अर्थात् जो जिसे रुचता है, लिख लेता है। अब यह पाठक की जिम्मेदारी है कि हम क्या देखें और क्या सोचें। वैसे भी लेखन को पीढ़ियों में बाँधकर आँकना साहित्यकार और साहित्य दोनों के प्रति ज्यादाति होगी। लेखक की जवाबदेही अपने समकालीनों या अपनी पीढ़ी के प्रति नहीं, अपने समय के प्रति है। वह निरंतर बदलते और आगे बढ़ते समय के साथ जुड़कर रचना करता है।

भूमंडलीकरण आज का वर्तमान है। आज का युग अर्थयुग है और इसमें नवऔपनिवेशिक शक्तियाँ क्रियाशील हैं। इन शक्तियों की घुसपैठ हर क्षेत्र में हो रही है। आज के वर्तमान का नारा है 'विकास-योजना'। विकास के नाम पर जो कुछ भी हो रहा है, उसमें अर्थ प्रमुख है, जहाँ विकास के मानवीय पक्ष को दरकिनार किया जाता है। इस सत्य को समकालीन कहानीकारों ने अपना विषय बनाया है। मिथिलेश्वर की 'बंद रास्तों के बीच' कहानी का 'जगोसर' जब गाँव की सड़क पक्की बनने लगती है, तो खुश होता है। वह सोचता है कि सड़क के किनारे वाली उसकी मड़ई को दुकान में तब्दील किया जा सकता है। जैसे-जैसे सड़क बन रही थी, उसी हिसाब से दुकान भी बन रही थी। उसके लिए यह दुकान मालिकों के शोषण से बचने का आखिरी रास्ता था; लेकिन जब सड़क बनकर तैयार हुई तो सड़क के दोनों किनारे की दस फीट जमीन को सरकारी जमीन घोषित कर दिया जाता है और दुकान को गिरा दिया जाता है। परिणामस्वरूप वह हमेशा-हमेशा के लिए खाट पकड़ता है। यहाँ विकास से तात्पर्य आम आदमी के विकास से नहीं, बल्कि समाज के चंद लोगों की सुविधाओं के विकास से है। विकास का मानवीय पक्ष उपेक्षित है। हिंदुस्तान जैसे देश में हर मोड़ पर जगोसर जैसा कोई-न-कोई न उपस्थित है... तब जरूरी यह है कि विकास-योजनाओं को लागू करने से पहले जगोसर-जैसों की समस्या का समाधान करना भी महत्त्वपूर्ण है; पर ऐसा न पहले हुआ है न आज।

अक्सर विकास का अर्थ पश्चिमी औद्योगीकरण का पंथानुकरण करना ही रहा है। फलस्वरूप विकास की वेदी पर कई बेसहारा लोग बलि चढ़ जाते हैं। आम आदमी की जीवन-पद्धति के साथ संगति न बैठा पानेवाली इन विकास-नीतियों की वजह से कई लोग विस्थापित हुए हैं, कई लोग अपनी आजीविका से वंचित हुए हैं तो कई लोगों ने आत्महत्या की शरण ली है। यह विकराल सामाजिक यथार्थ जितेंद्र भाटिया की 'ग्लोबलाइजेशन' कहानी में अभिव्यक्ति पाता है। इस कहानी का नारायण सदाशिव मोरे हर सुबह अपने परिवार के साथ भूखे पेट काम की तलाश में शहर आ जाता है। किसी भी फैक्टरी के सामने खड़े अस्थायी कर्मचारियों की भीड़ में काम के लिए ठेकेदार की कृपा का इंतजार करता है। पिछले दो दिनों से नारायण के परिवार में से सिर्फ उसकी औरत को ही काम मिला था। नारायण परेशान है, क्योंकि बहुत लोग काम की तलाश में खड़े हैं। प्रस्तुत कहानी का यह अंश देखिए— 'भोंगा बजने के सात-आठ मिनट बाद गेट के भीतर से शिरके सेठ सुस्त रफ्तार से बाहर आता दिखाई दिया, जिसकी ऐवज भीड़ में एक सनसनाहट-सी दौड़ गई। बाहर निकलकर शिरके

सेठ ने एक बार कनखियों से भीड़ की ओर देखा, फिर नज़र घुमाकर गंभीर स्वर में ऐलान किया—

‘चार माणस’

‘अहसान मियाँ, चला लवकर.....’ डूबते दिल के साथ नारायण ने शिरके सेठ की आवाज़ सुनी...

‘...नंदू पोमुडकर!....’

साला पनौती.....

‘...सुरेस पाटिला.....’

अब कोई चानस नई, नारायण ने सोचा और फिर आखिरी बदहवासी में अचानक बिजली की तेज़ी से अपनी दो उँगलियाँ हवा में उठा दीं! दो उँगलियों का मतलब था दुगुनी, यानी बीस रुपये की कटौती।’

मजबूरी से नारायण चालीस के बदले बीस का महँगा सौदा करके काम पर जाता है। मजदूरवर्ग अपने श्रम-शक्ति को हर रोज़ इन ठेकेदारों को बेचता है। हर रोज़ की दिहाड़ी पर जीनेवाला मजदूर अपनी काबिलियत के अनुसार ऊपर नहीं उठ सकता। जिनके जीवन का लक्ष्य केवल जीना-मात्र रह गया है, वह भला संगठित भी कैसे हो सकते हैं? क्योंकि पेट की आग के समक्ष हर अस्थायी मजदूर का प्रतिद्वंद्वी है। अतः स्थिति में परिवर्तन की आशा की कोई गुंजाइश नहीं है। भूमंडलीकरण के नाम पर परिनिष्ठित विकास-योजनाओं ने एक बड़े तबके को गुलामों की ज़िंदगी जीने के लिए विवश कर दिया है। समकालीन कहानीकारों ने इस प्रतिक्रियाविहीन पृष्ठभूमि में अपने रचनात्मक प्रतिरोध का परिचय दिया है। वर्तमान में काशीनाथ सिंह की कहानी ‘सदी का सबसे बड़ा आदमी’ एक और भिन्न संदर्भ को सामने लाती है। एक ओर हमें बदलाव की भी चाह है, वहीं दूसरी ओर व्यक्तिगत उपलब्धि के लिए खुशामद की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है। इस कहानी के रईस ने यह ऐलान किया है कि जो अपने शरीर पर उसके पान की पीक लेगा, उसे इनाम के तौर पर कपड़े का नया सैट दिया जाएगा। कई लोग अपने शरीर पर पान की पीक फेंकवाने के लिए तैयार हैं...पर उन पर वह पीकना नहीं चाहता। उसकी प्रवृत्ति अपने विरोधियों को खुशामदी बनाने में है। इस कहानी में अचानक एक ममूली-सा आदमी रईस को चुनौती देता है। रईस पीक फेंक रहा है और वह खुद इससे बचता चला जा रहा है। लगातार कई दिनों तक दोनों के बीच यह द्वंद्व चलता रहता है। दर्शकों में कई ऐसे भी हैं जो इनाम की खातिर अपने शरीर पर पीक लेने के लिए आतुर भी हैं; पर जबतक कोई फ़ैसला नहीं होता, उन्हें मौक़ा मिलना संभव नहीं। आखिर कहानी में जीत उस भूखे-नंगे आदमी की ही होती है। कहानी का रचनात्मक निर्णय यह है कि वह सदी का सबसे बड़ा आदमी है। वास्तव में जहाँ कहीं भी व्यवस्था या समाज का स्वत्ववहरण करनेवाली ताक़तों को चुनौती देनेवाला कोई व्यक्ति बचा है, तो वही बदलाव की आकांक्षा रखनेवाला सदी का सबसे बड़ा आदमी है।

वैश्वीकरण में सब-कुछ बाज़ार की चीज़ हो गया है। वैश्वीकरण और उदारिकरण का आधार बाज़ारवाद और बाज़ारवाद का आधार उपयोगिता है, यानि भूमंडलीकरण के इस दौर में अब चेतना भी बाज़ार की हो गई है। वैश्वीकरण ने बाज़ारवाद के चलते पूँजी के बढ़ते

वर्चस्व को स्थापित किया है— पूँजीवाद, संचार-माध्यम, उदारीकरण और भूमंडलीकरण आदि प्रवृत्तियों ने जीवन के मायनों और प्राथमिकताओं को बदल दिया है। इस नए समाज में मानवीय तथा जीवन-मूल्यों, प्रेम और संवेदनों, परस्पर सौहार्द और संबंधों के लिए स्थान नहीं है। यहाँ परस्पर संबंध, जीवन-मूल्य सभी बाज़ार-आधारित हैं। नासिरा शर्मा की कहानी 'मिस्त्र की ममी' इसी प्रकार की कहानी है। कहानी की नायिका योताजिसे प्रेम से बढ़कर पैसा, ऐशो आराम ज़्यादा अहम लगते हैं और अत्यंत व्यावहारिक होकर यह वह शोहाव से विवाह कर लेती है। जिंदगी का हर सुख, हर सुविधा होने पर भी उसे संतान न होने का गुम है और संतान-प्राप्ति के लिए वह कुरुश को ख़रीदना चाहती है, किंतु कुरुश जो योता को अच्छी तरह से जानता है कहता है, 'तुमको तरह-तरह की चीज़ें जमा करने का शौक़ नहीं, आदत है। अब तुम चाहती हो, उस घर में अच्छे से बच्चे सज जाएँ, जिन्हें तुम शान से समाज में ऊँची गरदन कर मिलवा सको। उनकी बुद्धि और प्रखरता पर नाज कर सको।' एलाइट वर्ग में आते ही अर्थ को अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करनेवाली योता अंततः मिस्त्र की ममी की तरह बेजान, साकित और सर्द हो जाती है। अर्थ मनुष्य को कैसे जड़ बना देता है, इसको योता के द्वारा समझा जा सकता है।

बाज़ारवाद तथा भूमंडलीकरण ने भी आज कहानी को काफ़ी सीमा तक प्रभावित किया है। इनके मुहावरे कहानियों में आने लगे हैं। उदयप्रकाश की कहानी 'पाल गोमरा का स्कूटर' इसी प्रकार की कहानी है। पाल गोमरा का स्कूटर कहानी का व्यंग्य है। हिंदी का वह कवि, जिसे अपने समय में लेजेंडरी माना जाता था, अचानक वह मसख़रा होने लगता है। वह पाल गोमरा, जिसका असली नाम रामगोपाल था, एक नई आइडेंटिटी पाने के लिए उस बेचारे को अपना नाम तक बदलना पड़ता है। वह बेचारा जब यह देखता है कि वर्तमान समय में टेक्नोलॉजी हर दिन बदल रही है, तो टेक्नोलॉजी के नाम पर उसे सिर्फ़ स्कूटर दिखाई देता है। वह सोचता है कि अगर वह इस स्कूटर पर काबू पा ले, तो शायद वह अपने समय में टिका रह सकता है और इस स्कूटर को भी वह चला नहीं सकता। जो जगह कभी राजनीति की थी, आज टेक्नोलॉजी ने उसे अपनी दखल में ले लिया है। इस कहानी के नायक को लगता है कि बड़ी-बड़ी संस्थाओं, उद्योग-समूहों, सरकारी विभागों ने सब कुछ बाधित कर लिया है और अब उसके जैसे कवि के सामने फिल पीने या गले में फंदा लगाने के अलावा और कोई दूसरा विकल्प नहीं है। इस कहानी में उत्तर-आधुनिकता की लगभग सभी दशाओं का चित्रण है।

उदयप्रकाश को विशेष ख्याति 'टेपचू' से मिली, जिसमें जादुई यथार्थवाद की तकनीक का सहारा लिया गया है। कहानी में टेपचू ऐसा पात्र है, जो ग़रीब है और बचपन में कमलगट्टे खाने के लिए पानी में डूबने और ऊँचे पेड़ से गिरने पर भी नहीं मरता। ग्रामीण उसे जिन्न कहते हैं। वह मज़दूर बन जाता है और छँटनी पर संघर्ष करता है, जिसपर पुलिस उसे गोलियों से भून देती है। जब वह पोस्टमार्टम के लिए लाया जाता है, तब आँखें खोले कराहता है, 'डॉक्टर साहब, ये सारी गोलियाँ निकाल दो। मुझे बचा लो। मुझे इन्हीं कुत्तों ने मारने की कोशिश की है।' कड़ियों ने टेपचू को जिंदा सच्चाई कहा है। यह सच्चाई मिथ के स्तर पर चिल्लाकर कहती है कि श्रमशील जनता नहीं मरती, वह मर-मर कर जीवित हो उठती

है। लेकिन जादुई यथार्थवाद एक तरह का छलावा ही है, जो कला के रूप में भले आकर्षक लगे, लेकिन कहानी को परिवर्तन का औजार नहीं बना सकता है, अपितु नक़ली संघर्ष उसे भोथरा करता है। उदयप्रकाश वैश्वीकरण की भयावहता, उपभोक्ता की अमानवीयता और वस्तुमोह के तिलिस्म का अद्भुत सामंजस्य करते हैं।

वैश्वीकरण के इस युग में किसी भी देश का अपना मौलिक यथार्थ नहीं रह गया है। न अपनी संस्कृति, न अपना वैभव, न अपनी व्यवस्था। दूरियों के कम हो जाने के कारण सब कुछ एक-दूसरे के घर में बेधड़क घुसते जा रहे हैं। मारपीट, चोरी-चकारी, आपा-धापी तहस-नहस, खून-खराबा कुछ भी कर गुज़रने में किसी को कोई भय नहीं सताता। कहानीकार संजीव की कहानियों में इस प्रकार के उत्पीड़ित समाज का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। इस दृष्टि से अपराध, टीस, दुनिया की सबसे हसीन औरत, पूत-पूत-पूत आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं।

कहानी के हर दौर में स्त्री-जीवन का अंतर्विरोध चिंता का विषय रहा है, जिसके देखते नारी-अस्मिता और नारी-स्वातंत्र्य का उद्घोष हिंदी-कहानी में अनेक रूपों में हुआ। स्त्री-जीवन की जटिलताओं और समस्याओं को महिला-कथाकारों ने प्रामाणिक ढंग से कहानी के माध्यम से उठाया है, क्योंकि स्त्री-जीवन की विवशताओं और नियति के उनके पास प्रत्यक्ष अनुभव हैं, उन्होंने उस जीवन को भोगा है और निकट से देखा है। नारी-जीवन के कुछ पहलू ऐसे हैं, जो केवल नारी-संवेदना के दायरे में आते हैं। पुरुष कथाकारों ने भी इन विषय को अपने लेखन में शामिल किया है। सुधा अरोड़ा की कहानी 'एक औरत तीन बटा चार' इसका अच्छा उदाहरण है। कहानी की नायिका को कोई नाम लेखिका ने नहीं दिया है। लेखिका उसे मात्र औरत के नाम से ही संबोधित करती है। प्रारंभ में यह शादीशुदा औरत अपने घर-परिवार में खुश है। पत्नी और माता की भूमिका वह शिद्दत से निभाती है और इसलिए जब अपना सारा काम ख़त्म कर वह घर के ही काम की ख़ातिर से बाहर जाती है तो हमेशा अपना एक चौथाई हिस्सा अपने घर में छोड़ जाती है....और एक विशिष्ट समय के बीत जाने के बाद उसे अपना वह एक चौथाई हिस्सा याद आने लगता है और उसे मिलने के लिए वह तड़पने लगती है और कोई सा भी बहाना बनाकर घर वापस लौटती है। घर की दहलीज़ के भीतर पाँव रखते ही दोनों हिस्से चुंबकीय आकर्षण से एक-दूसरे से मिल जाते हैं, तो वह राहत की साँस लेती है। किंतु समय के चलते उसका वह एक चौथाई-हिस्सा उसके तीन चौथाई हिस्से पर पूरी तरह हावी हो जाता है और अब उसका मात्र एक-चौथाई हिस्सा ही बाहर जाता है और उसके शेष हिस्से का चुंबकीय आकर्षण भी अब भोथरा हो गया है। वह उसे बचाए रखना चाहती है। उसे अपने पल्लू में बाँधकर रखती है। किंतु एकदिन जब उसका पति बीमार पड़ता है, तो उसका वह तीन चौथाई हिस्सा अपनी भूमिका में फिर लौट आता है और अपने बीमार पति की सेवा में लग जाता है। इस कहानी में लेखिका ने आज गृहिणी के उस व्यक्तित्व की ओर इशारा किया है, जो अपने ही व्यक्तित्व में यूँ बँट जाती है। एक समय ऐसा भी आता है, जब उसे अपना यह बँटना सहज भी लगता है।

संजीव की कहानियों में स्त्री-विमर्श की पहचान करने के लिए उनकी कहानी 'सागर सीमांत' को लिया जा सकता है। इस कहानी की नसीबन के लिए करीम प्राण और

सागर की तरह था, वही करीम एक दिन चटर्जी बाबू से भी बड़ा 'महाजन' बन जाता है और तब नसीबन को 'मर्दों की असली दुनिया' का एहसास होता है। वह अपने पति एवं बेटे को जीते-जी मरा हुआ समझ लेती है, उन्हें अपने जीवन से निकाल फेंकती है—दग्ध मन एवं रोते हुए प्राण के साथ मृत्यु के बाद भी उसकी व्यथा-कथा समुद्र की लहरों पर पुरुष की निर्ममता, स्वार्थ, अवसरवाद एवं एकाधिकार का तिरस्कार करती हुई-सी तैरती रहती है। प्रेम के विरूपण की यह कथा संजीव की स्त्री-दृष्टि की सकरुण किंतु सशक्त अभिव्यक्ति है। 'सागर सीमांत' की नसीबन ने बिना किसी कोलाहल के और अराजक हुए पुरुष आधिपत्य, उसकी मनोरचना, उसके सामाजिक व्यवहार, व्यक्तिवादिता एवं उसके अहं पर जिस तरह चोट की है, उससे संजीव के स्त्री-विमर्श के स्वरूप की पहचान हो जाती है।

इलैक्ट्रॉनिक मीडिया ने सूचनाओं को ओवरएक्सपोज कर दिया है। पाठक अब पहले से ही सब जानता है, इसलिए हिंदी-कहानी में विवरण भी कम हुए हैं और मिथकथन की प्रवृत्ति बढ़ गई है। विवरणों की जगह हिंदी-कहानीकार व्यंजकता को तरजीह दे रहे हैं। नए युवा कहानीकारों में मिथकथन और व्यंजकता का आग्रह सबसे अधिक दिखाई पड़ रहा है। उदयप्रकाश के नए संकलन 'दत्तात्रेय के दुःख' की कुछ कहानियाँ मिथकथन के कारण बहुत संक्षिप्त और लघु आकार की हैं। व्यंजकता का आग्रह कहानीकार रघुनंदन त्रिवेदी की कहानियों में भी सर्वाधिक है। इनमें विवरण नहीं हैं, लेकिन हर पंक्ति को व्यंजक बनाने की कोशिश साफ़ दिखाई पड़ता है। उनकी कहानी 'हमारे शहर की भावी लोककथा' की हर पंक्ति व्यंजक है और उसका निहितार्थ कहानी का मर्म को खोलनेवाला है। इस कहानी का एक अंश उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—'यक्रीनन इस मास्टर और इस महेंद्रनाथ जैसे और कुछ लोग होंगे, परंतु इस भागमभाग में इनका मिलना मुश्किल। मिल जाए तो पहचानना मुश्किल। पहचान लें तो ऐसे लोगों के बारे में कहना मुश्किल। इसीलिए तो ये कथा में आखिर में आए और चंद जुमलों के बाद हमारी पकड़ से छूट भी गए। एकाएक आने और चले जाने के कारण ये लोग कथा में जबरदस्ती ठूँसे गए पात्र मालूम हों तो दोष उनके चरित्र का है, जो किसी साँचे में फिट नहीं बैठता, वैसे यह कथा, दरअसल, इन्हीं की है।

वर्तमान समय में अपसंस्कृति और मूल्यहीनता, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के दबाव, उपभोक्तावादी समय के आतंक और कथा-साहित्य की महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं के बंद होते चले जाने के बावजूद हिंदी-कहानी ने अपना वजूद बनाए रखा है। कथा-साहित्य लाखों के सर्क्युलेशन वाली पत्रिकाओं से हटकर अखबारों के रविवारीय संस्करणों और शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं के विचार-प्रधान लेखों के कारण हाशिए पर चला गया है, इसके बावजूद हिंदी में सशक्त कथा-साहित्य का सृजन हो रहा है। आज की कहानी का कैनवास बहुत विस्तृत है। उपभोक्ता संस्कृति के तमाम पहलू उसमें अभिव्यक्ति पा रहे हैं। उपभोक्ता संस्कृति ही जैसे आज के समाज की चित्तवृत्ति है, जो शिक्षा-दीक्षा, रोजगार-कैरियर, रिश्ते-नाते, परिवार और परिवेश सबको नई व्याख्या दे रही है। कहानीकार इस चित्तवृत्ति के विविध पक्षों को विविध संदर्भों में रूपायित कर रहे हैं। बनता-बिगड़ता मध्यवर्ग हो, गाँव-शहर की औरतें हों, दलित और आदिवासी हों, सबकी गतिशील छवियों और मनोदशाओं को ये कहानीकार जिस रूप में व्यक्त कर रहे हैं, वह पुरानी पीढ़ियों से एकदम अलग है। इस भिन्नता या विशिष्टता का

आधार है उत्तर-आधुनिक या तथाकथित उदारीकरण की कोख से जन्म ले रहा वह समाज, जिसके बीच रहने-जीने को आज का रचनाकार अभिशप्त है। इन कहानियों में पुष्पा मानकोटिया की परतें ज्ञानप्रकाश विवेक की 'अलग-अलग दिशाएँ', 'जोसफ चला गया; राजेंद्र स्वरूप वत्स की 'दिखावे की कचोट', सत्यपाल सक्सेना की 'छाँव के नजदीक हूँ' डॉ॰ नरेश मिश्र की 'घर से बाहर तक' गोविंद मिश्र की 'नये पुराने माँ-बाप', सत्येनकुमार की 'जहाज़', स्वयंप्रकाश की 'मात्रा और भार' अलका सरावगी की 'दूसरी कहानी', ज्ञानप्रकाश विवेक की 'उसकी ज़मीन', चंद्रकांता की 'कोठे पर कागा', नासिरा शर्मा की 'पत्थर गली', पंकज विष्ट की 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' आदि इस प्रकार और भी बहुत सारे कहानीकारों की कहानियाँ उठाई जा सकती हैं, जिनमें उत्तर-आधुनिक प्रवृत्तियों का चित्रण हुआ है।

समकालीन कथाकारों की यह चिंतन-दृष्टि आज के कथा-साहित्य में ही रूपाकार ग्रहण करते हुए हमारे समक्ष उपस्थित हुई है। इस दृष्टि से समकालीनता से अभिप्राय हमारे लिए तत्कालीनता से भिन्न आज का सहवर्ती स्वीकारा जा सकता है। जो कुछ भी प्रत्यक्ष है, वर्तमान है, उसकी सार्थक किंतु जीवंत प्रतीति करवा देनेवाला समयबोध समकालीन के अंतर्गत समेटा जा सकता है।

दरअसल, बीते तीन दशकों में समकालीन कहानी की दुनिया में भारी उलटफेर हुआ है। कहानी की संरचना, भाषा, शिल्प एवं कथ्य के स्तर पर लगातार विकास हुआ है और कहानी के बदलते समय में संश्लिष्ट यथार्थ को अपनी कहानियों में पकड़ने की चेष्टा की है। आज की कहानियाँ मूल्यों की बात भी आधुनिकता के संदर्भ में करती हैं। हमारे पारंपरिक संस्कार, जो रूढ़ियों में बदल गए हैं, उन्हें मूल्य मानने की ग़लती इस परिदृश्य में नज़र नहीं आती है। यही कारण है कि आज की कहानी की चिंताओं में भूमंडलीयकरण की अमानवीयता केंद्र में है। भूमंडलीयकरण के साथ ही आया उपभोक्तावाद मनुष्य का मूल्यांकन उसके मनुष्य होने से नहीं, उसके उपभोक्ता होने से करता है। मनुष्य उसके लिए वस्तु से अधिक कुछ नहीं।

भारतभूषण अग्रवाल के काव्य में प्रतीक-योजना

श्रीमती विंदु बराच, शोधछात्रा

डॉ० निर्मला देवी, शोध-निदेशिका

रीडर, हिंदी विभाग

जनता वैदिक कालेज, बड़ौत (बागपत) उ०प्र०

भारतभूषण अग्रवाल हिंदी की प्रयोगवादी काव्यधारा के अन्यतम कवि हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य की लगभग हर विधा में लेखन-कार्य किया है, किंतु काव्य के क्षेत्र में उन्होंने अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है। भारत जी के काव्य में प्रतीक का सौंदर्यपूर्ण संयोजन हुआ है। उनके काव्य में प्रतीक प्रयोग पर चर्चा करने से पूर्व हम प्रतीक के अर्थ को स्पष्ट करना चाहेंगे।

प्रतीक का अर्थ :

साहित्य के विभिन्न तत्त्व शब्द और अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करते हुए अनुपम सौंदर्य की श्रीवृद्धि करते हैं, इन्हीं सौंदर्य-विधायक तत्त्वों में प्रतीक का भी विशेष स्थान है। वास्तव में मानव-व्यवहार की अनेक वस्तुएँ और उपकरण व्यक्ति की आंतरिक भावानुभूति को व्यक्त करने के लिए काव्य में प्रयुक्त किए जाते रहे हैं तथा ये वस्तुएँ और उपकरण उस अनुभूत सत्य को पूर्ण सजगता के साथ व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ रहते हैं। डॉ० संपूर्णानंद वर्मा ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'प्रतीकशास्त्र' में लिखा है—

‘जितना जाग्रत समाज होगा, वह उतने ही प्रतीकों की रचना करता चलेगा। प्रतीक जागृति या चेतना के प्रमाण हैं प्रतीक समाज की एकता की व्याख्या करते हैं। प्रतीक यदि न हों तो समाज की पूर्ण व्याख्या की असंभव हो जाए।¹

काव्य-सृजन के मूलभूत एवं महत्वपूर्ण तत्त्वों में प्रतीक की अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है। काव्य ही नहीं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतीक का प्रयोग उसकी अपरिहार्यता का स्पष्ट प्रमाण है। आचार्य शुक्ल के अनुसार—

‘आधुनिक हिंदी साहित्य में ‘प्रतीक’ शब्द को जिस रूप में ग्रहण किया गया है, उसका संबंध अँग्रेजी के (symbol) सिंबल शब्द से है।²

अब प्रश्न उठता है कि ‘प्रतीक’ है क्या?

‘प्रतीयते अनेन इति प्रतीकम अर्थात् जिसमें प्रतीति हो वह प्रतीक है। प्रतीक हमारी अभिव्यक्ति के अविभाज्य अंग हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस संबंध में कहा है— ‘अंग प्रतीकोऽवयवोऽपवनोऽथकलेवरम।³ जब कलाकारों की वाणी अपने भावों की अभिव्यंजना करने में असमर्थ-सी हो जाती है, वह अपनी अनुभूति के अकथनीय अंशों को प्रतीक के द्वारा कथनीय एवं प्रेषणीय बनाता है। मनुष्य की भाषा एवं अभिव्यक्ति के साथ प्रतीकों का घनिष्ठ संबंध है। सामान्य अर्थ में प्रतीक का अर्थ है—चिह्न, पहचान, प्रतिरूप आदि। ‘प्रतीक’

का शाब्दिक अर्थ अवयव, अंग, चिह्न एवं निशान माना जाता है। विभिन्न विद्वानों ने प्रतीक के संबंध में विभिन्न व्याख्या की है। संस्कृत में यह शब्द प्रतिमा, चिह्न, संकेत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। डॉ० राजाराम रस्तोगी ने प्रतीक की परिभाषा इस प्रकार की है—

‘प्रतीक का अर्थ भी होता है प्रतिरूप या प्रतिमा अथवा वह वस्तु या भाव जो अंश होकर भी समग्र के लिए व्यवहृत हो।’⁴

ए० सैमंस प्रतीक को परिभाषित करते हुए कहते हैं— ‘किसी सूक्ष्म भाव-विचार या परोक्ष सत्ता का प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु जो तर्क-बुद्धि से प्रस्तुत या उपास्य की अनुकृति नहीं की जा सकती, प्रतीक कहलाती है।’⁵ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में कहा गया है—‘प्रतीक (चिह्न) उस शब्द का व्यवहार किसी ऐसे दृश्य पदार्थ के लिए होता है, जो हमारे मन में किसी अतर्क्य और अप्रमेय वस्तु की अनुभूति उसके साथ अपने संपर्क के कारण करा देता है। प्रतीक के साथ सामान्यतः सहचरित भावना ही इस अनुभूति को उत्पन्न करने का कारण होती है। अतः खजूर की शाखा विजय का प्रतीक है और लंगूर आशा का।’⁶

हिंदी साहित्य में प्रतीक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है— ‘प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है, जो किसी अदृश्य (अगोचर) विषय का प्रति विधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है।’⁷

डॉ० नगेंद्र प्रतीक को रूढ उपमान का ही दूसरा नाम बताते हुए कहते हैं— ‘प्रतीक एक प्रकार से रूढ उपमान का ही दूसरा नाम है। जब उपमान स्वतंत्र न रहकर पदार्थ विशेष के लिए रूढ हो जाता है तो वह प्रतीक बन जाता है।’⁸ बाल गंगाधर तिलक ने भी गीता-रहस्य में प्रतीक का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है— ‘जब वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर होता है, फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं।’⁹

डॉ० कुमार विमल प्रतीक को अभिव्यंजित करने की शक्ति मानते हैं। वे इस संबंध में कहते हैं— ‘प्रतीक में संपूर्ण अर्थ अभिव्यंजित करने की पूरी शक्ति होती है।’¹⁰ डॉ० शंकर देव अवतारे उपमान को ही प्रतीक का रूप मानते हुए लिखते हैं— ‘उपमान ही अपने ताजे रूप में बिंब और पुराने रूप में प्रतीक बन जाते हैं।’¹¹ ‘संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण भट्ट जी दीक्षित के पुत्र भानु दीक्षित ने अमरकोश की व्याख्या में प्रतीक शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है— प्रति+इण+कीकन=प्रतीक तथा इसका अर्थ दिया है किसी अगोचर वस्तु का प्रतिनिधि। प्रतीक शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में तिलक महोदय ने लिखा है— प्रति+इक जिसका अर्थ है जब किसी वस्तु का एक अंश पहले गोचर हो फिर आगे उसे उस वस्तु का ज्ञान हो तो उसे प्रतीक कहते हैं।

उपर्युक्त विभिन्न प्रतीक विषयक परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जब कोई पदार्थ किसी भाव या विचार का स्वीकृत उपलक्षण संकेत बन जाता है तब उसे प्रतीक कहते हैं। प्रतीक किसी पदार्थ या वस्तु द्वारा भाव बोध को संक्षिप्त, तीव्र और सटीक ढंग से अभिव्यक्ति करने का प्रभावशाली उपकरण है। प्रतीक अप्रस्तुत वस्तु या भाव का प्रतिनिधि होता है। वह हमारे मन में तुरंत ही किसी अप्रस्तुत भाव या वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट कर देता है। प्रतीक अपने युग की संस्कृति एवं मान्यताओं से प्रभावित रहता है। प्रतीक विषय की दुरूहता का निवारण कर उसे बोधगम्य बनाता है। प्रतीक का प्रयोग

अभिव्यंजना शैली के अंतर्गत आता है। प्रतीक पर अपने युग, देश, संस्कृति एवं मान्यताओं की छाप रहती है। प्रतीक अपने विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं कवियों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले बहुत से नए प्रतीक आरंभ में व्यक्तिगत हो जाते हैं, पर धीरे-धीरे वे रूढ़ हो जाते हैं। अंत में एक वाक्य में हम प्रतीक का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं कि 'किसी अप्रस्तुत अगोचर वस्तु के स्पष्टीकरण के लिए उसके प्रतिनिधि के रूप में देशकाल के अनुसार किसी प्रस्तुत एवं गोचर वस्तु विधान का नाम ही प्रतीक है।

हिंदी साहित्य में प्रारंभ से ही प्रतीक का प्रयोग होता चला आ रहा है, किंतु प्रयोगवादी कविता में इसका प्रयोग अधिक मात्रा में हुआ है। प्रतीक वह माध्यम है, जो जीवन की यथार्थ जड़ता को खोदने के लिए एक यंत्र की भाँति कार्य करते हैं।

भारतभूषण अग्रवाल जी ने अपने काव्य में प्रतीकों की बहुत सुंदर योजना की है। उनके काव्य में आधुनिक काव्य में प्रयुक्त लगभग सभी प्रतीकों की योजना देखने को मिलती है। भारत जी के काव्य में प्रकृति से उठाए गए प्रतीक, दार्शनिक प्रतीक, प्रणय रूप सौंदर्य प्रतीक, परंपरागत प्रतीक, भावनात्मक प्रतीक आदि सभी देखने को मिलते हैं। प्रतीक की सहायता से बहुत विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखने वाली बात को अत्यंत संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया जाता है। भारत जी ने प्राकृतिक सौंदर्य को प्रतीक के माध्यम से 'मंसूरी के प्रति' नामक कविता में प्राकृतिक प्रतीक का उदाहरण प्रस्तुत किया है—

माना असत्य कल्पना मात्र परलोक
किंतु री मंसूरी
तू सत्य स्वर्ग इस वसुधा पर
तेरे आँचल की छाँव तले
पलते हैं देवतुल्य नर-गण
विमलो की पुरी अये विमले।¹²

यहाँ पर भारतभूषण अग्रवाल जी ने मंसूरी को स्वर्ग का प्रतीक माना है और यहाँ के निवासियों को देवता का प्रतीक माना है।

भारतभूषण जी की 'हम नहीं है द्वीप' नामक कविता बहुत सुंदर है। इस कविता के माध्यम से भारत जी जीवन को नदी के द्वीप की तरह क्षुद्र, जीवन से कटा हुआ और सदुपयोगी नहीं मानते। उनका विचार है कि जीवन की सार्थकता निर्मल जल से भरे सरोवर की तरह उपयोगी है। सरोवर प्यास का उपचार है, वनस्पतियों का प्राण है और सुंदरता का प्रतीक है।

हम नहीं है द्वीप जीवन की नदी के
वरण जीवन से भरे निर्मल सरोवर
भले मिट्टी से हुआ निर्माण
किंतु मिट्टी है परिधि ही
नहीं है मिट्टी हमारे प्राण
नीर के भावुक मिलन की हम विमल संतान।¹³

भारतभूषण अग्रवाल प्रयोगवादी कवि होते हुए भी अपनी परंपराओं से बँधे हैं। वे मध्यम वर्ग की कुंठाओं से ग्रस्त समाज में रहते हैं। अतः उन्हीं के अनुरूप उनकी परंपराएँ

हैं अनुशासन में रहकर प्रगति उन्हें प्रिय है।

सूरज का कोई सब्स्टीट्यूट नहीं है
यहाँ तक की चाँद भी
जितना वह उजला है
उतना वह सूरज है।¹⁴

यहाँ पर भारत जी ने सूरज को सबसे अधिक उज्ज्वल वस्तु का प्रतीक माना है, जो परंपरानुसार चली आ रही है। वह हमारे चिरंतन मूल्य, ज्ञान व सत्य का प्रतीक है उससे कटकर न हम जीवन धारण कर सकते हैं न अपना अस्तित्व स्थापित कर सकते हैं। कवि स्पष्ट मन से सत्य के प्रकाश को ज्ञान के तेज को स्वीकार करता है।

भारत जी ने परंपरा से चले आ रहे दीपक को उजाले का प्रतीक माना है। आँखों को दीपक का प्रतीक माना है तथा भौरे को प्रेम का प्रतीक माना है।

भारतभूषण जी ने युवकों में उत्तेजना और जोश भरने के लिए बादलों को प्रतीक माना है। प्राचीन परंपरा से ही बादलों को कई प्रतीकों के रूप में प्रयोग किया है। भारत जी ने बादलों को युवकों का प्रतीक मानते हुए कहा है।

उमड़ो युवकों! बादल बनकर
अपने उर में नव आग लिए
भारत का रवि तप रहा उधर
देखो! यह सागर झाग लिए
है उफन रहा हो क्रुद्ध उधर
तुम उठो अनलि में चलो उभर
उमड़ो युवको! बादल बनकर
गरजो युवको! बादल बनकर।¹⁵

भारत जी संसार के सौंदर्य को देख जहाँ मुग्ध होते हैं वही रमणीय कल्पना कर बैठते हैं। भारत जी ने प्रणय रूप सौंदर्यपरक प्रतीकों का वर्णन अपने काव्य में संपूर्णता से किए हैं।

भारत जी ने अपनी कविताओं में प्रेमिका को मन की पीड़ा का प्रतीक माना है। भारत जी एक भावुक कवि है। कवि का व्यक्तिपरक स्वर उनकी प्रेमपरक कविताओं में नजर आता है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों में कवि अपनी प्रेमिका को स्वयं ऐसी चीज़ देना चाहता है, जो स्वयं उसकी हो और देने के बाद वह केवल प्रेमिका की हो। वह ऐसी किसी वस्तु का चयन करने में सफल नहीं हो पा रहा है, क्योंकि कवि कहता है कि प्राण प्रभु ने दिए हैं, शरीर माता-पिता की देन है विधा शिक्षकों की देन है, हँसी बंधुओं ने दी है और इन सारी चीज़ों पर कवि के अलावा दूसरों का अधिकार है इसलिए वह अपनी प्रेमिका से कहता है कि मेरे इस देने की विकलता को ही सच्चा दान मान लें।

प्राण यदि प्रभु ने दिए हैं
तो शरीर माता पिता ने
धन और ज्ञान मुझे दिए हैं समाज ने
विधा शिक्षकों ने

तो लिखने की क्षमता कवि कुल गुरुओं ने
 हँसी बंधुओं ने दी
 और दर्द दिग्भ्रमित जनों ने शत्रु मानकर
 मेरे पास मेरा है ही क्या?
 जब तक मैं स्वयं कुछ सिर्रेज नहीं पाता हूँ।
 अपने आप अपने को गढ़ नहीं लाता हूँ
 तब तक तुम ओ मेरे प्यार की संगिनी
 मेरे इस देने की विकलता को ही
 सच्चा दान मानना।¹⁶

भारतभूषण अग्रवाल जी ने अत्यंत भावुक क्षणों की रमणीय कल्पना की है अतः हम कह सकते हैं कि कवि एक श्रेष्ठ काव्यकार है कवि की मन की आँखों में बसी रंगीन दुनिया पाठक को एक ऐसे लोक में लाकर छोड़ती है कि वह सुध-बुद्ध खो बैठता है, किंतु क्या कवि की भी यही स्थिति है? नहीं, वह स्वयं जागरूक है, देखिए—

डूबता दिन भीगती सी शाम
 बंद कर दो कान
 लो विश्राम
 यह तिमिर की शॉल
 ओढ़ लो वसुधे न सिकुड़ शीत से यह लाल
 जग की बाल
 वलय की खनकार
 दीप बालो री सुहागिन। जग उठे गृहद्वार
 बंदनवार
 किंतु साथी! देख
 हम न सोएँगे हमारा कार्य है अवशिष्ट
 अपनी प्रगति का अब भी अधूरा लेख
 जागरण, चिरजागरण ही है हमारा इष्ट
 लो क्षितिज के पास
 वह उठा तारा अरे! वह लाल तारा नमन का तारा हमारा
 सर्व हारा का सहारा
 विजय का विश्वास।¹⁷

उपर्युक्त कविता में संध्या के समय का सौंदर्य चित्रण करते हुए वसुंधरा को सुहागिन का प्रतीक बताया गया है।

कवि कहता है कि दिन डूब रहा है। शाम भीगी-भीगी है ऐसे पलों में कानों को बंद कर विश्राम करो और प्रकृति को संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे वसुधे! अंधकार रूपी कंबल ओढ़ लो जिससे संसार रूपी बालक को सर्दी न लगे। कंगन की खनक सुन कवि पुनः कहता है। हे सुहागिन! दीपक जलाओ, जिससे घर व बाहर अंधकार न हो ज्ञान का प्रकाश फैल जाए

और तुम विश्राम करो। किंतु पुनः मन को संबोधित करते हुए कवि कहता है कि मन रूपी साथी हमें नहीं सोना है। हमें नव संसार की रचना का कार्य करना शेष है हमारा जागना और जगाना ही उद्देश्य है अभी तक प्रगति का लेख भी अधूरा है और वह देखो वह जो आसमान का तारा है वह हमारे विश्वास का प्रतीक है। वह लाल तारा हमारा प्रेरणादायी संबंध है। अतः जग की भलाई के लिए नवनिर्माण करना है। यहाँ कवि की कल्पना अति सुंदर है।

प्रेम के विषय में जिस बात को भारतभूषण अग्रवाल जी ने रेखांकित किया है। वह यह है कि प्रेम यदि वास्तविक है तो वह अतीत की बात नहीं हो सकती वह सदा रहेगा। भारतभूषण अग्रवाल जी का विचार यह भी है कि प्रेम की अनुभूति इतनी तीव्र और गहरी होती है कि वह काव्य के माध्यम से व्यक्त नहीं हो सकती। यह मन की ऐसी दशा है, जिसके बारे में कुछ कहना और लिखना असंभव है। यह तो केवल अनुभव करने की चीज है। प्यार को कवि ने एक फूल कहा है, जिसके मुझाने के बाद भी उसकी खुशबू सदा बनी रहती है।

प्यार एक फूल है
 पंखुरिया है हम
 गुथे हुए है जो गंध
 वह हमारी नहीं उसकी है
 वह रहेगी
 जब हम मर जाएँगे।¹⁸

इन पंक्तियों में कवि ने फूल को प्रेम के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि प्रेम के बारे में जो कुछ लिखा जाता है वह सब मिथ्या है सत्य तो केवल वह है, जिसकी अभिव्यक्ति करना प्रेमी के बस की बात नहीं। भारतभूषण अग्रवाल जी एक भावुक कवि है, जो कवि अपने अभिव्यक्ति के प्रति जितना ईमानदार होगा उसकी भावना में उतनी ही अधिक मानवीय संवेदना, विषय व्यापकता और दृष्टि में अपेक्षाकृत अधिक गहराई होगी। भारत जी की अनुभूति में ईमानदारी इसलिए पाई जाती है क्योंकि वह पहले तो मध्यमवर्गीय मन के दर्द को स्वयं अनुभव करते हैं। तब फिर उसे कविता का रूप देते हैं भारत जी मानवता के साथ भावनात्मक रूप से जुड़े हैं मानवता का कल्याण ही वे सच्ची प्रगति मानते हैं। भारत जी कहते हैं— 'हम सब एक ऐसी दौड़-दौड़ रहे हैं, जिसके लक्ष्य का पता नहीं है इस दौड़ में हम अपने मूल्य से, जीवन के उद्देश्य से और अपने आपसे बेखुबर है' यह स्थिति मोहभंग की स्थिति है पर इसे पतन की स्थिति नहीं कहा जा सकता, परंतु इतना जरूर है कि वास्तविकता इससे भिन्न है—

शब्दों का इस सैलाब में
 योजनाओं की फाइलें और इतिहास के पन्ने
 भविष्य के अनुमान और विज्ञान के प्रबंध
 बहे चले जा रहे हैं
 कुछ पता ही नहीं कि हम क्या हैं?
 कहाँ है?
 यह डल लेक है या ट्राम्बे का रिएक्टर

हाजी पीर पास या ऊँट का जेलखाना
इंसान या राशन कार्ड' 19

यहाँ पर भारतभूषण अग्रवाल जी ने मानव को सामाजिक कष्टों का प्रतीक माना है कुछ न करने की भावना के कारण मन में एक प्रकार की छटपटाहट और सीमित शक्तियों की स्थिति मन में भय पैदा करती है। इसी कारण इंसान में पराजय और वेदना का भाव उत्पन्न होता है। परंतु मोहभंग की स्थिति उससे भी भयानक है।

भारतभूषण अग्रवाल जी ने अपनी कविता 'कनाट प्लेस' में ध्वनियों के शब्द प्रतीकों के माध्यम से जीवन की सत्यता का वर्णन किया है।

गाड़ियों की गड़गड़ाहट
साड़ियों की सरसराहट
नाड़ियों की हरहराहट 20

इन पंक्तियों में प्रयुक्त गड़गड़ाहट गाड़ियों की बाहुलता से उत्पन्न शोर शराबे का प्रतीक है। साड़ियों की सरसराहट रमणियों के आने जाने के वातावरण से उत्पन्न एक प्रकार से विशेष प्रभाव व्यंजित करती है और नाड़ियों की हरहराहट जवान के दिलों पर वातावरण से उत्पन्न उत्तेजना की ओर प्रतीकात्मक संकेत करती है।

भारत भूषण अग्रवाल जी का काव्य एक साथ दो स्तरों पर चलता है एक ओर तो वे सामाजिक परिस्थितियों और उनके प्रभावों तथा क्रांति पर लिखते हैं और दूसरी ओर मन की गहरी प्रेमानुभूति और सौंदर्य चेतना को अभिव्यक्त करने का प्रयास करते हैं। जब हम भारतभूषण अग्रवाल जी की कविता का निवेदन करते हैं तो ऐसा लगता है, कि मुक्ति रूप है और दूसरी ओर जब सामाजिकता की ओर झुकते हैं तो जीवन को काव्य से अधिक महत्त्व देने लगते हैं। कवि मन ऐसे प्रतिभासंपन्न पंखों के सहारे गतिमान होता है, कि संसार की किसी वस्तुतः की तुलना नहीं की जा सकती। 'मैं और मेरा पिट्टू' कविता में कवि अग्रवाल ने इसी तथ्य को स्पष्ट किया है—

देह में अकेला होकर भी
मैं दो हूँ
मेरे पेट में पिट्टू है
जब मैं दफ्तर में
साहब की घंटी पर उठता बैठता हूँ
मेरा पिट्टू
नदी के किनारे वंशी बजाता रहता है
जब मेरी नोटिंग कूट-कूटकर स्टाइप होती है
तब साप्ताहिक के मुख्य पृष्ठ पर
मेरे पिट्टू की तस्वीर छपती है
शाम को जब मैं
बस के फुट बोर्ड पर टँगा-टँगा घर आता हूँ
तब मेरा पिट्टू

चाँदनी की बाँहों में बाँहें डाले
 मुगन गार्डन में टहलता रहता है
 एक दिखने वाली मेरी इस देह में
 दो 'मैं' हैं
 एक मैं
 एक मेरा पिट्टू
 मैं तो ख़ैर मामूली-सा क्लर्क हूँ
 पर मेरा पिट्टू
 वह जीनियस है।²¹

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि कहता है कि मेरा पिट्टू किसी के बंधन में नहीं है वह स्वच्छंद है और मैं बंधन में बँधा हुआ हूँ। यहाँ कविता में अपनी काव्यात्मक शक्ति का प्रतीक पिट्टू को बताया है।

अचेतन मन की महत्ता और उसके अस्तित्व से इंकार नहीं किया जा सकता। इसकी सत्ता निर्विवाद है। अवचेतन मन-मानव की अंतश्चेतना का मूल स्रोत है पर वह अज्ञान व उपेक्षा के कारण अंधकार में डूबा रहता है

यह नगर
 दबा पड़ा आकूल मूर्च्छित
 नव प्रकाश की विकल प्रतीक्षा की पीड़ा को
 मौन सँभाले।²²

यहाँ कवि ने नगर को अवचेतन मन का प्रतीक माना है। नगर में जिस प्रकार अनेक लोग रहते हैं उसी प्रकार अवचेतन की तह में भी अनेक प्रकार की वृत्तियाँ, इच्छाएँ तथा प्रेरणाएँ छिपी रहती हैं।

भारतभूषण अग्रवाल जी का मानना है कि ईश्वर में सच्ची आस्था और निष्ठा एक अच्छी बात है, परंतु धर्म को आड़ बनाकर ईश्वर को व्यापार की वस्तु बनाकर समाज का एक वर्ग व्यभिचारी बन गया है ईश्वर के अस्तित्व को निखारने वाले भारत जी भला देवी देवताओं को कैसे छोड़ते, वे भी उनके सामने सामान्य स्त्री पुरुष, जो अपनी रोजी-रोटी के लिए मेहनत करते हैं, के रूप में अवतरित होते हैं। मूर्ति पूजा से मानव अपने आपको कितना असहाय, दून और असमर्थ समझने लगा है इसका वर्णन भारत जी ने निम्न पंक्तियों में किया है—

और वह मूर्ति
 दिन पर दिन
 स्वयंमेव
 मानों और बड़ी और बड़ी
 होती गई
 जड़ प्रतिमा में बंद यह रहस्य
 यह जादू
 कितने समझ सके कितने न समझे

कहना कठिन है
 क्योंकि उसे पूजा सभी जनों ने
 भूलकर यह छोटा-सा सत्य
 पत्थर न घटता है न बढ़ता है
 रंचमात्र
 मूर्ति बड़ी होती चली जा रही थी
 क्योंकि
 वे सब छोटे होते चले जा रहे थे।²³

भारतभूषण जी ने देवी-देवताओं को स्त्री-पुरुष का प्रतीक माना है कवि मूर्ति की महत्ता को स्वीकार नहीं करता। उनका मानना है कि मूर्ति की महत्ता इसलिए बढ़ गई है क्योंकि हम और हमारी सोच छोटी होती जा रही है। भारतभूषण जी के काव्य में प्रतीकों का प्रयोग बाहुल्यता से हुआ है। उन्होंने लगभग सभी प्रतीकों का संयोजन किया है। भारत जी के काव्य में प्रतीकों की सौंदर्यपूर्ण संयोजना हुई है। भारतभूषण अग्रवाल जी ने शब्दों को प्रेरक भावना, नवीन विचार सहायक तत्त्वों के प्रतीक रूप में प्रयोग किया है। भारतभूषण के काव्य में नवीन आयामों के प्रतीकों का प्रयोग अधिक मात्रा में हुए हैं उनके साहित्य का अवलोकन करने पर यही तथ्य सामने आता है कि सामाजिक, धार्मिक आदि स्तरों पर रूढ़िवादिता प्रिय नहीं थी। भारतभूषण जी सदैव साहित्यकारों से घिरे रहते हैं। डॉ० अरुणकुमार ने भारतभूषण के काव्य में नवीनता व परंपरा का निर्वाह लक्षित किया है, उनकी रुचि नवीनता के प्रति दर्शायी है— 'वे परंपरा और नए का समन्वय स्थापित करना चाहते थे कहीं उनमें साम्यवाद के प्रति शुभांश है तो कहीं बिलगाव का बोध भी प्रतीत होता है।'²⁴

नवीन और प्राचीन के समन्वय होने पर भारत जी के काव्य में नवीन प्रतीकों का वर्णन बहुसंख्यक है भारतभूषण अग्रवाल अपने काव्य साहित्य के लिए हिंदी साहित्य जगत में सदैव चर्चित रहते। कभी वे तार सप्तक के कवि के रूप में चर्चित रहे, कभी वे 'तुक्तकों' के विषय में याद किए जाते रहे तथा कभी अपनी प्रतीकात्मक शैली के कारण चर्चा में रहे। अग्रवाल जी ने अपने काव्य में प्रतीकों की इतनी सुंदर विवेचना की है कि उनका काव्य समस्त प्रतीकों से परिपूर्ण दृष्टिगत होता है।

कविगण कम से कम शब्दों द्वारा अधिक भावों की सुंदरता एवं मार्मिकता के साथ व्यंजना चाहते हैं इस उद्देश्य की पूर्ति में प्रतीक ही उनके सहायक होते हैं।

भारती जी ने अपनी कविताओं में प्रतीकों के माध्यम से कठिन से कठिन विषय को सरल भाषा में समझाया है प्रतीकों से भाषा में लाक्षणिकता और व्यंजकता का विकास होता है क्योंकि प्रतीकों में लक्षणा का चमत्कार अधिक होता है इस प्रकार प्रतीकों द्वारा किसी साहित्य की भाषा संपन्न एवं समृद्ध होती है साथ ही अनेकानेक भावों की व्यंजना भी बड़ी निपुणता से हो जाती है यदि प्रतीकों का प्रयोग न हुआ होता तो न जाने मानव के कितने भाव मूक एवं अव्यक्त ही पड़े रह जाते। प्रतीकों द्वारा किसी अर्थ की व्याख्या करने के लिए अधिक शब्दों की आवश्यकता नहीं पड़ती। कवि अपने विशिष्ट अभिप्राय को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करता है भारत जी ने अपने काव्य में आधुनिक काव्य में प्रयुक्त लगभग सभी

प्रतीकों का वर्णन किया है। भारत जी ने प्रतीक की सहायता से बहुत विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखने वाली बात को अत्यंत सूक्ष्म रूप में प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। भारत जी की प्रतीक योजना इसलिए अधिक लोकप्रिय, मन-भावन और अधुनातन है क्योंकि वह जीवन के व्यावहारिक पक्ष से जुड़ी है व्यक्ति के जीवन के दिन-प्रतिदिन के क्रियाकलापों से संबंधित है इस प्रकार भारत जी के काव्य में प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है तथा इनकी प्रतीक योजना अत्यंत प्रभावशाली एवं भावाभिव्यक्ति को प्रकट करने में पूर्णतया सफल है।

संदर्भ

1. प्रतीक शास्त्र, डॉ० पूर्णानंद वर्मा, पृ० 410
2. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, दसवाँ संस्करण, पृ० 669
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, चिंतामणि भाग 2, पृ० 12
4. हिंदी काव्य की अंतश्चेतना, डॉ० राजाराम रस्तोगी, पृ० 205
5. A symbol might be defined as a representation which does not aim at being a reproduction. the symbolist movement in literature A samsuns.
6. Encyclopaedia Britannica vol xxvi 284
7. हिंदी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल लि० काशी, पृ० 515
8. काव्य बिंब, डॉ० नगेंद्र, पृ० 7-8
9. गीता रहस्य, बालगंगाधर तिलक, पृ० 415
10. सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व, डॉ० कुमार विमल, पृ० 56
11. हिंदी साहित्य में काव्यरूपों का प्रयोग, डॉ० शंकर देवी अवतारे, पृ० 25
12. मंसूरी के प्रति, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० 45
13. हम नहीं है द्वीप, भारतभूषण अग्रवाल, रचनावली, पृ० 298
14. उतना वह सूरज है, निर्विकल्प, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० 1
15. संबोधन, समाज सेवक श्री अक्षय मिश्र उपनाम से प्रकाशित, 21 सितंबर 1941
16. उतना वह सूरज है, देने की विकलता, भारतभूषण जी, पृ० 99-100
17. जागते रहो, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० 105
18. उतना वह सूरज है, प्यार के फूल, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० 102
19. एक उठा हुआ हाथ, परिदृश्य, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० 52
20. अनुपस्थित लोग, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० 26
21. अनुपस्थित लोग मैं और मेरा पिट्टू, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० 30-31
22. ओ अप्रस्तुत मन भारत, भारतभूषण अग्रवाल, पृ० 49
23. नई कविता अंक तीन, भारत भूषण अग्रवाल, पृ० 60-61
24. डॉ० अरुणकुमार, कथ्य एवं विमर्श, आलोचना, पृ० 71

नई कहानी और उसमें समाहित भारतीय साठोत्तर युग की दशा

अमिता वर्मा, शोध-छात्रा

डॉ० अल्ताफ़ अहमद, शोध-निदेशक

संभवतः कहानी का जन्म बहुत पहले ही हुआ होगा और इसका उद्देश्य मात्र मनोरंजन ही रहा होगा। वस्तुतः जब मनुष्य शैशवावस्था में होता है तो व अपने प्रियजनों, दादा- दादी या नाना-नानी से कहानियाँ सुनकर प्रसन्न होता है अथवा सुप्तावस्था में लीन हो जाता है। यहीं से कहानी का प्रारंभ माना जाता है, किंतु इसका व्यवस्थित रूप हमें वैदिक साहित्य में देखने को मिलता है। छोटे आख्यान, छोटे-छोटे याज्ञिक विधि-विधानों की रूपरेखा, उसका संचालन, व्यवस्थापन आदि कहानी के ही रूप हैं। वैदिक साहित्य संसार के लिए ज्ञान का अथाह सागर है। उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रंथों में अथाह कहानियाँ संश्लिष्ट हैं। सारी दुनिया में कहानी हमारे देश के स्रोतों द्वारा विकसित हुई हैं। हमारे पुराण साहित्य में भी कहानियों का संकलन है। अतः यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि कहानी का आरंभ वैदिक साहित्य से ही हुआ।

कहानी के संदर्भ में इतना अवश्य है कि जिस रूप के बारे में जितनी जिसकी पहुँच होगी, उसका कथन उतना ही सार्थक होगा। कहानी की धारा विकासमान एवं परिवर्तनशील है। अतः इसे परिभाषा के परिक्षेत्र में रखकर वर्णन करना कठिन है और चूँकि कहानी का कोई निश्चित स्वरूप, दायरा तथा प्रतिमापक नहीं है, अतः विद्वानों ने इसे भिन्न रूप से परिभाषित किया है। यहाँ यह भी कहना विशेष उपयुक्त होगा कि संस्कृत साहित्य में कहानी के दो रूप मान्य हैं— 'कथा' एवं 'आख्यायिका'।

रायकृष्णदास जी ने कथा एवं आख्यायिका दोनों को समरूप तथा समुद्देश्य माना है। उनका कहना है कि— 'आख्यायिका में सौंदर्य की एक झलक का रूप है। मान लीजिए आप किसी तेज सवारी पर चले जा रहे हैं, रास्ते में एक गोल-मटोल शिशु खेल रहा है, सुंदरता की मूर्ति उसकी झलक मिलते न मिलते भर में सवारी आगे निकल जाती है, परंतु उसकी एक ही झलक ऐसी होती है कि उसकी स्थायी रेखा आपके अंतरपट पर अंकित हो जाती है। यही काम कहानी भी करती है।'

'कहानी मानव-जीवन की उस वस्तुस्थिति और क्रिया-कलाप का वर्णन है, जो केवल घटना ही नहीं, उस सत्य की कल्पना है, जो घटना के एकांत मोड़ में कहीं छिपा पड़ा रह गया है।'² कहानी में पूर्ण अथवा अपूर्ण जीवन का चित्रण होता है, इसलिए कहानी को जीवन की प्रतिच्छाया मानना श्रेयस्कर है। प्रत्येक जीवन में विविध प्रकार के अनुभव होते हैं, यथा— अनुकूल, प्रतिकूल, सुखद, दुखद, कटु, मृदु, चित्य, अचित्य इत्यादि। कहीं अनुभवों का प्राकट्य विवेचन एवं अभिव्यंजना अपनेआप में कहानी है।

नई कहानी का प्रारंभ

हिंदी साहित्य में कहानी का सबसे महत्वपूर्ण, जीवंत, सर्वप्रचारित कथा-आंदोलन 'नई कहानी' है, जिसकी अवधि सन् 1950 से 1965 ई० मानी जा सकती है। वैसे नई कहानी के 'काल' को लेकर पर्याप्त वैभिन्य रहा है। एक ही विद्वान ने इस संबंध में भिन्न-भिन्न राय दी हैं। श्री राजेंद्र यादव ने कभी इसे 50-60 के बीच कहा तो कभी अपने कथन में इसे 50-65 तक कही कहानी माना¹ परंतु सामान्य रूप से श्री भैरवप्रसाद गुप्त के संपादकत्व में निकले 'कहानी' नामक प्रसिद्ध पत्रिका के विशेषांक से ही नई कहानी की प्रतिष्ठा का समय माना जाता है, जो सन् 1965 ई० में प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार कहानी एक गंभीर चर्चा का विषय बन गया, जिसका श्रेय निश्चय ही डॉ० नामवरसिंह जैसे प्रखर समीक्षक और भैरवप्रसाद गुप्त जैसे कुशल संपादक को जाता है, जिन्होंने कहानी को एक गौरवपूर्ण विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसके पश्चात् सभी विचार-गोष्ठियों और परिचर्चाओं में 'नई कहानी' सर्वाधिक चर्चा का विषय बन गई और डॉ० नामवरसिंह कहानी के एकमात्र समीक्षक के रूप में अधिष्ठित रहे।

साठोत्तरी कहानी में प्रेमचंदयुगीन अथवा उसके तत्काल बाद का संयुक्त परिवार नहीं मिलता, क्योंकि आधुनिक प्रावृत्तियों के उद्भव के साथ ही परिवार का स्वरूप बदलने लगा था। आधुनिकता और परिवार के बीच दो स्थितियाँ-परिस्थितियाँ, संगतियाँ-विसंगतियाँ साठोत्तरी कहानी में वर्णित हैं। उनमें परिवार के उस परिवर्तित स्वरूप का चित्रण है, जो पाश्चात्यीकरण और आधुनिकता की देन है। इस आधुनिकीकरण और पाश्चात्यीकरण ने समाज के प्रत्येक स्तर पर परिवार को प्रभावित किया है। वह प्रभाव परिवार के ढाँचे पर ही नहीं, परिवारगत संबंधों और संवेदनाओं में भी संक्षिप्त किया जा सकता है। हिंदी कहानी के माध्यम से भारतीय परिवार का अध्ययन करते समय इन सूत्रों का आधार अपेक्षित होगा। प्रो० सुरेश धींगड़ा के शब्दों में 'कहानी ने स्वतंत्रतापूर्व और पश्चात् की सामाजिक स्थितियों के यथार्थ और संघर्ष और उसके आंतरिक मनोविज्ञान को अनुभव के धरातल पर व्यक्त किया। साथ ही अपेक्षाकृत गतिहीन पारिवारिक यथार्थ को ग्रहण कर, उसके आधार पर जीवन को अभिव्यक्त किया, जिसमें व्यक्ति और परिवार का संघर्ष, घुटन, परिवार की आर्थिक स्थिति, उसका रूपगति-परिवर्तनजन्य तनाव और व्यक्ति की स्वतंत्रता मुख्य है।'²

नएन की स्वभावगत त्वरा में नई पीढ़ी असहयोग कर उठी और उसका संघर्ष सर्वप्रथम परिवार से उत्पन्न हुआ। इसका परिणाम पारिवारिक विघटन के रूप में सामने आया। आज वृद्धावस्था की कोई सुरक्षा वृद्ध के पास नहीं, अतः पुत्र परलोक के लिए नहीं, इस लोक के लिए ज़रूरी हो गया। संबंधों में तनाव और जीवन की व्यर्थता का बोध ही आज की पीढ़ी का बोध है। आज का पुत्र कुछ संवेदना और दया करके ही परिवार को स्वीकार करता है।³ राजेंद्र यादव की कहानी 'तलवार पंचहजारी' इसी प्रकार की कहानी है। कहानी के ठाकुर गजराजसिंह शताब्दियों-पूर्व अपने पूर्वजों की भेंट में मिली तलवार और 'पंचहजारी' की उपाधि से चिपके रहना चाहते हैं। स्वखलित चरित्र होने पर भी परंपरा और 'खानदानी शान' पर मरनेवाले हैं। दूसरी ओर नयी पीढ़ी का कुँवर इंद्रजीतसिंह, इस पीढ़ी के स्वखलन, चरित्रहीनता तथा परंपरागत भावना का विरोध करता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में यह सब 'आल बकवास, ऑल रबिश' है। कहानी परिवार के विघटन पर दृष्टिपात करती है, जो इन परिस्थितियों में स्वाभाविक है। एक उदाहरण

दृष्टव्य है—‘हाँ, अगर जाओ तो कक्का से कह देना कि उस तलवार को मैंने तोड़ डाला है। पुराना होते हुए भी इस्पात बहुत अच्छा था, इसलिए फेंकने को मन नहीं हुआ। उसके उस्तरे बनवा लिए हैं। एक पास रखकर बाकी सब पास वालों में बाँट दिए हैं।’⁶

इसी प्रकार कमलेश्वर की कहानी ‘कोई नहीं, कुछ नहीं’⁷ में भी पारिवारिक स्तर पर परायेपन का चित्रण किया गया है। यद्यपि उसके इस चित्रण के पीछे नवनिर्माण की उत्कट प्यास है। कहानी में केवल पिता दीवान और पुत्र सूरजभान के बीच की खाई ही चित्रित नहीं की गई है, अपितु यह आज के परिवार का यथार्थ है। कमलेश्वर की ‘तलाश’⁸ में माँ-बेटी के परंपरागत संबंध बिल्कुल बदल गए हैं। सुमि अपने पिता की मृत्यु के बाद भी पिता से बेहद जुड़ी है, पर माँ के शरीर की सहज आवश्यकताओं के प्रति सहानुभूति रखती है— एक बेटी की तरह नहीं, एक मित्र की तरह। माँ के सहज जीवन जीने के लिए वह खुद होस्टल में रहने लगती है।

राजनीतिक परिवेश

इस नए युग में कहानी राजनीति से काफ़ी हद तक प्रभावित है। आज कहानी में पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तरों पर फैली व्यापक अर्थहीनता को लेकर आक्रामक और कटु स्वर उभरता जा रहा है। यह मात्र संयोग ही नहीं है, निश्चय ही मधुकरसिंह जैसे लेखक की कहानियों के आधार पर तो यह कहा ही जा सकता है। ‘जहाँ अपनी माँगों के लिए लगातार हड़तालें हों, विगत धन के लिए आंदोलन किए जाते हों, सांप्रदायिक पार्टियाँ भी रणनीति तय करती हों, कैपिटल लेवी का विरोध किया जाता हो, वहाँ किसी का क्या मज़सद हो सकता है...इतना जान लो बेटा कि जब तक यह...अवस्था रहेगी, तब तक कोई मज़सद नहीं हो सकता।’⁹ ठीक यहीं पर जितेंद्र भाटिया कहते हैं, ‘आम आदमी की इस सीधी लड़ाई को अभिव्यक्ति देते समय लेखक सोच सकता है कि व्यवस्था का विरोध करने का मतलब कहीं यह तो नहीं कि लेखक अव्यवस्था चाहता है। यह प्रतिपक्ष की भूमिका निभाने वाले लेखक के पास अपनी असहमति के अतिरिक्त कोई रचनात्मक दृष्टिकोण भी है।’¹⁰

यह केवल अपनी-अपनी व्यवस्था और राजनीतिक मूल्यों के लिए लड़ाई है। इस व्यवस्था से किसी भी आम आदमी का कोई मतलब नहीं है और इसी व्यवस्था के खिलाफ़ इन लेखकों की लड़ाई का अर्थ है—स्वयं गहरी व्यवस्था से जुड़कर लेखक का नेता बन जाना और इसकी नींव खोदकर अपने लिए एक नई व्यवस्था का निर्माण करना, जिसमें केवल यहीं ठंडी साँस ले सके। नहीं तो फिर गोष्ठियाँ (घरेलू स्तर पर) और निहायत पारिवारिक चित्रों (बाल-बच्चों के भी) के साथ व्यवस्थित पत्रों में छपकर अपने मुखौटे दिखाना क्या अर्थ रखता है। इससे किस आम आदमी का क्लेश दूर होगा, कौनसे मानवीय मूल्यों का पोषण होगा। मात्र इस तरह की कहानियाँ लिखकर कोई क्रांति या उथल-पुथल नहीं ला सकते। बल्कि व्यापक लड़ाई से अपने-आपको काटकर व्यक्तिगत सपनों को सच करने के पीछे यह इनकी लड़ाई व्यापक अवश्य है।

हिंदी कथाकारों ने सांप्रदायिकता के इस रूप को घृणा की दृष्टि से देखा और अनेक सशक्त कहानियों की रचना की, जिसके लिए बदीउज़्जमा की ‘परेदशी’ एवं ‘अंतिम इच्छा’ तथा कमलेश्वर की ‘कितने पाकिस्तान’ कहानियाँ उल्लेख्य हैं। कमलेश्वर ने लिखा है—‘मालूम नहीं, कितने पाकिस्तान बन गए, एक पाकिस्तान, बनने के साथ-साथ कहाँ-कहाँ कैसे-कैसे?’

सब बातें उलझकर रह गई, सुलझा तो कुछ भी नहीं।' ¹¹

समकालीन कहानी के दौर में सांप्रदायिकता की भावना पर आघात करनेवाली अनेक सशक्त कहानियाँ लिखी गई, जिनमें संवेदना का केंद्र-बिंदु यह है कि कोई भी व्यक्ति हिंदू या मुसलमान नहीं है, उसकी एक ही जाति है 'मानव'। इसका स्पष्ट उदाहरण अब्दुल बिस्मिल्लाह की कहानी 'अतिथि देवो भव' में देखने को मिलता है। पूरी कहानी सांप्रदायिकता की ओछी मनोवृत्ति पर अत्यंत तीव्र व्यंग्य है। ¹²

सन् 1984 के अक्टूबर में इंदिराजी की हत्या के बाद व्यापक रूप से सिखों के विरुद्ध दंगों ने सांप्रदायिक रूप ले लिया और हिंदू-सिख के बीच एक सांप्रदायिक दीवार खड़ी हो गई, परंतु हिंदी कहानीकार ने इस कुत्सित प्रवृत्ति पर खुलकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। निर्दोष सिखों के साथ हुए अमानवीय व्यवहार पर हिंदी-कथाकारों ने उनका पक्ष को लेते हुए अनेक सशक्त कहानियों की रचना की है। भीष्म साहनी ने 'झुटपुटा' कहानी लिखी, जिसमें इन्हीं तथ्यों का चित्रण किया गया है। ¹³

आर्थिक परिवेश

इन राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों के अतिरिक्त आजादी के बाद पचीस वर्षों में अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। देश के विभिन्न राज्यों में ज़मींदारी के उन्मूलन के कारण बेगार लेना-देना करीब बंद हो गया। छुआ-छूत की भावना भी लगभग समाप्त हो गई। नारी-शिक्षा में काफ़ी सुधार हुआ और स्त्रियाँ भी उसी क्षेत्र में पुरुषों की भाँति काम करने लगीं। समाज में जो पिछड़े वर्ग थे, उनमें साहस आया। गाँवों का धीरे-धीरे शहरीकरण होने लगा और आचरण तथा नैतिक मूल्यों में काफ़ी परिवर्तन हुआ।

पिछले पचीस वर्षों में बहुत से पढ़े-लिखे युवक-युवतियों के अविवाहित रहने की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। आर्थिक मोर्चे पर नौकरी पेशे के द्वारा महिलाएँ भी स्वावलंबी बनने का प्रयत्न कर रही हैं। शहरी आदमी जीवन की भाग-दौड़ के कारण और अजनबी बन गया है। देश में शिक्षा के प्रसार और विदेशी चाल-ढाल-फ़ैशन, तौर-तरीकों की नक़ल के कारण नैतिक मूल्यों में भी काफ़ी परिवर्तन हुआ है। पहले जिसे पवित्र माना जाता था, उसके उल्लंघन को अब आधुनिकता माना जाने लगा। सेक्स की शुद्धता की बात पिछड़ेपन में सम्मिलित की गई। स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़नेवाले किशोर-किशोरियाँ पश्चिम की भोगवादी संस्कृति के समर्थक बन गए। उनमें से बहुतों ने मुक्त यौवनाचार और प्रेम-विवाह का समर्थन किया। शिक्षितों के वर्ग में नारी अब मात्र पुरुष प्रापटी बनकर नहीं रहना चाहती, किंतु इन प्रगतिशील विचारोवाली और अविवाहित रहने वाली स्त्रियों में सेक्स-संबंधी कुंठा के दर्शन होते हैं। डॉक्टरी और ऐसी ही अन्य नौकरियाँ करने वाली स्त्रियों का मनोविश्लेषण किया जाय तो कहीं-न-कहीं कोई ऐसा बिंदु अवश्य मिलेगा, जहाँ पश्चात्ताप की वृत्ति का दर्शन होता है।

आर्थिक शोषण के अतिरिक्त दासता के अन्य परिणाम भी भयंकर होते हैं। गुलाम राष्ट्र बहुत पतित और संकुचित दृष्टि वाला हो जाता है। इसका स्पष्ट प्रमाण आजादी के बाद के पचीस वर्षों में हमारे देश में मिलता है। राजनीतिक भ्रष्टाचार का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस वर्षों में हमने सभी स्तरों पर बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार के उदाहरण देखे हैं।

जमींदारी टूट गई, राजा-महाराजा भी समाप्त कर दिए गए किंतु कोटा-परमिट,

लाइसेंस ठेके की कई प्रकार की ज़मींदारियाँ अस्तित्व में आ गईं। जातिवाद, प्रांतवाद, क्षेत्रवाद, भाईवाद, गुटवादी राजनीति, ब्लैकमेल, घूसखोरी, तिकड़म, धोखेबाजी आदि जैसे दुर्गुण सर्वत्र देखे जा सकते हैं। चारित्र, ईमानदारी, अध्यवसाय आदि के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। समाज में वे ही प्रतिष्ठित, प्रभावशाली, आदरणीय और शक्तिशाली माने जाने लगे हैं, जो इन दुर्बलताओं के शिकार हैं। परिणाम यह हुआ कि जो मुट्ठी-भर लोग आदर्श और ईमान के नाम पर भ्रष्ट बनने से बचना चाहते हैं, उनका भी जीना भ्रष्ट बहुमत वाले हराम कर लेते हैं। आज का कोई भी संवेदनशील व्यक्ति जब यह देखता है कि ईमानदार और कर्तव्यपरायण होना प्रगति और प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक नहीं रह गया है तो वह घोर क्षोभ से भर जाता है।

वर्तमान युग में अर्थप्रधान मूल्यों का प्रचार-प्रसार हुआ। हमारा समाज अर्थ की शक्ति को सबसे बड़ा मानने लगा।

अर्थ और भौतिकता को विभिन्न बुराइयों की जड़ मानते हुए भी अहं की तुष्टि के लिए जैनैंद्र इन्हें आवश्यक मानते हैं। भौतिक मूल्यों का चित्रण करने में जैनैंद्र ने यथार्थवादी परिवेश को महत्त्व दिया है, जैसा हम 'सज़ा और चोरी' कहानी में पाते हैं।

'जिंदगी और गुलाब के फूल' (उषा प्रियंवदा) में घर के आर्थिक निर्वाह की जिम्मेदारी पुत्र से उठकर पुत्री पर जा पड़ती है और वह घर के कमाऊ लड़के की जगह अपनी आर्थिक भूमिका सहज अपना ही नहीं लेती, वरन् उसे बखूबी निभाए भी जाती है। साथ ही उससे व्युत्पन्न और संबद्ध गर्वोक्ति को भी वह नकार नहीं पाती।¹⁴

आर्थिक मूल्यों के प्रभाव से मनुष्य की सारी भावना समाप्त हो जाती है। मूल्यात्मक दृष्टिकोण के विकास ने प्रेमचंद जी को भौतिक मूल्यों के प्रति आकृष्ट करना शुरू कर दिया था। प्रेमचंद भौतिक सभ्यता के परिणामों से भली-भाँति परिचित थे। प्रेमचंद जी ने भौतिक सभ्यता का विरोध किया। उन्हें यह सह्य नहीं था कि दूसरे करें, पसीना बहाएँ और खाना और मूर्खों पर ताव देना उनका कार्य हो। यही कारण है कि उन्होंने सहकारिता को महत्त्व दिया।

संदर्भ

1. संपादक, रायकृणदास, इक्कीस कहानियाँ, पृ० 51
2. संकलनकर्ता, श्री भगवतीप्रसाद बाजपेयी, प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ० 61
3. राजेंद्र यादव, द्रष्टव्य, 'प्रेमचंद की विरासत', पृ० 67 तथा 108
4. हिंदी कहानी : दो दशक, डॉ० सुरेश धींगड़ा, पृ० 80
5. कमलेश्वर, नई कहानी की भूमिका, पृ० 158
6. छोटे-छोटे ताजमहल-राजेंद्र यादव, पृ० 701
7. कोई नहीं, कुछ नहीं, कमलेश्वर
8. तलाश, कमलेश्वर
9. मधुकर सिंह, उसका सपना
10. जितेंद्र भाटिया, एक आदमी का शहर।
11. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, जनवरी, मार्च, 1972
12. अब्दुल बिस्मिल्लाह, अतिथि देवो भव, सारिका, कथा पीढ़ी विशेषांक पृ० 5
13. भीष्म साहनी, झुटपुटा, पहल, सितंबर 85
14. उषा प्रियंवदा, जिंदगी और गुलाब के फूल

भीष्म साहनी के नाटक में जनवादी चेतना

प्रेमवेदा यादव, शोध-छात्रा

डॉ० सियाराम सिंह, शोध निरेक्षक रीडर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
समता स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सादात

सुविख्यात कथाकार भीष्म साहनी का नवीनतम नाटक 'कबिरा खड़ा बाज़ार में' एक ऐसी महत्वपूर्ण नाट्यकृति है, जो एक स्तर पर कबीर के तत्कालीन समाज, उस समाज में उनके निर्भय, सत्यभाषी और अन्याय के खिलाफ लड़ने वाले प्रखर व्यक्ति की पुनर्रचना करती है; तो दूसरे स्तर पर वह हमारे समकालीन समाज, उसमें युद्धराज, संप्रदाय-विरोधी, फासिज़्म-विरोधी, और बाह्याचार-विरोधी शक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका की ओर इशारा कर देती है। भारतीय नाट्यशास्त्र की प्राचीन शब्दावली में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि अभिधा के स्तर पर कबीर के बेपरवाह, सुदृढ़ और तेजस्वी सामाजिक व्यक्तित्व को चित्रित करनेवाला एक ऐतिहासिक नाटक है, लेकिन लक्षणा और व्यंजना के स्तरों पर हमारे वर्ग-विभक्त, जाति-विभक्त, धर्म-विभक्त और अंतर्विरोधपूर्ण तथा भेदभावग्रस्त विषम समाज के समकालीन संदर्भों के एक साथ ध्वनित कर देनेवाला एक आधुनिक नाटक है।

इस नाटक में दिल्ली का शहंशाह सिकंदर लोदी है, जो आज की निरंकुश और तानाशाही सत्ता का प्रतीक है। काशी नगर का कोतवाल है, जो आज की अफसरशाही के चरित्र को समझने में हमारी मदद करता है। कायस्थ का चरित्र आज के साइको फैंट्स की ओर एक इशारा है। अंधा भिखारी वह अभागा आधुनिक जन है, जो आए दिन किसी-न-किसी तरह के जोर-जुल्म की कड़ी-से-कड़ी मार झेलता है और हादसाग्रस्त होता है। मठ का महंत है, जो सांप्रदायिकता, धर्मांधता, विचारांधता और भावोन्माद का प्रतीक है। यह महंत नए और पुराने चोले पहन-पहनकर आज भी उसी तरह अपना कोरोनाशन करा रहा है जैसा कि वह कबीर के जमाने में करता था। वही तद्युगीन मौलवी हैं, पंडे हैं, पुजारी हैं और वही धार्मिक दुश्चक्र हैं। सच्चे, ईमानदार और पाखंड-विरोधी सहज, स्वाभाविक, फक्कड़ और फकीर इंसान के लिए चुनौतियाँ हैं, जिनका मुक़ाबला कबीर को करना पड़ा था। नाटक में कबीर, रैदास, सेना, पीपा, बशीरा की टोली ऐसे ही आधुनिक प्रतिबद्ध और प्रगतिशील इंसानों के अग्रिम दस्ते की ओर ध्यान आकर्षित करती है, जो सब-कुछ दाँव पर लगाकर मौजूदा व्यवस्था के संपूर्ण पाखंडतंत्र का भंडाफोड़ करने के लिए कमर कसे हुए हैं; ऐसी कमर जो सदियों से कोड़े खाती आ रही है, फिर भी उसके कसाव में कोई कसर या कोई कमी नहीं आई। व्यंजना के स्तरों पर इन्हीं सारे संदर्भों को यह नाटक गुंजायमान कर देता है। यही इसकी शक्ति है और यही उसका प्रभाव। इसीलिए वह ऐतिहासिक होते हुए भी अत्यंत आधुनिक है। इसीलिए यह अर्थवान भी है और इसीलिए इसकी कथावस्तु बेहद सामयिक और बेहद

प्रासंगिक हो उठी है।

इस नाटक की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता उसके नारी-चरित्रों के चित्रण से संबंध रखती है। भीष्म साहनी एक संवेदनशील कथाकार हैं। नारी की संवेदनाओं के वे एक कुशल और सक्षम चित्ते हैं। इस नाटक में कबीर की माँ और पत्नी के चरित्र विशेष रूप से मन को छूते हैं। कबीर की माँ नीमा कबीर की जननी (जन्म देनेवाली माँ) नहीं है। लेकिन कबीर को वह बेहद प्यार करती है। फिर भी वह कबीर को उसकी असली माँ का अता-पता बता देती है और कहती है, 'वह मिल जाए तो चला जा बेटा, मैं तुझे नहीं रोक्ूँगी।' इस पर कबीर उत्तर देता है— 'मुझे घर से निकाल रही हो, माँ? गोद लिए बालक को भी कोई निकालता है?' नीमा प्रत्युत्तर में कहती है— 'मैं तुझे घर से निकालूँगी रे? जिसे पालकर बड़ा किया है, उसे घर से निकालूँगी? तुझे देख-रेखकर तो हम दोनों जीते हैं।' माँ-बेटे के इस संवाद की पृष्ठभूमि में उस माँ की भी छाया उभरती है, जो बेवा होने के कारण अपने नवजात बेटे को एक तालाब के किनारे छोड़ आई थी, क्योंकि निर्मम समाज की थोथी नैतिकता के आतंक से वह संतस्त थी। उसके बारे में नीमा कहती है— 'वह भी बदनसीब थी कबीरा, वरना अपना बच्चा कौन फेंकता है? उसे पता चल गया था कि तुम्हें मैं उठाकर लाई हूँ। कहीं-कहीं छिपकर देखती रहती थी। वह हमारी झोंपड़ी के आस-पास आकर मँडराती रहती, अंदर झाँकर देखती, फिर लौट जाती।' दूसरी ओर नीमा भी कम बदनसीब नहीं है। वह अपने प्यारे बेटे की कमर पर धर्म और सत्ता के ठेकेदारों द्वारा बरसाए गए कोड़ों के निशान देखती है तो उसका दिल दहलता है, लेकिन वह कुछ कर नहीं पाती। कबीर की पीठ पर तेल चुपड़ती है और उसे समझाती है— 'तू यह क्या करता फिरता है कबीरा, मेरा दिल दहलता है। जिन लोगों के हाथ में ताकत होती है, उन लोगों के दिल में रहम नहीं होता बेटा!... तू मेरी बात मान, बेटा, तू सुनकर अनसुनी कर जाया कर, पर मुँह से कुछ न बोला कर।...' कबीर के मुँहफट होने की प्रवृत्ति समाज के ठेकेदारों को रास नहीं आती; वही प्रवृत्ति उसकी माँ की व्यथा का कारण बनती है। लेकिन ठेकेदारों की मनोदशा और माँ की मनोदशा का अंतर देखिए..... ताकत और रहम के रिश्ते को पहचानिए। ऐसे कन्ट्रास्ट के संकेत द्वारा मानव-समाज से ताकतवर की क्रूरता और नारी की रहमदिली और इन दोनों के बीच कबीर की एगॉनी, जो भीष्म साहनी जैसे संवेदनशील रचनाकार की एगॉनी को भी प्रकारांतर से संप्रेषित कर देती है।

नारी-चरित्रों के ही संदर्भ में इस ह्यूमन एगॉनी के साथ-साथ रचनाकार की एक और विशेषता की ओर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। कबीर की पत्नी लोई विवाह से पूर्व एक साहूकार के छैल-छबीले बेटे से प्रेम करती थी। लेकिन लोई के पिता ने उसका विवाह बेटे से बिना पूछे कबीर के साथ कर दिया। कबीर और लोई के चरित्रों को उत्कर्ष प्रदान करने में नाटककार भीष्म साहनी ने अपनी मौलिक उद्भावना द्वारा इस प्रसंग का बेहद सर्जनात्मक इस्तेमाल करते हुए बड़े कलाकार की क्षमता का परिचय दिया है। कबीर को जब इस तथ्य का पता चलता है कि लोई किसी और लड़के से प्रेम करती थी और उसके पिता ने उसके साथ उसे ब्याह कर एक अन्याय किया है तो वह उससे कहता है— 'उसके साथ तू खुश रहे तो तू ज़रूर उसी के पास चली जा!' इतना ही नहीं, वह उसे पहले ले चलता है! लोई हैरान होकर इस मर्द को देखती है; उसके बारे में उसकी सोच बदलती है और एक

तरह से लोई के व्यक्तित्वांतरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। लोई जाते समय गहने छोड़ जाती है, क्योंकि 'गहने तो ससुराल के होते हैं।' लेकिन कबीर उसे ऐसा नहीं करने देता। यह सब गहने उसे सौंप देता है और कहता है— 'तेरे ब्याह के हैं, जहाँ रहेगी वहाँ पहनना।' लोई का मन कबीर के इस व्यवहार से अछूता नहीं रह पाता और उसके व्यक्तित्वांतरण की प्रक्रिया तेज़ होने लगती है। पूछती है— 'तू अपनी माई से क्या कहेगा?' कबीर उसे आश्वस्त कर देता है कि 'माई को मैं समझा दूँगा बाद का दृश्य अत्यंत मार्मिक है। लोई विपन्न कबीर को छोड़कर अपने संपन्न प्रेमी के पास जा रही है; प्रेमी भी उसे अपनाने के लिए तैयार है। लेकिन कबीर के मानवी औदार्य और उदात्तता ने उसके भीतर एक हलचल पैदा कर दी है। जाते-जाते वह सोचती है कि यह कैसा फिराकदिल इंसान है! इसका दिल कितना विशाल है! अभिधा के स्तर पर इस हलचल का, इस व्यक्तित्वांतरण की तेज़ से तेज़तर होती हुई प्रक्रिया का कोई कथन नहीं है। लेकिन नाटककार की उस प्रक्रिया से पूरा सरोकार बनाए हुए है। दृश्य के अंत में व्यक्तित्वांतरण की यह प्रक्रिया पूरी हो जाती है। इस प्रक्रिया की आग से लोई के हृदय में साहूकार के छैल-छबीले बेटे के प्रति आसक्ति की झड़ियाँ जल उठती हैं और वहाँ उसके हृदय में कबीर के प्रति एक दायित्व की भावना से ओत-प्रोत प्रेम का उदय होता है। लोई एक निर्णय लेती है कि वह अब कबीर की अर्द्धांगिनी होकर रहेगी, कहीं नहीं जाएगी। इसी बिंदु पर शरत की कृति 'स्वामी' की याद ताज़ा हो आती है; लेकिन यह याद सांयोगिक है। इसका आशय यह नहीं कि भीष्म पर शरत् का यह प्रभाव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भीष्म साहनी का यह नाटक समाज के फलक पर और व्यक्ति के मन में चल रहे द्वंद्वों और अंतर्विरोधों की कलात्मक और अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति का एक सशक्त और बेहद प्रासंगिक दस्तावेज़ है। इसमें कोई शक नहीं कि रचनाकार की कोमल संवेदनाएँ कबीर के 'मृदुनि च कुसुमादपि' वाले पक्ष को ही उभार पाई हैं, उसके व्यक्तित्व के 'वज्रादपि कठोरणि' वाले पक्ष को वे नहीं संभाल सकते, लेकिन रचनाकार की प्रकृति को देखते हुए ऐसी उम्मीद करना शायद उचित भी नहीं है।

प्रगतिशील परंपरा के नाटककार भीष्म साहनी जी ने अपने नाटकों में नए-नए प्रयोग कर अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया है। इनके लिखे गए सभी नाटकों का वस्तुविन्यास अपने ढंग का निराला है। 'हानूश' में उन्होंने सिर्फ एक सुनी-सुनाई चेकोस्लोवाकिया की दंतकथा को आधार बनाकर एक अलग प्रकार का नाटक लिखा, तो 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' नाटक में उन्होंने भक्तकवि कबीर के जीवन की कुछ घटनाओं को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया 'माधवी' नाटक पूर्णतः पौराणिक घटना को आधार बनाकर लिखा गया है और 'मुआवज़े' आधुनिक संदर्भ को लेकर लिखा गया है। उनके 'रंग दे बसंती चोला' नाटक में भारतीय इतिहास की एक दर्दनाक घटना, जो अंग्रेज़ों की भयंकर राक्षसी वृत्ति को प्रकट कर देती है, इसका वर्णन दो परिवारों के माध्यम से किया है। उनके हर एक नाटक में नया वस्तुशिल्प दिखाई देता है। उन्होंने अपने नाटकों में पारंपरिकता को छोड़कर नए प्रयोग किये हैं। उनके नाटकों की विशेषता यह है कि उन्होंने कम से कम घटनाओं के सहारे अपने नाटकों को अपने उद्देश्य तक पहुँचाया है। 'आलमगीर' नाटक औरंगजेब की मानसिकता उद्घाटित करता है। तो 'फूजीयामा' एक अनूदित नाटक है। ये दोनों नाटक हमें उस वातावरण में ले जाते

हैं। इसी कारण से हम कह सकते हैं कि कथावस्तु में नए-नए प्रयोग करने में भीष्म साहनीजी सफल हो गए हैं।

भीष्म साहनी जी के सभी नाटकों में से 'कबिरा खड़ा बाज़ार में', 'माधवी', 'रंग दे बसंती चोला', 'आलमगीर' ये चार नाटक ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यान लेकर प्रस्तुत हुए हैं। इन नाटकों में मिथकीयता का एक अलग रूप देखने को मिल जाता है।

कबिरा खड़ा बाज़ार में : वैसे तो भक्तिकाल के प्रसिद्ध निर्गुण परंपरा के संत कबीर के जन्म, जीवन आदि के बारे में बहुत-सी दंतकथाएँ प्रचलित हैं। इन्हें आधार बनाकर भीष्म साहनीजी ने यह नाटक लिखा है। कबीरदास के जन्म के संबंध में विधवा ब्राह्मणी की कथा को भीष्म साहनी ने आधार बनाया है। कबीर के द्वारा झगड़ा-फ़साद करने पर नूरा का यह वाक्य- 'उस वक्त भी मेरी बायीं आँख फड़की थी, जिस वक्त तू उसे उठा लायी थी। अंदर से मेरे दिल ने कहा था कि नूरा, भूल कर रही हो, परंतु मेरे सिर पर सवार हो गई, मैं क्या करता?' इस बात का प्रमाण है।

कबीर के बारे में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने जो कहा था कि वे मस्तमौला, फक्कड़ स्वभाव के थे। इसी बात को इस नाटक में कबीर के स्वभाव का चित्रण कर प्रदर्शित किया गया है। इसी वजह से उसके माता-पिता नीमा और नूरा परेशान रहते थे। कबीर द्वारा गाये हुए कवित्तों की वजह से उन्हें लोगों के कोड़े खाने पड़े, उनके द्वारा किए हुए सत्संग की वजह से उन्हें एक बार गंगा में भी डुबोया गया, इन घटनाओं को अत्यंत नाटकीय ढंग से भीष्म साहनीजी ने प्रस्तुत किया है। लोई नामक उनकी पत्नी की जो कथा इतिहास में सुनी गई है, उसी कथा को यहाँ लिया गया है। लेकिन उसका किसी सेठ पुत्र के साथ प्यार होना यह तो एक कल्पना है। अपने मुख्य चरित्र कबीर की उदारता का परिचय देने के लिए इस मिथक में भीष्म साहनीजी ने इस कल्पना का सहारा लिया।

भारतीय साहित्य और संस्कृति के एक साधक की अपने दृष्टिकोण से एक तस्वीर प्रस्तुत करने की एक पहल इस नाटक में की गई है। भीष्म साहनीजी ने नाटक की भूमिका में लिखा है- 'अपने काल के यथार्थ और उस यथार्थ के विरुद्ध उनके विकट संघर्ष को न दिखाकर कबीर को ब्रह्म में लीन, अध्यात्म में गायक संत के रूप में दिखाना कबीर के साथ अन्याय करना ही है।.... नाटक में उनके काल की धर्माधता, अनाचार, तानाशाही आदि के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उनके निर्भीक, सत्यान्वेषी, प्रखर व्यक्तित्व को दिखाने की कोशिश की है।'² अतः यह स्पष्ट है कि इस नाटक में मिथक और कल्पना का मणिकांचन योग हुआ है।

माधवी : इस नाटक की कथा का आधार महाभारत है। विश्वामित्र का शिष्य गालब अत्यंत हठी स्वभाव का है। बारह विद्याओं में पारंगत होने के बाद वह विश्वामित्र से गुरुदक्षिणा माँग लेने का हठ करता है। उसके हठ से विश्वामित्र क्रोधित होते हैं और आठ सौ अश्वमेधी घोड़े लाने का आग्रह करते हैं। भटकता गालब महादानी ययाति के पास पहुँच जाता है। महाराज अपनी विवशता के बावजूद अपनी उस कन्या को दान दे देते हैं, जिसे चिरतरुण्य और चक्रवर्ती पुत्र की माता का वर प्राप्त है। उसकी सहायता से गालब गुरुदक्षिणा तो पूरी करता है, परंतु उससे प्यार करने वाली माधवी को फिर से अनुष्ठान करने के लिए कहकर उसके प्यार का अपमान करता है। विश्वामित्र और उनके शिष्य गालब, महादानी महाराज

ययाति और उसकी कन्या माधवी आदि की पौराणिक कथा का जो मिथक इस नाटक में लिया है, उसे कल्पना के रंग में रंगकर नाटककार भीष्म साहनी ने यहाँ प्रस्तुत किया है।

डॉ० सत्यवती त्रिपाठी ने इसकी तुलना सुरेंद्र शर्मा द्वारा लिखित नाटक के साथ करते हुए लिखा है— 'नियोग के मिथक का उपयोग सुरेंद्र वर्मा के नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में भी किया है और इस नाटक में भी, किंतु सुरेंद्र वर्मा के नाटक में व्यक्तिवादी धरातल पर मनोवैज्ञानिक गुथियाँ खुलती हैं, जबकि इस नाटक में मिथक के प्रयोग को वर्ग-संघर्ष और सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करने का माध्यम बनाया है।'³

जावेद अख्तर खाँ ने 'माधवी' और 'कर्त्तव्य दानव' इस लेख में लिखा है— माधवी की तुलना सिर्फ एक मिथकीय चरित्र के साथ की जा सकती है, वह है— महारथियों के बीच घिरा अभिमन्यु! माधवी इस अर्थ में अभिमन्यु से आगे है कि वह चक्रव्यूह तोड़कर निकल जाती है।⁴

यह नाटक मिथक के द्वारा ठोस यथार्थ तक ले जाता है और समाजिक सच्चाई का ज्ञान हमें कराता है।

रंग दे बसंती चोला : भीष्म जी के 'रंग दे बसंती चोला' नाटक में भारतीय इतिहास की एक क्रूर, नृशंस घटना को आधार बनाया गया है। वह घटना है— जलियाँवाला बाग हत्याकांड। भीष्म जी ने इस नाटक में दो परिवारों में, जिनमें राष्ट्रीय भावना जाग्रत है, उनके घर बैसाखी का पर्व मनाया जा रहा है, लेकिन तभी यह अमानवीय घटना घटित हो जाती है। इन दोनों परिवारों में से रतनदेवी के पति और बालक की हत्या हो जाती है। अत्यंत नाटकीयता के साथ लिखे इस नाटक के कारण उस दिन का प्रसंग हमारे सामने मानो साकार हो उठता है। इतिहास के मिथक को कल्पना के जरिए भीष्म साहनी जी ने इतना प्रत्यक्ष कर दिया है कि इसके बारे में कहा जा सकता है कि, सजीवता ही इस नाटक का प्राण है।'

आलमगीर : भीष्म साहनी का 'आलमगीर' नाटक औरंगजेब के जीवन की प्रमुखतम घटनाओं का चित्रण करता है। औरंगजेब आरंभ से ही एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आता है। उसकी महत्वाकांक्षा के कारण ही वह अपने आप से ज्यादा किसी को महत्त्व नहीं देता है। पहले अपने एक भाई को सहायता से वह दूसरे भाई एवं पिता पर आक्रमण करता है। दारा को भाग जाने पर विवश कर देता है। अपने ही पिता को वह कैद में डाल देता है। अन्य भाईयों को भी अपने झाँसे में लाता है और खुद 'आलमगीर' बन जाता है। इसमें उसकी बहन भी उसका साथ देती है। उसे कभी ऐसा प्रतीत भी नहीं होता कि वह ग़लत कर रहा है। हमेशा अपनी मनमानी करने वाले 'आलमगीर' औरंगजेब के जीवन को भीष्म जी ने एक अलग अंदाज़ में प्रस्तुत किया है। इन घटनाओं के बारे में ढेर सारे प्रमाण इकट्ठा किए हैं। इसी कारण उनकी भाषा में उर्दू शब्दों की अधिकता, वर्णनों की सजीवता दिखाई देती है।

इस प्रकार भीष्म साहनी जी ने अपने नाटकों में से चार नाटकों में ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथाओं को आधार बनाकर मिथक लाने का प्रयत्न किया है। केवल 'माधवी' नाटक में पौराणिक कथा का मिथक है। अन्य तीनों नाटकों—कबिरा खड़ा बाज़ार में, रंग दे बसंती चोला, आलमगीर में ऐतिहासिक कथावस्तु को आधार बनाया गया है। ऐतिहासिक नाटक को अत्यधिक सजीव बनाने का प्रयास किया गया है।

लोकनाट्य शैली का प्रयोग : भीष्म साहनी जी के नाटकों में से तीन नाटक ऐसे हैं,

जो लोकतांत्रिक हैं या लोक कथा पर आधृत हैं। इनके नाटकों में लोकनाट्य शैली के प्रयोग के संदर्भ में डॉ० सत्यवती त्रिपाठी जी लिखती हैं— भीष्म साहनी का 'हानूश' एक लोककथा पर आधारित सामाजिक यथार्थ का नाटक है। अपने दूसरे नाटक 'कबिरा खड़ा बाज़ार में' उन्होंने कबीर के जीवन-चरित्र के द्वारा भारतीय समाज में व्याप्त छद्म और पाखंड पर प्रहार किया है। उनका इसी वर्ष प्रकाशित नाटक 'माधवी' हिंदी-नाटक के इतिहास में एक विशिष्ट प्रयोग है। इसमें महाभारत के आख्यान के आधार पर स्त्री के शोषण की एक मार्मिक कथा प्रस्तुत की है।¹

भीष्म साहनी एक बार चेकोस्लोवाकिया गए थे। तब उन्होंने राजधानी प्राग में जो मीनार घड़ी देखी और उसके संबंध में अनेक किंवदंतियाँ सुनीं, तो उन्हीं लोककथाओं को आधार बनाकर 'हानूश' नाटक लिखा है। वह घड़ी प्राग में बनवाई गई पहली घड़ी थी और उसे बनानेवाले कारीगर को बादशाह ने कड़ी सज़ा दी थी इसी लोककथा को भीष्म जी ने आधार बनाया। इसमें 'हानूश' नामक व्यक्ति अपनी कारीगरी दिखाकर घड़ी तैयार करता है। चर्च और नगरपालिका के बीच विवाद होता है कि घड़ी कहाँ लगवाएँ? घड़ी नगरपालिका पर लगवानी है और लगवाई भी जाती है। परंतु उद्घाटन के लिए आए महाराज दूसरी बात सुन रुष्ट होते हैं और हानूश की आँखें निकालने का आदेश देते हैं। हानूश घड़ी की आवाज़ सुन-सुनकर जीने लगता है। एक दिन वह घड़ी बिगड़ जाती है और उसे घड़ी ठीक करने का आदेश दे दिया जाता है। हानूश घड़ी ठीक कर देता है और उसे सहयोग देने वाला जैकब वहाँ से भाग जाने में सफल होता है। जब पकड़ लेते हैं, तब यह जानकर कि घड़ी का राज़ ज़िंदा रहा, हानूश खुश हो गया। यह नाटक लोककथा को आधार बनाकर लिखा गया है, लेकिन इस नाटक में लोकनाट्य शैली का प्रयोग अधिक नहीं हुआ।

भीष्म जी का अंतिम नाटक 'फूजीयामा' एक रूसी लेखक के द्वारा लिखित नाटक का अनुवाद है। भीष्म जी की बेटे डॉ० कल्पना ने इसका अँग्रेज़ी में अनुवाद किया और भीष्म जी ने हिंदी में किया है। पात्रों के नाम, वातावरण, वर्णन आदि में भीष्म जी ने काफी सावधानी बरती है। भीष्म जी के नाटक लिखने के लगभग 13 साल बाद इसका मंचन हुआ, क्योंकि रूसी नाटक देखने के लिए दर्शक आएँगे या नहीं, इसके बारे में दिग्दर्शक आश्वस्त नहीं थे। लेकिन अब इस नाटक का अत्यंत सफल मंचन हुआ है।

शिल्प विधान : साहनी के सभी नाटकों का शिल्पविधान अत्यंत गरिमामय और सुंदर बन गया है। भाषा के विविध रूपों, पात्रानुकूल भाषा-प्रयोग, सूक्तियाँ अलंकार आदि ने भाषा-सौंदर्य को बढ़ाया है। अतः हम यह कह सकते हैं कि उनके नाटकों का शिल्पविधान ही उनके नाटकों की प्रतिष्ठा बढ़ाने में सहायक बन गया है।

संदर्भ

- 1 भीष्म साहनी, कबिरा खड़ा बाज़ार में, पृ० 14
- 2 वही, पृ० 9
- 3 डॉ० सत्यवती त्रिपाठी, आधुनिक हिंदी-नाटकों में प्रयोगधर्मिता, पृ० 85
- 4 संपा० नामवरसिंह, आलोचना-त्रैमासिक, जनवरी मार्च-1985, पृ० 84
- 5 डॉ० सत्यवती त्रिपाठी, आधुनिक हिंदी-नाटकों में प्रयोगधर्मिता, पृ० 38

विद्यापति-पदावली में श्रीकृष्ण एवं उनकी रसमाधुरी

रमाकर सिंह

विद्यापति को प्रकाश में लाने का मुख्यतः श्रेय सर जार्ज ग्रियर्सन को है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने सन् 1882 ई० में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के मुखपत्र के विशेषांक में मैथिल क्रैस्टोपेथी के नाम से 82 पद प्रकाशित कराए थे। पंडित शिवनंदन ठाकुर का कहना है कि तरौनी गाँव में विद्यापति-लिखित पदावली की एक खंडित पोथी प्राप्त हुई थी। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री भी एक प्रति नेपाल राज्य पुस्तकालय से लाए थे। इन दोनों पुस्तकों के आधार पर बाबू नगेंद्रनाथ गुप्त ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ सन् 1316 फसली में बंगाल में इसका संपादन किया।²

संस्कृत साहित्य में जैसे जयदेव शृंगाररस पूर्ण रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी तरह हिंदी में कोमलकांत पदावली लाने का श्रेय विद्यापति को है।³ विद्यापति रसिक कवि थे। कृष्ण का चित्रण उन्होंने रसिकेश्वर रूप में ही किया है। इन्होंने राधा-कृष्ण का पूर्ण शृंगारिक वर्णन किया है। जयदेव के 'गीतगोविंद' से विद्यापति पूर्ण प्रभावित दिखाई देते हैं। इनकी रचनाओं में सौंदर्य की गहरी अनुभूति दृष्टिगोचर होती है। उनके कृष्ण नवलकिशोर हैं और नए वृंदावन में नए खिले फूलों के मध्य विहार करते हैं। डा० श्यामसुंदर दास ने विद्यापति पर विष्णुस्वामी और निंबार्क का प्रभाव बताया है।⁴ विद्यापति ने अपने पदों में अपने भावों का स्रोत बहाया है। वे राधा-कृष्ण के रूप में निःसंकोच होकर, यहाँ तक कि अश्लीलता का डर त्यागकर, शृंगाररस से ओत-प्रोत हैं। विद्यापति ने सरस माधुर्यपूर्ण भाषा में शृंगारिक भावों की विमल धारा प्रवाहित की है।⁵ विद्यापति की कीर्ति का मुख्य आधार पदावली है। यह गीतों का एक संग्रह है और साहित्यिक शब्दावली में यह प्रगीत मुक्तक हैं। इसका विषय शुद्ध शृंगार है। विद्यापति की पदावली में कृष्ण और राधा शब्द किसी सांप्रदायिक रूप में प्रयुक्त नहीं किए गए हैं। वे केवल काल्पनिक प्रेमी और प्रेमिका के रूप में वर्णित हैं। महाकवि विद्यापति मध्यकाल के पहले ऐसे कवि हैं, जिनकी पदावली में जनभाषा में जनसंस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है। इनके पदों में प्रेम और सौंदर्य की अनुभूति की जैसी निश्छलता और अभिव्यक्ति की जैसी स्वच्छता है, वह अन्यत्र कम ही प्राप्य है।

मैथिली में विद्यापति की कृष्ण-भावना पर जयदेव के 'गीतगोविंद' का प्रभाव सर्वाधिक प्रतिबिंबित होता है। विद्यापति ने रूप और रंग, आकृति और प्रकृति, आश्रय और आलंबन इन दोनों दृष्टियों से 'गीतगोविंद' की काव्य-परंपरा में कृष्ण-चरित को अंगीकार किया और उन्होंने रसात्मक परंपरा को भक्तिकाल के माध्यम से रीतिकाल तक प्रवाहित किया। विद्यापति ने मूलतः मानवीय सौंदर्य के आग्रह से जनवाणी में इस काव्य-परंपरा का प्रवर्तन किया। विद्यापति ने अपनी पदावली में प्रतीक के रूप में कृष्ण-भक्ति को अंगीकार कर शृंगार के आश्रय और आलंबन

राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं के रस-मधुर गीत गाए। इनके कृष्ण और राधा का प्रेम प्रथम मिलनजन्य प्रेम है, बाल-साहचर्य-जनित प्रेम नहीं है। दोनों का प्रेम रास्ते पर चलते हुए अचानक हो जाता है। दोनों चंचल चितवन से एक-दूसरे को निहारते हैं, फिर दोनों के अंदर काम का पूर्ण संधान हो जाता है। वे दोनों एक-दूसरे को देखते ही अरुझा जाते हैं। विद्यापति ने शृंगार-शास्त्र के आधार पर कृष्ण-कथा का एक विचित्र महल खड़ा कर दिया है। विद्यापति ने राधा को कृष्ण से छोटा चित्रित किया है, कदाचित् इसके मूल में मिथिला के बाल-विवाह की प्रथा हो या कवि ने वयःसंधि की कल्पना के लिए इस तरह की योजना की हो। विद्यापति ने राधा और कृष्ण दोनों के नख-शिख का बड़ा सजीव वर्णन किया है। इनके द्वारा वर्णित कृष्ण की नागर छवि रूप भी दर्शनीय है। इन्होंने मानवीय प्रेम की समस्त दशाओं को कृष्ण-प्रेम में अभिव्यक्त किया है। यद्यपि कृष्ण अनेक प्रेमिकाओं के साथ रमण करने वाले हैं, फिर भी राधा के साथ उनका प्रेम अनन्य है। विद्यापति ने उनके इस प्रेम को भ्रमर-मालती का प्रेम कहा है। रस-क्रीड़ा में विद्यापति ने कहीं-कहीं कृष्ण का अति लंपट रूप भी चित्रित किया है। वे गोप-कन्याओं के साथ छेड़खानी करते हैं तथा उनकी राह रोककर रस लूटने का उपक्रम करते हैं। इस छेड़खानी का व्यवस्थित रूप नौका-लीला प्रसंग में मिलता है। राधा-कृष्ण के प्रसंगों में शारीरिक स्थूलता का अतिरेक है। प्रायः इसी कारण से इनके भक्त या शृंगारी कवि होने के विवाद को बल मिलता है।

विद्यापति ने जयदेव से प्रभावित होकर राधा-कृष्ण के प्रेम का बड़ा ही सुंदर चित्रण किया है। इनके राधा-कृष्ण-वर्णन में प्रेम है, काव्यत्व है और सहज स्वाभाविकता है। विद्यापति की राधा में विरहाधिक्य के कारण अपने आँसुओं को रोकने की शक्ति नहीं है। ऐसी दशा तो सामान्य विरहिणियों की भी होती है। विद्यापति नायिका की क्षीण कटि के स्तनभार से बचने के हेतु रोमावलि रूपी नीली रेशमी डोर से बँधे रहने की कल्पना के लिए नयनंदी तथा अन्य अपभ्रंश कवियों के ऋणी हैं।⁶ विद्यापति ने राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन का बड़ा ही भावपूर्ण वर्णन किया है। दोनों के नेत्रों के परस्पर मिलने से ही दोनों भाव-विभोर हो जाते हैं। राधा ने अनुपम सौंदर्य-राशि से नवनागर शिरोमणि कृष्ण को अपने वशीभूत कर लिया है। राधा सखियों से अपने प्रथम मिलन के अनुभव की बात चलाती है। इसके बाद मान की भी व्यवस्था की गई है। कृष्ण के शरीर पर अन्य युवती-प्रसंग के चिह्न देखकर राधा मान करती है। यह खंडिता का मान है। मान-प्रसंग में दूतियों ने बड़ी चतुरता दिखलाई है। इस मान के बाद राधा-कृष्ण का मिलन होता है। कृष्ण-राधा का अभिसार चलता है। कुछ दिन पश्चात् कृष्ण राधा से कहते हैं कि वे मथुरा जा रहे हैं। राधा विरहिणी हो जाती है। कुछ समय बाद कृष्ण-राधा-मिलन होता है। इस मिलन को कवि ने कहीं दैहिक दिखलाया है, कहीं स्वप्न मात्र (स्वप्न मिलन)। इस छोटे से कथानक में विद्यापति ने संयोग और विप्रलम्भ शृंगार के लगभग सभी प्रसंग अत्यंत सावधानी एवं चतुरता से सजा दिए हैं। विद्यापति ने केवल उन्हीं प्रसंगों को लिया है, जिन्हें काव्यशास्त्रियों ने शृंगाररस की पुष्टि के लिए आवश्यक समझा है। इनके काव्य में उद्धव का उल्लेख अवश्य होता है, परंतु उन्हें न ब्रज भेजा गया है और न ही उनके द्वारा ज्ञानोपदेश की चर्चा की गई है। हिंदी में विद्यापति की यह परिपाटी गृहीत नहीं हुई है, परंतु बंगाल के कवियों ने अठारहवीं शताब्दी तक कृष्ण-कथा को इसी रूप में अपनाया है।

विद्यापति पर जयदेव का स्पष्ट प्रभाव है। इन्होंने जयदेव की शृंगारिकता को स्वीकार

किया है। डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के विचारानुसार मध्यकाल के देशभाषा काव्य से यह प्रमाणित हो जाता है कि लोकसाहित्य गीत और गाथाओं के रूप में कृष्ण के असंख्य आख्यान समाज में पहले से चलते रहे होंगे। डॉ० वर्मा इसी लोक-परंपरा की देशभाषा में सबसे पहली साहित्यिक अभिव्यक्ति विद्यापति के मैथिल पदों को मानते हुए उसे कृष्णकाव्य की पहली रचना मानते हैं।⁷ ब्रजभाषा के कवियों के पहले से ही विद्यापति जनभाषा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी लीलाओं का गान कर रहे थे। वह एक साथ ही संस्कृत, अवहट्ट और लोकभाषा के निष्णात कवि थे। शैव होते हुए भी कृष्णकाव्य-परंपरा में उनका मुख्य स्थान है। आधुनिक भाषाओं में विद्यापति की पदावली कृष्ण-प्रेम की प्रथम रसधारा है। इनके कृष्ण पौराणिक अथवा परमब्रह्म की अपेक्षा लोकविश्वास के अनुरूप प्रेम के आगार हैं। पदावली में भक्ति की अपेक्षा शृंगार का प्राधान्य है। विद्यापति ने न केवल राधा-कृष्ण के मांसल सौंदर्य का विशद निरूपण किया है, अपितु उनकी कामकेलि का नग्न चित्रण भी किया है। इन पदों के केंद्र-बिंदु कृष्ण नहीं, राधा हैं। उनके नख-शिख, 'वयःसंधि', 'सद्यःस्नाता रूप', 'अभिसार', 'मान', 'मिलन' और वियोग आदि के वर्णन में कवि का ध्यान विशेष रूप से लगा है। पदावली में वर्णित कृष्ण भी शृंगाररस के नायक हैं, रस के आगार हैं और रीति विशारद हैं। वह रमणी-रमण हैं और राधा के अपूर्व सौंदर्य और अनर्वचनीय स्नेह में निमग्न हैं। कवि ने प्रेमोदय, पूर्वराग, नौका लीला, गोदोहन आदि के मनोरम चित्र उकेरे हैं। संयोग की विविध अवस्थाओं के वर्णन के साथ ही विद्यापति ने वियोग की अंतर्दशाओं का अत्यंत स्वाभाविक चित्रण किया है। यह विरह-वर्णन भी उभयपक्षीय है, सम है। राधा-कृष्ण दोनों एक-दूसरे के वियोग में दुःखी हैं।

डॉ० आनंदकुमार ने भक्ति के आवेश में विद्यापति के पदों को रूपक मानकर उन्हें ईश्वरोन्मुख बताया है।⁸ इसी आधार को लेकर विद्यापति की कबीर से तुलना की गई है। बाबू गुलाबराय ने विद्यापति के 'तन आभरन बसन भल भार' की दादू के 'विरहन सिंगार न भावइ' से तुलना की है।⁹ डॉ० विनयकुमार सरकार ने विद्यापति के पदों का आध्यात्मिक अर्थ लगानेवालों का घोर विरोध किया है— But the earthly elements the physical Beauty. The pleasures of sense are too many to be ignored.¹⁰

विद्यापति के काव्य में राधा का मांसल सौंदर्य अपने चरम पर है।¹¹ वास्तविक बात यह है कि राधिका की सारी चेष्टाओं के भीतर भगवान को संतुष्ट करने की भावना है। इनकी राधा वयःसंधि पर स्थित है। विद्यापति की राधा में प्रेम की प्रखरता न्यून और विलास की मात्रा अधिक है। विद्यापति की राधा में अधिक मांसल सौंदर्य और चंडीदास का उन्माद भी है। इनके राधा-कृष्ण एक सामान्य नायक-नायिका के रूप में उपस्थित होते हैं। यदि उनके ग्रंथ से राधा-कृष्ण का नाम हटा दिया जाए तो वह कोरा लौकिक काव्य ही रहेगा।¹² साधारणतः यह माना जाता रहा है कि विद्यापति से भी सूर अपनी काव्य-रचना में प्रभावित हैं, परंतु ऐसा नहीं है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह अभिमत व्यक्त किया कि विद्यापति के पदों ने ब्रजभाषा की कृष्ण कविताओं को शायद बहुत कम प्रभावित किया। इन्होंने राधा-कृष्ण-प्रसंगों को नवीन दृष्टिकोण से देखा है। इस दृष्टिकोण का आधार काव्यशास्त्र और राधा-कृष्ण में नायक-नायिका की कल्पना है। विद्यापति के संबंध में एक बात कही जा सकती है कि विद्यापति शैव थे, अतः इन्होंने शिव-संबंधी जो पद लिखे, वे तो भक्ति से ओत-प्रोत हैं, किंतु राधा और कृष्ण-संबंधी

जो पद हैं, इनमें भक्ति न होकर वासना है।¹³ यदि सूरदास के पदों को सुनकर महाप्रभु वल्लभाचार्य मंत्रमुग्ध हो गए तो विद्यापति के पदों को सुनकर चैतन्य महाप्रभु। प्रो० जनार्दन मिश्र लिखते हैं— विद्यापति के प्रचार का सबसे बड़ा कारण महाप्रभु हुए चैतन्य महाप्रभु बंगाल में वैष्णव संप्रदाय वे सबसे बड़े नेता हुए। इनके ललित और पवित्र भावनाओं से पूर्ण पदों को गाकर ये इस प्रकार भाव में निमग्न हो जाते थे कि इन्हें मूर्च्छा-सी आ जाती थी।¹⁴ बाबू गुलाबराय इसीलिए विद्यापति को सूर, नंददास आदि की पंक्ति में बैठाना उचित समझते हैं।¹⁵

विद्यापति ने राधा को यौवन-पथ पर सद्यःआरूढ़ चित्रित करके एक अभिनव सृष्टि की है। यह संपूर्ण कृष्ण-साहित्य में नवीन है। यह वह अवस्था है, जब राधा ऐसी आयु में है कि हम उसे बालिका नहीं कह सकते, परंतु तरुणी कहते हुए भी हिचकेंगे।¹⁶ राधा पहचानी नहीं जाती कि बालिका है या यौवन को प्राप्त हो गई है। पहले चरण चपल थे, दौड़ी-दौड़ी फिरती थी, अब नयन चपल हो गए हैं। विद्यापति के कृष्णकाव्य ने हमारे साहित्य-आलोचकों के सामने एक समस्यापूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं— 'आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने 'गीत गोविंद' के पदों में आध्यात्मिक संकेत बताया, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को'¹⁷ डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं— वासना-संबंधी पदों में जयदेव की शृंगार-भावना ने विद्यापति को बहुत अधिक प्रभावित किया है।¹⁸

संदर्भ

1. अंबादत्त, अपभ्रंश काव्य-परंपरा और विद्यापति, पृ० 522
2. पंडित शिवनंदन ठाकुर, महाकवि विद्यापति, पृ० 47
3. डॉ० शिखरचंद्र जैन, सूर : एक अध्ययन, पृ० 71
4. डॉ० श्यामसुंदर दास, हिंदीभाषा और साहित्य, पृ० 406
5. डॉ० शिखरचंद्र जैन, सूर : एक अध्ययन, पृ० 71
6. डॉ० रमाशंकर तिवारी, सूर का शृंगार-वर्णन, पृ० 356
7. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, हिंदी साहित्य कोश, पृ० 240
8. डॉ० आनंदकुमार, भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृ० 400
9. बाबू गुलाबराय, हिंदीकाव्य-विमर्श, पृ० 62
10. डॉ० विनयकुमार सरकार, लव इन हिंदू लिट्रेचर, पृ० 47-48
11. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० 183
12. डॉ० लक्ष्मीकांत वर्मा, सूर संहिता संदर्भ, पृ० 244
13. डॉ० रामकुमार वर्मा, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 506
14. प्रो० जनार्दन मिश्र, विद्यापति, पृ० 32
15. बाबू गुलाबराय, हिंदीकाव्य-विमर्श, पृ० 75
16. रामरतन भटनागर, विद्यापति एक अध्ययन, पृ० 27
17. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 71
18. डॉ० रामकुमार वर्मा, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 591

□ वार्ड नं० 05

हण्डिया टाउन एरिया, हण्डिया, इलाहाबाद (उ० प्र०)

‘गंगा से ग्लोमा तक’ में भारतीय-नॉर्वेजीय संस्कृति का अपूर्व संगम

डॉ० महेश ‘दिवाकर’, डी०लिट्०

बाँसुरी की ज़िंदगी से सीख ले, ऐ आदमी!
जख्म सीने में भले हों गुनगुनाना चाहिए।
मुस्कुराना चाहिए॥

किसी कवि की कविता की ये पंक्तियाँ प्रवासी भारतीय साहित्यकार श्री सुरेशचंद्र शुक्ल ‘शरद आलोक’ के व्यक्तित्व पर सटीक उतरती हैं। 10 फरवरी, सन् 1954 को भारत के प्रांत उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में जन्मे श्री सुरेशचंद्र शुक्ल विगत 30 वर्षों से नॉर्वे की राजधानी ओस्लो में रहते हैं। उनकी ख्याति ‘शरद आलोक’ के रूप में साहित्य-जगत् में व्याप्त है। आपने लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की है और ओस्लो विश्वविद्यालय से पत्रकारिता, नॉर्वे भाषा और साहित्य में उच्च शैक्षिक उपाधियाँ अर्जित कीं। यही नहीं, योरोपीय देशों में स्केन्डिनेवियन भाषा, साहित्य और पत्रकारिता की शिक्षा लेनेवाले कदाचित वे प्रथम भारतीय हैं। नॉर्वे में उनका स्थायी पता है— P.B.31, Veitvet, 0518, Oslo, Norway.

श्री ‘शरद आलोक’ नॉर्वे में ‘स्पाइल’ नामक पत्रिका के संपादक भी हैं और ओस्लो से निकलनेवाले एक बड़े साप्ताहिक पत्र ‘गुरुदालेन’ के उपसंपादक भी। मिलनसार, आत्मीय, हँसमुख स्वभाव के ‘शरद आलोक’ के व्यक्तित्व में सहजता, सरलता और सादगी जैसे दुर्लभ एवं श्रेष्ठ मानवीय गुण हैं। भावयित्री एवं कारयित्री काव्य-प्रतिभा के अनूठे संगम श्री ‘शरद आलोक’ ने हिन्दी काव्य के क्षेत्र में विविध विधाओं की कई कृतियाँ साहित्य को दी हैं। इनमें ‘वेदना’ (1976), ‘रजनी’ (1984), ‘नंगे पाँवों का सुख’ (1986), ‘दीप जो बुझते नहीं’ (1988), ‘संभावनाओं की तलाश’ (1993), ‘नीड़ में फँसे पंख’ (1999) सभी कविता-संग्रह और ‘अर्धरात्रि का सूरज’ (1996) तथा ‘सरहदों के पीछे’ (2011) दो कहानी-संग्रह हैं।

‘गंगा से ग्लोमा तक’ उनका सद्यः प्रकाशित काव्य-संग्रह है, जो सन् 2010 के अंत में विश्व पुस्तक प्रकाशन, नई दिल्ली-63 ने प्रकाशित किया है। 120 पृष्ठों की इस काव्यकृति का मूल्य 125 रुपए है।

भारतीय साहित्यकार डॉ० बालशौरी रेड्डी (चेन्नै) ने इसके प्रकाशन पर अपनी शुभकामनाएँ देते हुए ‘शरद आलोक’ को ‘भारतीय सांस्कृतिक दूत’ की संज्ञा से विभूषित किया है। ‘राष्ट्रकिंकर’, दिल्ली के संपादक डॉ० विनोद बब्बर ने ‘शरद आलोक’ को नॉर्वे में ‘भारतीय गुलाब’ की संज्ञा प्रदान की है तथा ‘गंगा से ग्लोमा तक’ काव्यकृति को दो देशों की संस्कृति का संगम भी कहा है।² यही नहीं, लखनऊ (उ०प्र०) के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार डॉ० रामाश्रय सविता ने ‘गंगा से ग्लोमा तक’ की भावभूमि शीर्षक से प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए

दो देशों की संस्कृतियों का संगम-स्थल माना है।³ स्वयं साहित्यकार 'शरद आलोक' ने 'गंगा से ग्लोमा तक' काव्यकृति के 'आमुख' में लिखा है- 'मेरा उद्देश्य दो देशों- मातृभूमि 'भारत' और प्रवासी देश नॉर्वे के मध्य सांस्कृतिक सेतु का जो कार्य मैं गत 30 वर्षों से कर रहा हूँ, उसे शब्द देना है। ... यदि अपने को श्रीकृष्ण और श्रीराम की संतान मानूँ तो भारत मेरे लिए देवकी माँ और नॉर्वे मेरी यशोदा माँ है।' ⁴ वस्तुतः 'शरद आलोक' का उपर्युक्त सहज वक्तव्य डॉ॰ बालशौरि रेड्डी, डॉ॰ बिनोद बब्बर और डॉ॰ रामाश्रय सविता के कथनों की संपुष्टि करता है। वस्तुतः इन साहित्यकारों के कथन 'शरद आलोक' को काव्य के क्षेत्र में एक असाधारण व्यक्तित्व के रूप में निरूपित करने हेतु यथेष्ट हैं।

काव्य-संवेदना की दृष्टि से 'गंगा से ग्लोमा तक' की रचनाएँ तीन उपखंडों में समाहित हैं- 'गंगा', 'ग्लोमा' और 'संगम'। 'गंगा' शीर्षक में 'शरद आलोक' की 19 कविताएँ हैं, 'ग्लोमा' के अंतर्गत 12 कविताएँ और 'संगम' में 23 कविताएँ हैं अर्थात् कुल 54 कविताएँ 'गंगा से ग्लोमा तक' के कलेवर में सँजोई गई हैं।

'गंगा से ग्लोमा तक' की रचनाओं में भारत और नॉर्वेजीय संस्कृति को प्रमुख रूप से उकेरा गया है। इन रचनाओं में प्रकृति, पर्यावरण, देश-प्रेम, राजनीति, अशिक्षा, यायावरी, आध्यात्मिकता, ग़रीबी, बेरोज़गारी, स्वतंत्रता-समता, सहअस्तित्व, अंतर्राष्ट्रीय शांति, आतंकवाद, जातीय व सांप्रदायिक वैमनस्य, दलित-उत्पीड़न, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, कदाचार, अज्ञान, बेमेल विवाह, बालकों के प्रति चिंता, वृद्धों के प्रति सम्मान, भिक्षावृत्ति, भूख, साहित्यकार का दायित्व, दीन-दुर्बल असहाय लोगों के प्रति दयाभाव, जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, शोर-प्रदूषण, सांस्कृतिक प्रदूषण, त्यौहारों की उपादेयता, कार्य की महत्ता, सद्भाव, मूल्यहीनता आदि बिंदुओं को अपनी संवेदना का आधार बनाते हुए एक समग्र विश्व-परिवार अर्थात् 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना की प्रतिष्ठा कवि शरद आलोक ने करनी चाही है। वे समग्रतः एक ऐसे विश्व परिवार का निर्माण करना चाहते हैं, जहाँ परस्पर प्यार हो, सद्भाव हो, किंतु भेदभाव का नाम नहीं हो, पारस्परिक सौहार्द्र हो, जो सत्य और अहिंसा, प्यार और स्वतंत्रता की मूल भित्तियों पर खड़ा हो। इसीलिए 'शरद आलोक' ऐसे विश्व के निर्माण में बाधक 'अज्ञान रूपी अंधकार' को हटाकर ज्ञान का दीप जलाना चाहते हैं। 'ज्ञान के दीप जलाते चलो' नामक उनकी कविता में यही भाव समाहित है-

सबसे बड़ा मानव-धर्म है
जीवन में सबसे बड़ा कर्म है
न कोई छोटा-बड़ा है यहाँ,
सभी बराबर यही मर्म है।

पग-पग में बिछे काँटे जहाँ,
रास्ते से उनको हटाते चलो।
छाया अँधेरा देखो जहाँ,
ज्ञान के दीपक जलाते चलो।⁵

इस रचना की एक-एक पंक्ति गहन संवेदना को आत्मसात किए हुए है। इस रचना में दिए

हुए बिंदुओं को ही यदि व्यवहार में ले लिया जाए, तो एक सुंदर, स्वस्थ और मानवता से युक्त कल्याणकारी विश्व की संरचना सहज ही हो जाएगी! ऐसी ही संवेदना 'अंधकार में दीप अनेकों' और 'शिक्षा के दीप जलाओ' भी हैं। कवि का आशावादी दृष्टिकोण देखें—

रामराज्य आया ही समझो
मिशन, दृष्टि कर्मठता होगी,
मन में सृजन पिपासा होगी
बनकर दीप तेज फैलाना।
मन-मंदिर में दीप जलाना।⁶

आज भारत ही नहीं, समग्र विश्व के लिए आतंकवाद कैसर की तरह लाइलाज बीमारी बन गई है। कवि इसे जड़ से खत्म कर देना चाहता है, क्योंकि यह प्रेम एवं सहानुभूति से भरे विश्व के निर्माण में घोर बाधक है। 'शांति के दीप जलाओ बंधु!' शीर्षक कविता में 'शरद आलोक' आतंकवाद के ख़ात्मे के लिए सभी का आह्वान करते हुए कहते हैं—

गांधी के देश में
हिंसा का तांडव बंद करो
अपनी माता के दूध की खातिर
आतंकी हमला ख़त्म करो।

जिनके घरों में न जले हों चूल्हे,
उनको दो रोटी और प्रेम,
घायल, पीड़ित हों जहाँ-जहाँ
उन्हें लगाओ मरहम बंधु!
अपने क़दम बढ़ाओ, बंधु!
शांति के दीप जलाओ, बंधु! ⁷

इसी संवेदना पर आधारित हैं 'युग पुरुष गांधी से'⁸, 'समय की शिला पर'⁹, उठाओ हाथ में मशाल'¹⁰ कविताएँ।

आज जिधर देखो, पर्यावरण पर गहरा ख़तरा मँडरा रहा है। विविध प्रकार के प्रदूषण ने मानव-जीवन को दुरूह बना दिया है। जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, ध्वनि-प्रदूषण और अपसंस्कृति का प्रदूषण तो मानव को समाप्त कर देने पर तुला है। 'सड़क पर पर्यावरण देवी'¹¹, 'लखनऊ में सर्दी है'¹² आदि कविताओं में 'शरद आलोक' की पर्यावरण-संबंधी चिंताएँ मर्मभेदी हैं।

'शरद आलोक' में हिंदी और हिंदुस्तान के प्रति अनन्य प्रेम है। वे हिंदी और हिंदुस्तान की सुरभि से समग्र विश्व को सुगंधित कर देना चाहते हैं। 'अंचल से अंतरिक्ष तक हिंदी'¹³ और 'स्वदेश-प्रेम'¹⁴, 'जीवन में पुण्य कमाएँ'¹⁵, 'उज्जैन की प्रभा'¹⁶ 'लखनऊ की चाशनी कहाँ गयी'¹⁷, 'भूला-बिसरा अमृतसर'¹⁸ आदि उनके देश-प्रेम को अभिव्यक्ति देती रचनाएँ हैं। यथा— 'स्वदेश प्रेम' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखें—

रोम-रोम में बसता है
अनुपम यह देश हमारा।

जिसकी मधुमय यादों में
पुलकित तन-मन हो सारा।

जब मातृभूमि जाता हूँ
है नव स्फूर्ति भर जाती।
प्रेरक स्रोत माँ मेरी,
संग-संग मेरे आती।¹⁹

और-

अपने देश में सब-कुछ रखा, ज्ञान और विज्ञान
लौटो अपना देश बुलाता, छोड़ो प्रवास का ध्यान।²⁰

‘शरद आलोक’ ने राजनीतिक विद्रूपता, अवसरवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद, भ्रष्टाचार और शोषण को लेकर भी इस संग्रह में कई कविताएँ लिखी हैं। ये हैं- ‘राजनीति और लेखनी’²¹, ‘भेदभाव मिटाओ बंधु!’²² और ‘अमेरिका, खुली हवा में’²³ आदि में राजनीतिक प्रदूषण पर कुठाराघात किया है। ‘राजनीति और लेखनी’ शीर्षक कविता से ये पंक्तियाँ देखें-

राजनीति तो समझ आती नहीं,
प्रेम के गीत वह गाती नहीं,
राजनीति व्यक्त करने के लिए
लेखनी-सा अस्त्र दूजा है नहीं।²⁴

और-

गांधी-सी मशाल जलाओ
राजनीति से सेवा-भाव से
पहले हृदय में दीप जलाओ।²⁵

वस्तुतः कवि राजनीति में गांधी जी की विचारधारा का प्रबल समर्थक है, जिसके द्वारा राजनीतिक क्षेत्र से प्रदूषण को समाप्त किया जा सकता है।

कवि मानव-जीवन में समता, समानता, न्याय, सहअस्तित्व, स्वतंत्रता जैसे नए मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा का समर्थक है। ‘आकलन’ नामक रचना में कवि का यही व्यापक दृष्टिकोण देखा जा सकता है-

समानता नहीं हो, वहाँ न्याय नहीं है,
मानवता जहाँ नहीं, वह धर्म ही नहीं है।²⁶

नारी के प्रति कवि के मन में असीम सम्मान का भाव है, तभी तो कवि कहता है-

नारी को धन समझकर युवतियों को पीटते हैं।

दहेज के बहाने मानव को लूटते हैं।

जिसको पिलाया दूध वह नाग बन गए हैं।

कोख अपनी माँ की बदनाम कर रहे हैं।²⁷

कवि विगत 30 वर्षों से नॉर्वे में रह रहा है। उसने अनेकशः योरोपीय देशों की यात्रा की है। नॉर्वे की संस्कृति, सभ्यता और भाषा व साहित्य के प्रति उसके मन में अपार श्रद्धा और प्रेम का भाव निहित है। उसकी ऐसी रचनाओं में उल्लेखनीय हैं- ‘प्रवासी युवती का पत्र

नॉर्वे के नाम' ²⁸, 'आकेर नदी के तट पर' ²⁹, 'बेरोजगारों का दर्द' ³⁰, 'तुम भी आओ ओस्लो की सैर पर' ³¹, 'बर्फ़ीला मौसम' ³², 'शरदोत्सव' ³³ आदि रचनाएँ नॉर्वे के प्राकृतिक सौंदर्य के भी दर्शन कराती हैं। कवि के मन में प्रकृति के प्रति भी असीम प्यार है। प्राकृतिक सौंदर्य को देखकर उसका मन खिंचा चला आता है। मन अभिभूत हो जाता है। भारत और नॉर्वे के प्राकृतिक स्थल उसके रोम-रोम को रोमांचित करते हैं। कवि के प्रकृति-प्रेम की रचना 'आकुल वसंत' का यह स्थल देखें—

महुआ महके
फूल उठे आमों के बौर
खिलते हैं कचनार और कनेर
पीले-पीले सरसों के फूलों ने
खेतों के पीले किए हाथ बंधु। ³⁴

और—

ओ! वसंत तुम्हारा नहीं है जवाब
बर्फ़ीला मौसम, बिहँसते गुलाब। ³⁵

इसी प्रकार—

बरखा की लेकर बारात,
डोली उठाए मेघा कहार,
बदरा गरजे, बिजुरी चमके,
रिमझिम-रिमझिम फुहार
दादुर लगाए गुहार। ³⁶

'शरदोत्सव' नामक कविता में प्रकृति का एक अनन्य चित्र देखें—

चहुँ ओर बर्फ़बारी होती
तुहिन कणों से भर जाता है
घाटी, पर्वत-मालाओं पर
चहुँ ओर उजाला भर जाता है। ³⁷

संक्षेप में, कविवर 'शरद आलोक' ने अपनी रचनाओं में प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र अंकित किए हैं। प्रकृति अपने विविध रूपों में उनके काव्य की प्रेरिका बनकर आई है। कहीं वह आलंबन रूप में आई है, तो कहीं उद्दीपन रूप में और कहीं उसका मानवीकरण रूप मन को लुभाता है। हाँ, कवि ने प्रकृति के मनोरम चित्रों को ही अधिक प्रस्तुत किया है। प्रकृति के रौद्र अथवा वीभत्स रूप को 'शरद आलोक' ने प्रस्तुत नहीं किया है।

'शरद आलोक' ने समकालीन परिवेश को भी यथार्थ अभिव्यक्ति दी है। 'सड़क पर विचरते देवदूत' नामक रचना की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

खींचते ठेलों के पहियों में
चीथड़ों से बँधी धुरी
बादलों के साथ-साथ दौड़ते
विश्वास की लिए गगरी

खुले मुख, जिह्वा कर रही नर्तन
मनुष्य समझता जीवन रेगिस्तान
मीन-सा श्वास-श्वास चल रहा
दौड़ते बच्चों की कतार से
जन्म ले रहा मनुष्य और भविष्य।³⁸

इसी प्रकार 'यह वह सूरज नहीं' रचना में आज के जीवन का यथार्थ भी देखें—
ये अनगिनत सूरज (बालक-बालिकाएँ)
जो निर्धन देशों में
नंगे पाँवों सड़कों की गर्म देह पर
भीषण वर्षा में टूटी छतों के नीचे
जाड़े में ठिठुरते हुए
हँसते, गाते, रोते, चिल्लाते
दिन में समाज को
ऊष्मा से बचाते हुए
रात का पहरा देते हैं।³⁹

इसी प्रकार, 'नयी दस्तक'⁴⁰ नामक रचना में कवि ने समकालीन यथार्थ को उजागर करने के साथ-साथ आम आदमी का आह्वान भी किया है कि वे परिवर्तन के लिए आगे आएँ—
नया विद्रोही
बजा, उठा बिगुल
पुनः धर्म-पथ पर
एक नई आजादी का
शंखनाद आज
मौन बैठे रचनाकार
दल से दल-दल में?
क़ानून जब ढीला हो
शासन अस्वस्थ बदल दो
चुनो ईमानदार नेतृत्व।⁴¹

'नयी दस्तक' आदि से लेकर अंत तक एक क्रान्तिकारी नई कविता है, जो हमें शोषण, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार के विरुद्ध एकजुट होकर खड़े हो जाने और युग परिवर्तन करने की प्रेरणा देती है। 'शरद आलोक' ऐसी रचनाओं के सृजन के लिए सदैव स्मरण किए जाएँगे।

कुल मिलाकर, 'गंगा से ग्लोमा तक' की समग्र रचनाएँ वैश्विक क्रांति की रचनाएँ हैं। कवि ने उन तमाम बिंदुओं को भी अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है, जिनके कारण आदर्श परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व-संरचना की भावना धूमिल होती जा रही है। आम आदमी की आजादी का सपना चकनाचूर होता जा रहा है। आतंकवाद, नस्लवाद, सांप्रदायिक वितण्डावाद, पूँजीवादी और साम्यवादी कलह आदि विसंगतियाँ विश्वमानवता के रक्त को चूस रही हैं, जिसके कारण अखंड वैश्विक शांति का सपना केवल सपना ही बनकर रह गया है। ऐसे में 'शरद

आलोक' जैसे प्रवासी भारतीय साहित्यकार की रचनाएँ मन को धैर्य और विश्वास की डोर से बाँधती प्रतीत होती हैं और एक सुंदर एवं स्वस्थ विश्व की संरचना का संदेश सुनाती हैं।

अस्तु 'गंगा से ग्लोमा तक' की रचनाएँ भावपक्षीय दृष्टि से बहुआयामी सफल तथा प्रभावी रचनाएँ हैं। कवि ने अपनी अनुभूतियों को संप्रेषित करने हेतु आम बोलवाल की हिंदी को चुना है, जिसमें यथास्थान तत्सम, तद्भव और देशज शब्दावली ने उपस्थित होकर उनके अभिव्यक्ति-कौशल को चार-चाँद लगा दिए हैं। उनकी इन रचनाओं में भाषा एवं शिल्पगत सरलता, सहजता, प्रभविष्णुता, सरसता, ओज, प्रसाद, माधुर्य, चित्रात्मकता, प्रतीकात्मकता, बिंबात्मकता और आलंकारिकता के गुण विद्यमान हैं। अपनी भाषा को प्रभावी बनाने के लिए उन्होंने लोकोक्तियों, कहावतों और मुहावरों का भी यथास्थान सहज एवं स्वाभाविक प्रयोग किया है। भाषा उनके भावों की अनुगामिनी बनकर आई है। अलंकारों और प्रतीकों के पीछे वे दौड़े नहीं हैं, अपितु अनेकशः शब्दालंकार और अर्थालंकार अनायास उनकी रचनाओं में आकर शामिल हो गए हैं। उनका बिंबविधान और प्रतीक-विधान वैविध्यपूर्ण है। कुल मिलाकर 'शरद आलोक' ने अपनी काव्यभाषा को वह स्वरूप प्रदान किया है, जिसके कारण ये रचनाएँ सहज संप्रेषणी हो गई हैं। निस्संदेह, 'शरद आलोक' यथानाम तथागुण को चरितार्थ करनेवाले महान रचनाकार हैं। हिंदी साहित्य में उनका योगदान सदैव अमर रहेगा। अभी वे निरंतर काव्य-सृजन में रत हैं और भारतीय संस्कृति की पताका को पाश्चात्य जगत् में लहराते हुए प्रेरणा के स्रोत बने हैं। उनमें अपार संभावनाएँ छुपी हैं, जिनको अभी आलोकित होना है।

संदर्भ

1. गंगा से ग्लोमा तक, पृ० 11
2. उपरिवत्, पृ० 12
3. उपरिवत्, पृ० 13
4. उपरिवत्, पृ० 8
5. उपरिवत्, पृ० 79
6. उपरिवत्, पृ० 84
7. उपरिवत्, पृ० 92
8. उपरिवत्, पृ० 93
9. उपरिवत्, पृ० 98
10. उपरिवत्, पृ० 48
11. उपरिवत्, पृ० 20
12. उपरिवत्, पृ० 36
13. उपरिवत्, पृ० 70
14. उपरिवत्, पृ० 102
15. उपरिवत्, पृ० 107
16. उपरिवत्, पृ० 43
17. उपरिवत्, पृ० 34
18. उपरिवत्, पृ० 33

19. उपरिखत्, पृ० 102
20. उपरिखत्, पृ० 88
21. उपरिखत्, पृ० 28
22. उपरिखत्, पृ० 45
23. उपरिखत्, पृ० 61
24. उपरिखत्, पृ० 28
25. उपरिखत्, पृ० 46
26. उपरिखत्, पृ० 51
27. उपरिखत्, पृ० 51-52
28. उपरिखत्, पृ० 55
29. उपरिखत्, पृ० 57
30. उपरिखत्, पृ० 59
31. उपरिखत्, पृ० 73
32. उपरिखत्, पृ० 66
33. उपरिखत्, पृ० 69
34. उपरिखत्, पृ० 17
35. उपरिखत्, पृ० 67
36. उपरिखत्, पृ० 83
37. उपरिखत्, पृ० 69
38. उपरिखत्, पृ० 18
39. उपरिखत्, पृ० 23
40. उपरिखत्, पृ० 112
41. उपरिखत्, पृ० 114

□ अध्यक्ष एवं एसोशिएट प्रोफेसर हिंदी विभाग,
गुलाबसिंह हिंदू स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
चांदपुर-स्याऊ (बिजनौर) उ०प्र०

नारी-अस्मिता और उसके औदात्य की पूर्व पीठिका

शशिप्रभा, शोधछात्रा

डॉ० उमाशंकर तिवारी, शोध निदेशक

रीडर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग (सेवानिवृत्त),

डी०सी०एस०के०पी०जी० कालेज, मऊ (उ०प्र०)

साहित्य में सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया से निर्मित अस्मिता की केवल अभिव्यक्ति ही नहीं होती है, कई बार साहित्य में अस्मिता की खोज, पहचान और समझ की पहल भी होती है, इसलिए भारतीय समाज में स्त्री की अस्मिता की खोज करनेवाली दृष्टि के लिए समाज और साहित्य दोनों की विवेकयात्रा ज़रूरी है। नारी की अस्मिता का सवाल केवल साहित्य तक सीमित नहीं है। स्त्री की अस्मिता मूलतः उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति से बनती है। भारत जैसे उत्तर औपनिवेशिक समाज में नारी की अस्मिता को बनाने-बिगाड़ने में कई तरह के दबाव काम करते हैं। फिर भारतीय समाज की संरचना में स्त्री की अस्मिता, धर्म, समुदाय, जाति, वर्ग और लिंग-संबंधी वास्तविकताओं तथा विचारधाराओं से प्रभावित होती है। इसलिए इनमें से किसी एक के आधार पर स्त्री की स्थिति या अस्मिता को समझने की कोशिश प्रायः अधूरी या असफल होती है। एक अमीर सवर्ण हिंदू स्त्री की अस्मिता का संकट वही नहीं है जो एक गरीब हिन्दू दलित स्त्री का है या फिर एक गरीब मुसलमान औरत का। यह ठीक है कि स्त्री के रूप में पुरुष-प्रभुत्व का शिकार सभी स्त्रियाँ होती हैं, लेकिन वर्ग, वर्ण और समुदाय की भिन्नता से उनके शोषण की प्रक्रिया में भी भिन्नता होती है। ऐसी स्थिति में भारतीय स्त्रियों की अस्मिता की समझ के लिए केवल साहित्य तक सीमित समालोचना समर्थ नहीं होती। साथ ही यह भी ध्यान में रखना ज़रूरी है कि साहित्य में सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया से निर्मित अस्मिता की केवल अभिव्यक्ति ही नहीं होती, जैसा कि प्रायः समझा जाता है। कई बार साहित्य में अस्मिता की खोज, पहचान और समझ की पहल भी होती है। इसलिए भारतीय समाज में स्त्री की अस्मिता की खोज करनेवाली दृष्टि के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह नारी-जाति के उत्थन के लिए हरसंभव प्रयास करे।

समालोचना की स्त्री-दृष्टि से विकास का पहला प्रयोजन स्त्री द्वारा अपनी अस्मिता की पहचान है तो दूसरा प्रयोजन पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष-प्रभुत्व का बोध और फिर उसका विरोध है। स्त्री-दृष्टि के विकास की यह अवस्था भारत जैसे समाज में अत्यंत कठिन है क्योंकि यहाँ पुरुष-प्रभुत्व का इतिहास अत्यन्त लंबा है। यहाँ पुरुष प्रभुत्व की व्यवस्था में अनेक सामाजिक परिवर्तनों के बावजूद स्त्री की पराधीनता की शृंखला की कड़ियाँ कमजोर नहीं हुई हैं।

वे कड़ियाँ इतनी पुरानी हैं कि अधिकांश स्त्रियों को उनके बंधन का बोध नहीं होता और कुछ तो वे कड़ियाँ आभूषण लगती हैं। लेकिन यह मानना होगा कि अब धीरे-धीरे हिंदी में रचना के स्तर पर पुरुष-प्रभुत्व की पहचान और उसके विरुद्ध विद्रोह की चेतना व्यक्त हो रही है।

सभ्य समाज में मौजूद अनौचित्यपूर्ण और अन्यायपूर्ण व्यवस्था पर जिसमें स्त्री-पुरुष का संबंध भी शामिल है, जॉन स्टुवर्ट मिल की धारणा है कि 'पूर्व स्थापित व्यवस्था में ऐसी ही शक्ति होती है, चाहे वह बिल्कुल ही सार्वभौमिक न हो और चाहे इतिहास के लगभग हर युग में उससे विपरीत बेहतर व्यवस्था के महान व सुविख्यात उदाहरण हों, लेकिन वह हमेशा सबसे प्रतिष्ठित व समृद्ध समुदायों में पाई जाती है। इस स्थिति में भी अत्यधिक सत्ता का स्वामी और प्रत्यक्षतः उसमें रुचि रखनेवाला व्यक्ति सिर्फ़ एक होता है, जबकि जो शिकार होते हैं, इसे भुगतते हैं, वे शब्दशः शेष सभी होते हैं। पराधीनता स्वाभाविक व आवश्यक रूप से सभी लोगों के लिए अपमानजनक होती है, सिवाय उस व्यक्ति के, जो शामतक है या ज्यादा से ज्यादा उस व्यक्ति के लिए, जिसे गद्दी का उत्तराधिकारी बनने की उम्मीद है। यह स्थिति स्त्री पर पुरुष की सत्ता से कितनी भिन्न है।' मिल यहाँ साफ़ कहते हैं कि सत्ता से चाहे किसी वर्ग या समुदाय के कुछ लोगों का हित भले ही छुपा हो, किन्तु स्त्री के संदर्भ में यह पुरुष-वर्ग में आम है। कुछ लोगों का ख्याल है कि इस देश में स्त्रियों को अपने मन के अनुसार रहने और छोटे-मोटे काम करने की न कभी स्वतंत्रता थी और न अब होनी चाहिए। इस अनुमान को पुष्ट करने के लिए वे मनु महाराज को दुहाई देते हैं। वे कहते हैं, मनुस्मृति में लिखा है—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तारि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतंत्रताम्।
बालया वा युवत्या वा वृद्धाया वापि योपिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहणवपि।

अर्थात् स्त्री को स्वतंत्रतापूर्वक घर में भी कोई कार्य नहीं करना चाहिए। उसे सदैव पिता पुत्र या पति के वशीभूत होकर रहना चाहिए। स्पष्ट बात यह है कि हर तरफ़ की स्वाधीनता की कुछ सीमा अवश्य होनी चाहिए। स्त्रियाँ स्वभाव से ही सुकुमार होती हैं। महान विप्लव ही हर एक सुधार का मूल है। स्त्रियाँ, उन विप्लवों के साथ-साथ अधिकार-संबंधी जैसे-जैसे परिवर्तन होते गए, वैसे-वैसे अपना पूर्वरूप बदलती गईं। विज्ञान के आरंभिक काल तक स्त्रियों में शिक्षा तथा विलास ही प्रधान था। साहित्य में प्रेमिका, सुकुमारी, सुंदरी के भावनाजन्य चित्रों को परिपूर्णता के साथ खोलना ही कमाल था और स्त्रियों की तत्कालीन स्थिति की परिचायिका शेक्सपियर की एक ही नायिका ज़रा वकालत कर देती है, जो उस समय को देखते हुए वहाँ के स्त्रियों का आदर्श उत्कर्ष है, पर आज के नाटकों में स्त्रियाँ पुरुषों की तरह प्रत्येक विभाग में अभिनेत्री की हैसियत से आती हैं। यह परिवर्तन बिल्कुल अस्वाभाविक नहीं है। अतः स्पष्ट है कि नारी को पुरुषों के ही समान अधिकार और सम्मान आवश्यक है।

समाज वास्तव में मानव-संबंधों की सामंजस्यपूर्ण स्थिति की संज्ञा है। अतः संबंधों के स्वस्थ रूपों पर ही समाज का स्वास्थ्य निर्भर करता है। अस्वस्थ समाज का राष्ट्र सबसे क्रूर शत्रु है। आर्थिक दृष्टि से आज की नारी जो स्वतंत्रता प्राप्त हुई है, उसके विस्तार की असंख्य संभावनाएँ हैं। जैसे-जैसे उसके कर्मक्षेत्र की लक्ष्मणरेखा मिटती जाती है, वैसे-वैसे वह

नवीन कर्तव्य सँभालने की क्षमता प्राप्त करती जाती है। पर समाज की स्थिति के कारण यह आर्थिक स्वावलंबन भारतीय स्त्री को पारिवारिक सहानुभूति से वंचित कर अकेला करता जाता है। पुरुष अकेला हो सकता है, परंतु स्त्री अनेक संबंधों का केंद्र होने के कारण एक संस्था के समान है। इस संबंध में पश्चिम की नारी का जीवन भी दृष्टव्य है। उसके पास शिक्षा है, स्वतंत्र जीवन है, विस्तृत कर्मक्षेत्र है, किंतु गृह की इकाई टूट गई है और इस टूटने की रिक्तता ने उसके मनोबल को भी तोड़ दिया है। आज वह जिस आत्मघाती उन्माद में क्रियाशील है, वह मानसिक क्रियाशीलता का परिणाम है। नवीन युग की भारतीय नारी भी इस भार का अनुभव कर रही है, जो बाहर से हर क्षण को भरकर भीतर की हर साँस को खाली कर देता है। समाज के अनेक संबंधों का केंद्र होने के कारण भारतीय नारी और विशेषतः नवीन पीढ़ी की नारी में जो अस्थिरता उत्पन्न हुई, उसने अतीत से चली आई अनेक मान्यताओं को खंडित कर दिया है और अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। ये समस्याएँ जीवन के अनेक क्षेत्रों से संबंध रखने पर भी उद्गम की दृष्टि से एक हैं।

राजनीतिक दृष्टि से भारत की नारी अधिक अधिकार-संपन्न है। यहाँ नारी ने अपने वर्गगत अधिकारों के लिए संघर्ष न करके संपूर्ण देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया। प्रथम मुक्ति-संग्राम की सेनानी लक्ष्मीबाई सशस्त्र क्रांति की अनेक जानी-अनजानी क्रांतिकारिणियाँ, आजाद हिंद सेना की नारी सैनिकाएँ तथा द्वितीय स्वतंत्र आंदोलन की नेत्रियाँ सबका संघर्ष तथा आत्मोत्सर्ग संपूर्ण देश की मुक्ति के लिए था, जिसके कारण नारी को वर्गगत महत्ता के स्थान पर राष्ट्रगत प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी।

नवीन युग में सब देशों की प्रबुद्ध नारियों ने जो विकास किया है, उसमें भारत की नारी का भी महत्वपूर्ण योगदान है। जैसे भिन्न-भिन्न पर्वतों से निकलने वाली नदियाँ भी अपने-अपने मार्ग से बहती हुई एक ही समुद्र में मिलती हैं, वैसे ही विश्व के छोटे-बड़े देशों की नारियाँ अपने-अपने देशों की सांस्कृतिक विशेषताओं के साथ एक विकास का लक्ष्य रखती हैं। समाज का कोमल पक्ष होने के कारण उन्हें विकास के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं, परंतु उन्होंने अपना स्वत्व प्राप्त करने का संकल्प नहीं छोड़ा। संघर्ष में उन्होंने कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी प्राप्त कर ली; जिनसे समाज अपरिचित रहा है। इनमें मुख्य शारीरिक बल की दृष्टि से पुरुष से दुर्बल है। प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों की समानता करके उसने प्रमाणित कर दिया है कि उक्त धारणा के मूल में कोई तथ्य नहीं है। विश्व में जिन्हें साहसिक कार्य कहा जाता है, उनमें भी आज की नारी पुरुष की प्रतियोगिनी है। पर्वतारोहण का कार्य अब तक केवल पुरुषों में विशेष साहसियों को ही आकर्षित करता था। आज हिम से ढके पर्वतशिखरों का अभियान, कोमलकांत शरीर वाली युवतियों का मानो मनोरंजन हो गया है। भविष्य में साहसिक कार्यों के अधिकारी केवल पुरुष न माने जाएँगे। तैराकी, खेलकूद, अस्त्र-संचालन, लक्ष्य-भेद आदि की प्रतियोगिताओं में स्त्रियाँ भाग ले रही हैं और सफल भी हो रही हैं। इन विशेष कार्यों के अतिरिक्त नागरिक सेवा के क्षेत्र में भी स्त्रियों की संख्या बढ़ी है। जिन उच्च पदों के लिए प्रतियोगिताएँ हो रही हैं, उनमें स्त्रियाँ सफलतापूर्वक प्रदर्शन करती हुई अपने लक्ष्य को प्राप्त कर रही हैं। मनुष्य की बाह्य स्वतंत्रता उसकी शक्तियों को किस सीमा तक मुक्त कर सकती हैं, इसका प्रमाण हमारे समाज की स्त्री है।

सामाजिक जीवन में नारी की स्थिति सदैव विरोधाभास से युक्त रही है। एक तरफ़ प्रशंसा के पुलिंदे बाँधे जाते हैं तो दूसरी तरफ़ हीन भावना से उसकी तरफ़ देखा जाता है। पौराणिक वाङ्मय के उदाहरण नारी को सृष्टि तथा सामाजिक संतुलन का कारणभूत आवश्यक अंग मानते हैं। साहित्य तो स्त्रियों की प्रशंसा से परिपूर्ण है तथा यह भी कहा जाता है कि स्त्री-मुख सदा पवित्र होता है। स्त्रियों की यह प्रतिष्ठा उसके श्रेष्ठ गुणों के कारण है, इसलिए गुणवती स्त्रियाँ भू-मंडल का अलंकार समझी जाती हैं।

4. नारी-पराधीनता की संस्थिति और नारी मुक्ति-चेतना-

भारतीय समाज में स्त्री-जाति का सदियों से शोषण होता आया है और यदि कहीं समाज में उसकी स्थिति को सम्माननीय स्थान दिया भी जाय तो पुरुष ने अहम की संतुष्टि तथा अपनी उदारता को प्रदर्शित करने के लिए नारी के अधिकारों की वकालत की है। पुरुष-शासित समाज में नारी की दासता का वर्णन करते हुए महादेवी वर्मा ने कहा है- 'साधारण रूप में वैभव के साधन ही नहीं, मुट्ठी-भर अन्य भी स्त्री के जीवन से भारी ठहरता है।'¹² जहाँ तक भारतीय नारी की स्थिति का प्रश्न है, प्राचीनकाल से ही उसकी शक्ति पुरुष की तुलना में सीमित रही है। सदियों से पुरुष ने नारी को यह मूल पाठ पढ़ाने का प्रयत्न किया है कि उसका काम दूसरे के लिए जीना है। मानसिक स्तर पर नारी को भावना-विहीन करके पुरुष ने अपनी इच्छानुसार जब चाहा उसे 'देवी' के सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया और जब चाहा उसे 'नरक का द्वार' घोषित करते हुए उसके संसर्ग से दूर रहने को प्रेरित करते रहे। इस तरह का दोहरा मानदंड अपनाना हमारा सार्वकालिक चारित्रिक गुण बन गया है। यह हमारे समाज की विडंबना ही है कि एक तरफ़ तो हम नारी में दया, ममता, त्याग, सहनशीलता, धैर्य आदि मानवोचित गुणों को प्रतिष्ठित करते हुए उसे पूज्या मानते हैं, दूसरी तरफ़ सभी मानवाधिकारों का उपभोग सिर्फ़ पुरुषवर्ग करता है। पौराणिक आख्यानों का सहारा लेकर पुरुषों ने नारी को सभी अधिकारों से वंचित कर दिया। परिवार तथा पति के कल्याण के लिए नारी ने अपने अस्तित्व को भी तिलांजलि दे दी।

'यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते, रमन्ते तत्र देवता।' की उद्घोषणा करनेवाले भारतीय समाज की विधान-संहिता के जनक महर्षि मनु ने नारी के ऊपर अनेक प्रतिबंध लगा दिए, जिसका अत्यंत वीभत्स रूप मध्यकाल में मुस्लिम शासनकाल के समय सामने आता है। मुग़ल शासनकाल सामान्य रूप से कला और ऐश्वर्य का काल था। युद्धभूमि से थके हृदयों की शांति और सुख की खोज का काल था। इस भावना की पूर्ति का साधन नारी बनी। वह पुरुष के मनोरंजन और तृप्ति के साधन के रूप में उपस्थित हुई। वैभव-विलास के निर्बाध प्रवाह से साहित्य भी अछूता नहीं रहा। कविगण नारी की विलासिता एवं प्रकृति का उत्तेजनापूर्ण विवरण प्रस्तुत करने लगे और अनेक रूपों में नारी के शारीरिक सौंदर्य की भंगिमाओं का लोकरंजक निरूपण भी आरंभ हो गया, जिसमें उसका उपभोग रूप ही प्राधान्य रहा। नारी के रूप-चित्रण में उनकी कल्पना, वर्णनात्मक प्रतिभा और रसपूर्ण दृष्टि उसके शरीर की मांसलता और कमनीयता पर ही फिसल गई। इस प्रकार वैदिक कालीन नारी जो सम्मानपूर्ण पद पर प्रस्थापित हो, पुरुष की सहयोगिनी और प्रेरणा की स्रोत थी, जिसको धार्मिक क्षेत्र में स्वतंत्रता प्राप्त थी और जिसकी वैयक्तिकता पुरुषों द्वारा मान्य थी, आगे चलकर रीतिकाल तक आते-आते युग की अनेक

कुरीतियों के विस्तार में अपनी इस स्थिति को बनाए रखने में विफल हो गई।

मध्यकाल में अनेक परिवर्तन हुए। स्त्रियों के विवाह की आयु घटते-घटते आठ-नौ वर्ष रह गई, जिसके फलस्वरूप स्त्रियाँ बचपन से ही घर-गृहस्थी के कार्यों में लीन होने लगीं। उनके जीवन का कार्य-क्षेत्र सिमटकर घर तक ही रह गया। बौद्धकाल में स्त्रियों की दशा में पतन के लक्षण दिखाई देने लगे थे और मध्ययुग आते-आते उनकी स्थिति और दयनीय हो गई। उच्चवर्गीय हिंदू-समाज में स्त्री-शिक्षा का प्रचार था, जबकि निम्नवर्ग में शिक्षा का अभाव था। मुसलमान शासकों से अपने सतीत्व की रक्षा के लिए राजपूत स्त्रियाँ जौहर करती थीं और उनका जौहर विश्व में अनोखे ढंग का बलिदान समझा जाता है। पद्मिनी का जौहर इतिहास-प्रसिद्ध है। मध्यकाल में स्त्रियों की सीमा घर तथा परिवार की चहारदीवारी बन गई और उनके समस्त अधिकार प्रायः समाप्त होते चले गए।

(क) नारी-पराधीनता एवं परावलंबन की त्रासदी—

भारतीय समाज में नारियों की स्थिति विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न प्रकार की रही है। वैदिक समय में नारी को शक्ति, ज्ञान एवं संपत्ति के रूप में माना गया। वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों के समकक्ष थी और उन्हें पुरुषों के समान अधिकार भी प्राप्त थे। इसी कारण हिंदू-समाज में उसे अर्द्धांगिनी कहा जाता है। तत्कालीन समय में लड़कियों के भी उपनयन संस्कार होते थे और वे भी ब्रह्मचर्याश्रम में लड़कों की भाँति शिक्षा ग्रहण करती थीं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डा० पी०एन० प्रभु ने इसी परिप्रेक्ष्य में लिखा है कि 'जहाँ तक शिक्षा का संबंध है, इस काल में स्त्री-पुरुषों का समान अधिकार प्राप्त थे'³ वैदिककाल में स्त्रियों को मनोवाञ्छित वर चुनने की स्वतंत्रता प्राप्त थी और विधवा भी इच्छानुसार पुनर्विवाह कर सकती थी। पत्नी-रूप में स्त्री को पूर्ण सामाजिक अधिकार प्रदान किया गया। अथर्ववेद में एक सूक्त में कहा गया है 'हे नव वधू! तू जिस घर में जा रही है, वहाँ की साम्राज्ञी है! तेरे सास, ससुर, देवर तथा अन्य व्यक्ति तुझे साम्राज्ञी मानते हुए तेरे शासन में आनंदित हों।'⁴ धार्मिक कार्यों में भी स्त्री-पुरुष के अधिकार समान थे और धार्मिक अनुष्ठानों में पत्नी का होना गृहस्थ के लिए परम आवश्यक था। डा० उमा देशपांडे के अनुसार वैदिक युग में केवल ऋग्वेद में ही सत्ताईस कवयित्रियों के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें घोषा, विश्वकारा, अपाला, अदिति, जूही, उर्वशी, लोपा, मुद्रा, मेघा, श्रद्धा, यमी आदि मुख्य हैं।⁵ अतः हम यह कह सकते हैं कि वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति काफ़ी सुदृढ़ थी।

उत्तर वैदिककाल की स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते हुए डा० ए०एस० अल्टेकर ने लिखा है कि 'पुरुषों के युद्धकार्यों में संलग्न रहने के कारण इस काल की स्त्रियाँ कृषि, युद्धसामग्री का निर्माण तथा अन्य आर्थिक, व्यावसायिक कार्यों में नियोजित रहती थी और इस प्रकार समाज की उपयोगी सदस्याएँ होने के कारण समाज में उनका समुचित आदर एवं स्थान था।'⁶ इस समय भी स्त्रियों को धार्मिक एवं वैवाहिक जीवन में काफ़ी स्वतंत्रता प्राप्त थी। महाभारत के अनुशासनपर्व में भीष्म कहते हैं— 'जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है तथा इनकी अनुपस्थिति में सभी कार्य पुण्यरहित हो जाते हैं।'⁷ इस समय जैनधर्म एवं बौद्धधर्म का उदय हुआ। इन धर्मों में भी स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, लेकिन जब इन धर्मों में पतन की स्थिति आई तो स्त्रियों की स्थिति में भी गिरावट

होने लगी। अतः कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिककाल के अंतिम वर्षों में स्त्रियों में अवनति का प्रारंभ हो गया था।

ईसा के पश्चात् तीसरी सदी से लेकर 11वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक के समय को भारतीय इतिहास में 'धर्मशास्त्रकाल' के नाम से जाना जाता है। अब वैदिक नियमों की उपेक्षा होने लगी थी। इस युग में नारी की स्थिति परतंत्र एवं निःसहाय हो चुकी थी। पत्नी पति की सम्पत्ति की अधिकारी नहीं थी। प्रेमचंद की 'बेटों वाली विधवा' नामक कहानी में मनु की इस व्यवस्था की अमानवीयता को लेखक ने गहरी संवेदना के साथ उकेरा है।⁸ पहले पुरुषों की भाँति स्त्रियों के भी कई संस्कार होते थे। अब उनके लिए सिर्फ एक ही संस्कार रह गया—विवाह। धर्मशास्त्रकाल में जीवन-साथी के चुनाव में लड़की की इच्छा-अविच्छा कोई मायने नहीं रखती थी। दस-बारह साल की उम्र में ही विवाह करने का रिवाज था। कुलीनता की ग़लत धारणा के कारण बहुपत्नी-विवाह का प्रचलन बढ़ा। संपन्न तबके में रखैल का फ़ैशन चल निकला। दूसरी तरफ़ ईसा के एक हजार वर्ष बाद अभिजात्य परिवारों में विधवाओं के पुनर्विवाह बंद हो गए। कुछ निम्न जातियों ने भी उच्चजातियों का अंधानुकरण किया और ऐसे विवाहों पर प्रतिबंध लगाया। इस प्रकार धर्मशास्त्रकाल में शास्त्रकारों ने स्त्रियों की सामाजिक-धार्मिक स्थिति को कमजोर करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। मनु ने कहा कि 'स्त्रियों को कभी भी स्वतंत्र नहीं रखना चाहिए। उन्हें बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए।'⁹ इस प्रकार तीसरी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक धर्मशास्त्रकाल में स्त्रियों की स्थिति निरंतर ख़राब होती गई।

भारतीय इतिहास का मध्यकाल मुसलमानों के आक्रमण से शुरू होता है। विधर्मियों से हिंदूधर्म एवं संस्कृति की रक्षा करने के नाम पर स्त्रियों पर और भी कई नियोग्यताएँ थोपी गयीं और उन्हें शिक्षा के अधिकार से वंचित कर दिया गया। रक्तशुद्धता के नाम पर पाँच-छः वर्ष की बालिका का भी विवाह कर दिया जाता था। सतीप्रथा का प्रचलन दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगा। इस काल में धर्म के नाम पर स्त्रियों का सबसे ज़्यादा शोषण हुआ। स्त्रियों का कार्यक्षेत्र सीमित होकर चारदीवारी में बंद हो गया। इस प्रकार अट्ठारहवीं (18वीं) शताब्दी तक स्त्रियों की स्थिति में लगातार गिरावट आती गई। डा० ए०एस० अल्टेकर का मानना है कि 'सती प्रथा के प्रचलन, पुनः विवाह पर प्रतिबंध, पर्दाप्रथा के विस्तार तथा बहुपत्नी-विवाह की व्यापकता के कारण स्त्रियों की स्थिति में गुणात्मक अवनति दृष्टिगत होती है।'¹⁰ यद्यपि माता-पिता उसे दुलारते थे, पति उसे प्रेम करता था और बच्चे उसका आदर करते थे, परंतु यह सब आदर्शात्मक स्थिति में होता था। मध्यकाल तक स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए अनेक आंदोलन हुए, जिसके कारण उनकी स्थिति में कुछ सुधार हुए। अंग्रेजों के शासनकाल में जो नियोग्यताएँ स्त्रियों पर थोपी गई थीं, वे निम्नलिखित हैं—

1. सामाजिक क्षेत्र में स्त्रियों को कोई ख़ास अधिकार प्राप्त नहीं थे। उन्हें शिक्षा-प्राप्ति का भी अधिकार नहीं था। बाल-विवाह एवं पर्दाप्रथा के कारण स्त्री-शिक्षा की प्रवृत्ति अधिक बलवती नहीं थी। उच्च-वर्ग की अपेक्षा निम्न-वर्ग में साक्षरता शून्य के बराबर थी।
2. पारिवारिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को कोई ख़ास अधिकार प्राप्त नहीं था। स्त्रियों का कार्य संतानोत्पत्ति एवं परिवारजनों की सेवा तक सीमित था। स्त्रियों को विवाह-विच्छेद का

अधिकार प्राप्त न होने के कारण उसे दुष्ट, अत्याचारी, असाध्य रोग से पीड़ित तथा नपुंसक पति के साथ भी रहना पड़ता था।

3. सन् 1937 ई० के पूर्व तक आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियों को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं था। स्त्री-धन के अलावा परिवार की संपत्ति पर भी उन्हें कोई अधिकार नहीं था। डा० मन्मथनाथ गुप्त ने भारतीय स्त्रियों में स्वर्णालंकारों के प्रति जो मोह है, उसका बखूबी विश्लेषण करते हुए बताया है कि उसके पीछे भी हमारी समाज-व्यवस्था ही कारणभूत है। जिस समाज में स्त्री का अपनी पारिवारिक संपत्ति पर कोई अधिकार न हो, वहाँ पर स्वर्णालंकार ही आड़े दिनों में काम आ सकते हैं।¹¹ सर्वप्रथम सन् 1924 में हरविलास शारदा ने स्त्रियों के समान अधिकार को लेकर एक प्रस्ताव पेश किया, जो सन् 1937 ई० में शारदा बिल के नाम से पारित हुआ, जिसमें स्त्रियों को अपने पति की संपत्ति में अधिकार देने की बात थी। जागरण में प्रेमचंद ने शारदा बाबू को बधाई देते हुए लिखा कि 'स्त्रियाँ आपकी हमेशा कृतज्ञ रहेंगी, क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर जिस संपत्ति को जोड़ते हैं, पति के मर जाने के बाद उन्हीं के गोद के बच्चे उनसे मुँह छिपाते हैं। यह प्रस्ताव जिस दिन पास होगा, करोड़ों महिलाएँ आपको हृदय से आशीर्वाद देंगी और आपकी सहृदय कृतज्ञ रहेंगी।'¹² स्त्रियों को संपत्ति में अधिकार तो नहीं था, ऊपर से उच्चकुल की स्त्रियाँ कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकती थीं, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हो। डा० के०ए० पनिक्कर ने इसी संदर्भ में अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि हिंदू-समाज में पुत्री के अधिकार को कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया था। पत्नी पति के परिवार का एक अंग बन गई थी और विधवाओं को मृतक के समान माना जाता है।¹³
4. जब जीवन के अन्य क्षेत्रों में स्त्रियों को नगण्य समझा जाता था तो राजनीतिक गतिविधियों में तो स्त्रियों की हिस्सेदारी की कल्पना ही नहीं कर सकते। गांधीजी द्वारा चलाये गए विविध आंदोलनों में कुछ स्त्रियों ने भाग अवश्य लिया था, परंतु अधिकतर स्त्रियाँ उच्चवर्ग से संबंधित थीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटिशकाल में स्त्रियों पर पहले ही चली आ रही नियोग्यताएँ थीं, परंतु कोई ईसाई धर्म-प्रचार के विरुद्ध जो पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं उसके कारण स्त्रियों को कुछ राहत मिली।

संदर्भ

1. मिल, स्त्रियों की पराधीनता, सक्सेना प्रगति (अनु०), 2002 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-पटना, पृ० 41-42
2. अतीत के चलचित्र, महादेवी वर्मा, पृ० 53
3. हिंदू सोसियल आर्गनाइजेशन, डा० पी०एन० प्रभु, पृ० 258
4. अर्थवेद, 74/14
5. द ग्लिम्सेज आफ़ इण्डोलाजिकल हेरिटेज, डा० उमा देशपांडे, पृ० 1
6. द पोजिशन आफ़ वीमेन इन हिंदू सिविलाइजेशन, डा०ए०एस० अल्टेकर, पृ० 342-343
7. महाभारत, अनुशासन पर्व पृ० 46-51

8. मानसरोवर भाग-1, प्रेमचंद, पृ० 68-88
9. तुलनीय 1 'पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्भविरे पुत्राय, स्त्री स्वातंत्रसामर्हति॥' (मनुस्मृति)
10. द पोजिशन ऑफ़ वीमेन इन सिविलाइजेशन, डा० ए०एस० अल्टेकर, पृ० 359-360
11. प्रेमचंद : व्यक्तित्व और साहित्यकार, डा० मन्मथनाथ गुप्ता, पृ० 263
12. प्रेमचंद घर में, शिवरानी देवी, पृ० 162
13. हिंदू सोसायटी एंड क्रॉस रोड्स, डा० के०एस० पनिकर, पृ० 36

हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश

(सचित्र)

संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

डॉ० मीना अग्रवाल

'हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश' के दो भागों का भरपूर स्वागत हुआ था। अब इसका तीसरा भाग प्रकाशित करने की योजना बनाई गई है। इस खंड में साहित्यकारों के चित्र भी प्रकाशित किए जाएँ।

आपसे आग्रह है कि कृपया अपना परिचय निम्न क्रम से भिजवाएँ—

- | | |
|--------------------------------------|---------------------|
| 1. नाम | 2. जन्मतिथि |
| 3. जन्मस्थान | 4. शिक्षा |
| 5. कार्यक्षेत्र | 6. प्रकाशित कृतियाँ |
| 7. पुरस्कार-सम्मान | 8. पता |
| 9. दूरभाष नं० (मोबाइल तथा ई मेल आदि) | |

परिचय के साथ अपना छायाचित्र भी प्रेषित करें। कृपया अपने छायाचित्र के पीछे अपना नाम तथा शहर का नाम अवश्य लिखें।

निश्चय ही 'हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश' साहित्यकारों के परस्पर परिचय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा।

अपना परिचय व चित्र इस पते पर भेजें—

हिंदी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ.प्र.)

दूरभाष : 01342-263232, 09368141411

हिंदी दलित-कविता और मार्क्सवाद

सुशील 'शीलू'

समाजवाद केवल विज्ञान विषयक नहीं, अपितु एक समाजशास्त्रीय सिद्धांत है। अतः यह सिद्धांत विभिन्न सामाजिक स्थितियों के मद्देनजर स्थानीय तथ्यों को समाहित व विश्लेषित करते हुए ही सकारात्मक परिणाम पर पहुँच सकता है। मार्क्सवाद का उद्भव और उसके सिद्धांतों का विकास यूरोप में हुआ, किंतु उसका विस्तार एशिया और अफ्रीका महाद्वीप के गुलाम देशों पर अधिक पड़ा।

'मार्क्स, एंगल्स, लेनिन और स्टालिन के ग्रंथों के अतिरिक्त स्टालिन के बाद के काल में मार्क्सवाद में बहुत कुछ विचार जोड़े गए। ख्रुश्चोव ने स्टालिन के अतिरिक्त सत्ता के विरुद्ध अभियान चलाया। चीन में माओत्से तुंग और उसके सहयोगियों ने 'श्रमिकों की सत्ता' का सिद्धांत प्रस्तुत किया। ग्रोबाचोव्ह ने सोवियत रूस में आर्थिक सुधार और खुलेपन की घोषणा की। बोरिस येल्तसिन ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य का उद्घोष कर कम्युनिस्ट पार्टी की सत्ता समाप्त कर दी। पश्चिम मार्क्सवादी विचारकों ने भी मार्क्सवाद में नए विचार जोड़े। परंतु विचारकों ने हिंदू-समाज-व्यवस्था के संदर्भ में मार्क्सवाद के आधार पर उसका परीक्षण कर कोई विकास किया, ऐसा नज़र नहीं आता। मार्क्सवादियों ने सही अर्थों में छुआछूत की ओर ध्यान दिया ही नहीं। ऐसा हुआ होता तो भारतीय परिस्थिति के अनुकूल मार्क्सवाद का सृजनशील रूप विकसित हुआ होता।"

मार्क्स के अनुसार, 'मजदूर का श्रम ही एक ऐसी वस्तु है, जो बिकने के साथ-साथ नया मूल्य भी बनाता है। पूँजीपति अपने कारोबार में पूँजी दो तरह से लगाता है— एक कच्चे माल, मशीन वगैरह जैसे उत्पादन के साधनों पर। दो, मजदूर की श्रमशक्ति ख़रीदने पर। पहली पूँजी एक तरह से स्थाई पूँजी होती है, जबकि दूसरी श्रम की प्रक्रिया में बढ़ती रहती है।" इस प्रकार श्रमिक अपने श्रम का मूल्य कुछ ही घंटों में चुका देता है तथा बाक़ी का श्रम पूँजीपति की जेब में चला जाता है, बेशी या अतिरिक्त मूल्य के रूप में।

भारतीय समाज में विषमता केवल पूँजीवाद के कारण ही नहीं है, अपितु यह विषमता संश्लिष्ट स्वरूप की है। हिंदूधर्म की जटिल और कट्टर जाति-व्यवस्था, उनसे उपजी अनेक उपजातियाँ, उनके रीति-रिवाज, रूढ़ परंपराएँ, अतार्किक नीतियाँ, सामंतवादी पंचायतें, रहन-सहन, आपसी लेन-देन के तौर-तरीक़े आदि ऐसी मान्यताएँ हैं, जो समाजवाद की सफलता में बाधा उत्पन्न करती हैं। यहाँ के ग़रीब-दलित को दोहरी त्रासदी का शिकार होना पड़ता है। 'जाति-व्यवस्था केवल श्रम का विभाजन नहीं करती, वह तो श्रमिकों का भी विभाजन करती है। यह विभाजन धर्म-नियम के आधार पर और ऊँच-नीच की कल्पना पर आधारित है। इसलिए सवर्ण शोषित और दलित शोषित, इन दोनों का सामाजिक स्तर एक नहीं

होता। ब्राह्मण मजदूर और दलित मजदूर इन दोनों की सामाजिक विषमता ध्यान में रखनी चाहिए। बाबा साहेब अंबेडकर ने यह भी आलोचना की है कि इस सामाजिक विषमता को कम्युनिस्ट नज़रअंदाज़ करते हैं। वे कहते हैं, 'पूँजीवाद के विरुद्ध जोर-जोर से भाषण देते हुए नेताओं को मैंने सुना है, पर मजदूरों में होनेवाली ब्राह्मणशाही के विरुद्ध बोलते मैंने किसी मजदूर नेता को नहीं सुना। इस विषमता पर उनका मौन स्पष्टतः दिखाई देता है।'³

केवल आर्थिक कारणों को दलित की दुर्दशा मानने वालों के प्रत्युत्तर में राजा ढाले अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं, 'हम ग़रीब हैं, इसलिए हम अछूत हैं। यह सत्य नहीं है। वे कहते हैं— हम अछूत हैं इसलिए ग़रीब हैं।'⁴ अतः दलित के साथ छुआछूत, जातिवाद के व्यवहार को मिटाना होगा तथा उसे अन्य वर्गों के समकक्ष लाने के लिए विशेष रियायतें भी देनी चाहिए।

बाबा साहेब के अनुसार, 'जातिभेद और छुआछूत ये दोनों ही कम्युनिज़्म में नहीं हैं। बाबा साहेब को मार्क्सवाद अपूर्ण लगता है, क्योंकि मार्क्सवाद में जाति-अंत का विचार नहीं है। दरअसल, उन्हें दलितों की अस्पृश्यता नष्ट होना ही सबसे अधिक महत्त्व की बात लगती है। इसलिए वे कहते हैं, 'लेनिन ने हिंदुस्तान में जन्म लिया होता तो पहले उन्होंने जातिभेद और छुआछूत को पूरी तरह नष्ट किया होता और वैसा किए बिना क्रांति की कल्पना उनके मन में आई ही नहीं होती। या तिलक बहिष्कृत वर्ण में पैदा हुए होते तो उन्होंने 'स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' ऐसी गर्जना करने की बजाय 'अस्पृश्यता नष्ट करना मेरा परम कर्तव्य' ऐसे ही विश्वास के साथ कहा होता।'⁵

मार्क्सवाद का उत्स यूरोप में हुआ तो दलित-चेतना का उदय भारत में हुआ। अतः इन दोनों विचारों में समरूपता या समानता की कल्पना करना बेमानी है। ये विभिन्न परिस्थितियों में जन्मे, विभिन्न संस्कृतियों के अपने प्रस्फुटन हैं। 'दलित चेतना सिर्फ वर्णाश्रम धर्म-विरोधी है और मार्क्सवादी चेतना सिर्फ पूँजीवाद-विरोधी है, इस प्रकार का विभाजन उचित नहीं है। पूँजीवादी परिस्थिति में मार्क्सवादी चेतना पैदा होती है, तो ब्राह्मणवादी परिस्थिति में दलित-चेतना पैदा होती है। इसलिए यह शिकायत व्यर्थ है कि मार्क्सवादी चेतना ब्राह्मणवाद के विरुद्ध नहीं बोलती अथवा दलित-चेतना पूँजीवाद के विरुद्ध नहीं बोलती, क्योंकि यह स्वयं स्पष्ट है कि इन दोनों चेतनाओं के जन्म के कारण अलग हैं। इसका अर्थ यह नहीं होता कि दोनों चेतनाएँ अलग हैं या एक-दूसरे के लिए हानिकारक हैं।'⁶

भारत में वर्ण-व्यवस्था है तो वर्ग-व्यवस्था भी अपने विभिन्न रूपों में विद्यमान है। जहाँ सभी लोग वर्ग-व्यवस्था के कुप्रभावों को झेल रहे हैं, वहीं दलित दोनों से समान स्तर पर युद्धरत हैं। दलितों में भी विकास के फलस्वरूप स्तरीकरण यानि वर्गीकरण हुआ है। 'एक दलित पूँजीपति, प्रोफ़ेसर, इंजीनियर, डॉक्टर इत्यादि का यदि सवर्ण पूँजीपति आदि द्वारा जातिगत अपमान समाप्त हो जाए तो इनके लिए सारी समस्या का समाधान हो जाता है। दूसरी ओर दलितों के ग़रीब लोगों की मुक्ति केवल जातिगत अपमान की समाप्ति में नहीं है। उन्हें आर्थिक मुक्ति भी चाहिए।' अब यहाँ मार्क्सवाद की आवश्यकता महसूस होती है। उच्चवर्गीय दलित व निम्नवर्गीय के हित अलग-अलग हो जाते हैं। अस्तु, कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद और दलित-चेतना एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि समकक्ष हैं।

मार्क्सवाद और अंबेडकर

मार्क्स श्रमिकों के मसीहा के रूप में जाने जाते हैं तो डॉ॰ अंबेडकर दलितों के प्रवर्तक के रूप में विख्यात हैं। दोनों विचार, सिद्धांत और दर्शन एक-दूसरे के विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। 'दलित साहित्य में मार्क्सवाद के विरुद्ध अगर सिलसिलेवार एक धारा है तो मार्क्स-अंबेडकर के विचारों का समन्वय करने वाली दूसरी धारा भी है।'⁸

दलित कवि ओमप्रकाश बाल्मीकि मानते हैं, 'दलित साहित्य न मार्क्सवाद का विरोधी है, न जनवाद का। दलित रचनाकार उस दोहरी मानसिकता का विरोधी है, जो बाहर से मार्क्सवादी, साम्यवादी और भीतर से फ़ासिस्टों की पक्षधर है। शोषण-विहीन समाज की परिकल्पना को साकार करने के लिए मार्क्सवादी विचारक 'वर्ग' के साथ 'वर्ण' को अपनी लड़ाई का लक्ष्य बनाने में ढुलमुल क्यों हैं'⁹ यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। साम्यवादी क्रांतियों के बाद यदि संपूर्ण निष्ठा के साथ यदि यहाँ के कम्युनिस्ट वर्ण को भी केंद्र में रखकर आंदोलन करते तो आज ये परिदृश्य न होता। परंतु इस कारण से ही मार्क्सवाद निरर्थक नहीं हो जाता। 'दलित-साहित्य और मार्क्सवादी साहित्य निश्चित ध्येय और विचार से प्रेरित है, इस कारण दोनों के स्वरूप और प्रयोजन में साम्य दिखाई देता है। इन दोनों की प्रेरणा, भूमिका, प्रतिबद्धता मानवतावाद में मिलती है। दलित-लेखकों ने इस मानवतावाद को अंबेडकरवाद नाम से संबोधित किया है और मार्क्सवादी लेखकों ने इस मानवतावाद को मार्क्सवाद नाम दिया है।'¹⁰

श्रमिक यँ तो स्वयं में अत्यंत व्यापक अर्थ लिए हैं, परंतु भारतीय संदर्भ में वह जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि के कारण विखंडित होकर कमजोर हो जाता है, फलतः उसके आंदोलन में परिवर्तित होने की संभावना क्षीण हो जाती है। दलित-चेतना का मार्क्सवाद में अनुपस्थित रहने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि वह दलित अन्य श्रमिकों की अपेक्षा अत्यंत पिछड़ा हुआ है और ऐसे में वह नेतृत्व तक कैसे पहुँच सकता है। दूसरा कौन उसकी माँगों को प्रमुखता से उठाएगा? यह प्रश्न वर्तमान राजनीतिक व सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी उतना ही प्रासंगिक है! शरणकुमार लिंबाले मानते हैं कि 'सामाजिक-आर्थिक प्रश्न पर एकत्रित संघर्ष करना होगा, जिनके लिए मार्क्सवादियों को तीन काम करने पड़ेंगे—

1. किसानों और मजदूरों को आर्थिक संघर्ष के लिए तैयार करना।
2. जन-आंदोलनों में अन्य वर्गों के साथ शामिल होना।
3. सामाजिक जागृति की प्रक्रिया व्यापक और गहरी करना।

भारतीय समाज-व्यवस्था में मार्क्स का विचार अपूर्ण लगता है। इसलिए मार्क्सवाद को भारतीय समाज-व्यवस्था के संदर्भ में विकसित करना चाहिए।'¹¹

'सामाजिक विषमता के साथ ही आर्थिक विषमता भी दलितों का शोषण करती है। हाँ, दलितों को सामाजिक और आर्थिक दोनों स्तर पर संघर्ष करना होगा। दलित-साहित्य दलितों के संघर्ष का साहित्य है। अब दलित-साहित्य आंदोलन को अंबेडकरवाद के साथ-साथ मार्क्सवाद को भी स्वीकार करना होगा, तभी संघर्ष अर्थपूर्ण होगा।'¹²

यद्यपि आज भी पूँजीवाद अपने अस्तित्व में है। शोषण और श्रमिक एक-दूसरे के पर्याय बने हुए हैं। अभी भी मेहनतकश को उसका सही हक़ दिलवाने, समाज में मौजूद ग़रीबी-अमीरी के फ़र्क को ख़त्म होने के कोई दूसरे तरीक़े ईजाद नहीं हुए हैं। जो हैं भी,

वे व्यावहारिक नहीं, भाववादी, काल्पनिक हैं। बहरहाल, भविष्य में जो भी नया तरीका बनेगा, उसमें मार्क्सवाद पर आधारित साम्यवादी व्यवस्था की गलतियाँ दोहराने से बचने का प्रयास किया जाएगा और समाज के मूल घटक व्यक्ति की चेतना और सामाजिक चेतना के बीच एक ऐसा तालमेल बिठाकर चलना होगा, जो अंबेडकरवादी दर्शन को साथ लेकर चल सके। प्रसिद्ध पत्रकार राजकिशोर के अनुसार, 'बाबा साहब घोषित रूप से समाजवादी थे और उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का विरोध करते थे। उनकी यह बात आज भी बार-बार दुहराई जाती है कि जब तक सामाजिक और आर्थिक समानता स्थापित नहीं होगी, राजनीतिक समानता का कोई खास मूल्य नहीं है। अगर सभी को एक वोट देने का अधिकार है, तो सभी की सामाजिक हैसियत भी एक-जैसी होनी चाहिए कांशीराम कलम को सीधा पकड़कर दिखाते हुए कहा करते थे कि समाज अभी इसी तरह लंबाई में खड़ा है, जिसमें कुछ लोग ऊपर स्थित हैं, कुछ लोग नीचे। फिर वे कलम को लिटाकर दिखाते हुए कहते थे कि वे समाज को इस तरह यानि समतल बनाना चाहते हैं।'

बाबा साहब अंबेडकर मार्क्सवाद से असहमत होने के बावजूद उसके प्रति नकारात्मक विचार नहीं रखते थे। 'कम्युनिस्टों का ध्येय मूलतः अनुचित है, ऐसा हमें नहीं लगता। कम्युनिस्टों का ध्येय जैसा राष्ट्रीय स्वरूप का है, वैसा ही सामाजिक और आर्थिक स्वरूप का भी है, परंतु पहले सामाजिक क्रांति के बाबत लोगों के विचारों में क्रांति आनी चाहिए।'¹⁴

हंस के संपादक राजेंद्र यादव दलित और पिछड़ों को एक साथ रखना चाहते हैं। वे सोचते हैं, इस तरह इनकी ताकत में वृद्धि होगी और ये अपेक्षाकृत सुगमता से मंजिल को प्राप्त कर सकते हैं। उनका ऐसा सोचना गलत भी नहीं है। वे मार्क्स और अंबेडकर के सिद्धांतों को एकीकृत कर दलितों और पिछड़ों की मुक्ति का रास्ता सुझाते हैं। 'जिस तरह सामाजिक अन्याय के शिकार दलित और पिछड़े एक ही नियति के साझीदार हैं, उसी तरह मार्क्सवाद और अंबेडकर का दर्शन भी वंचितों की मुक्ति के लिए प्रतिबद्ध है। मार्क्स और अंबेडकर दो ही ऐसे विचारक हैं, जो सारे सामाजिक ढाँचे को नीचे से बदलने की बात करते हैं। उनके अनुसार सर्वहारा की अदम्य शक्ति अब तक चली आ रही सारी संरचनाओं को बदल डालेगी। मार्क्सवाद इस परिवर्तनकारी शक्ति का आधार आर्थिक मानता है तो अंबेडकर इस सत्ता, सम्मान और अधिकार के साथ जोड़कर देखते हैं। उन्हें दलित-समस्या का हल सत्ता के हस्तांतरण में मिलता है।'¹⁵

संदर्भ

1. शरणकुमार लिंबाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 68-69
2. कार्ल मार्क्स, समाजवाद का मसीहा (संपादन) डॉ. नीलिमा सिंह, (प्रस्तुति) डॉ. प्रकाश कांत, पृ० 105
3. शरणकुमार लिंबाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 70
4. वही, पृ० 73 से उद्धृत
5. वही, पृ० 69-70 से उद्धृत
6. वही, पृ० 81
7. सुनील, हंस, अप्रैल 2008, पृ० 65

8. शरणकुमार लिबाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 67
9. ओमप्रकाश बाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 97
10. शरणकुमार लिबाले, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 79
11. वही, पृ० 69
12. वही, पृ० 72
13. राजकिशोर, राष्ट्रीय सहारा, 20 मई, 2007
14. रमणिका गुप्ता, ज्ञानसिंह बल, दलित-दर्शन, पृ० 222 से उद्धृत
15. राजेंद्र यादव, हंस, सत्ता और दलित-विमर्श विशेषांक, अगस्त 2004, पृ० 07

शोध-संदर्भ के पाँच खंडों में भारतीय विश्वविद्यालयों में पी-एच०डी० एवं डी०लिट्० उपाधियों के लिए हिंदी विषय में स्वीकृत लगभग 18,000 शोध-प्रबंधों का वर्गीकृत विवरण प्रकाशित किया गया है। लगभग 3000 पृष्ठों में प्रकाशित इन पाँच खंडों का मूल्य 3015 रुपए है।

यदि आप अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय के लिए इन पाँचों खंडों को खरीदना चाहते हैं तो आपको ये अमूल्य ग्रंथ डाक-व्यय सहित अब मात्र 2000 रुपए में उपलब्ध कराए जा रहे हैं। हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर के नाम से अपना बैंक ड्राफ्ट भेजकर आप ये ग्रंथ प्राप्त कर सकते हैं।

हिंदी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) 246701

दूरभाष : 01342-263232, 09368141411

हिंदी-लेखिकाओं का हिंदी-उपन्यास साहित्य और स्त्री-सशक्तीकरण

प्रो. सुमंगला मुम्मिगट्टी

अध्यक्ष हिंदी विभाग

कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ (कर्नाटक)

सन् 1872 ई० में एक बार भागलपुर में एक धार्मिक मेला हो रहा था। कुछ लड़कियों के पिता अपनी बेटियों को संकल्पपूर्वक दान दे रहे थे। उनका विश्वास था कि ऐसी कन्याओं को दान देने से उन्हें पुण्य मिलेगा। उसे देख भयभीत एक संन्यासी ने वहाँ के लोगों से पूछा, 'ये पुरोहित दान में प्राप्त कन्याओं का क्या करते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'एक-एक पुरोहित कई कन्याओं को दान में पाते हैं। दान में प्राप्त उन सबके साथ विवाह करना तो संभव नहीं। इसलिए ये कन्याएँ यात्रियों की कामवासना की पूर्ति का साधन बनती हैं।' उस रात चिंताक्रांत वह संन्यासी अपने डेरे पर लौटा ही नहीं। जिस वन में वह रह रहा था, वहाँ एक बरगद के पेड़ के नीचे सोचते हुए बैठ गया। अगले दिन संन्यासी के लिए भोजन लानेवाला युवक आया। देखा, रात का भोजन जैसे का तैसा है। उसने संन्यासी से पूरा- 'स्वामीजी, क्या आपने रात में भोजन नहीं किया?' संन्यासी ने उत्तर दिया- 'नहीं। कल इस मेले में जो पैशाचिक कृत्य मैंने देखा, उससे मन विचलित हो उठा है। अपनी कोख से जन्मी बेटियों को कामातुरों के हाथों में सौंपनेवाले लोग जहाँ हों, उस देश की दुर्गति को देख मुझे न भोजन करने का मन हुआ, न ही मुझे नींद आयी।'..वह संन्यासी कोई और न था, बल्कि वे थे महर्षि दयानंद सरस्वती, जिन्होंने ऐसे दान के विरोध में क्रांति की। वे थे आर्यसमाज के संस्थापक। नारी-उत्थान में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

सन् 1975 में पूर्वी बर्लिन में 'अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस' मनाया गया। भारत सरकार ने सन् 2000-2001 ई० को 'स्त्री-सशक्तीकरण वर्ष' कहकर घोषित किया। इस दिशा में केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों ने अनेक कार्यक्रमों की योजनाएँ तैयार कीं। इनमें विशेष रूप में लिंग-समानता एवं स्त्री के प्रति न्यायपूर्ण नीति को अधिक महत्त्व दिया गया। उसका विकास, प्रगति तथा सशक्तीकरण जैसी क्रियायोजनाओं को रूपायित किया गया। कार्यक्रमों के अनुष्ठान की निगरानी के लिए राष्ट्र तथा राज्यस्तरीय समूहों की रचना की गई है। राष्ट्र-स्तरीय समूह के लिए प्रधानमंत्री तथा राज्य-स्तरीय समूह के लिए मुख्यमंत्री अध्यक्ष होते हैं। सन् 1997 में स्त्री-सशक्तीकरण समिति का गठन हुआ। यही नहीं, गैरसरकारी संस्थाएँ भी इस दिशा में काम कर रही हैं। लिंगभेद अनेक प्रकार का रहा है। फिर भी बीते दो-एक दशकों से विशेष रूप से घटती जा रही स्त्रियों की संख्या चिंताजनक विषय बनती जा रही है। अगर यही स्थिति

बनी रहेगी तो एक दिन स्त्री-विहीन समाज शेष रहेगा। अतः इस समस्या के समाधान के लिए सरकार ने स्त्री-सशक्तीकरण की कुछ योजनाएँ तैयार की हैं। वे हैं—मानव-अधिकार तथा मूलभूत स्वातंत्र्य, स्त्री के साथ हो रही हिंसा का निर्मूलन, स्त्री-संबंधी भेदभाव की समाप्ति, कन्या शिशु-संबंधी भेदभाव और उनके अधिकारों के उल्लंघन का निर्मूलन (जन्म से पूर्व ही लिंग का चयन और कन्या-शिशु की भ्रूण-हत्या, बाल्य-विवाह, कन्याओं का दुरुपयोग, बाल्य-वेश्यालयों के विरुद्ध कानूनों को परिणामपूर्वक जारी करना), स्त्री-सशक्तीकरण (उनका स्वास्थ्य, शिक्षा, वृत्ति-कौशल्य, उद्योग, कमाई के अवसर, तकनीकी सेवाएँ, भूमि तथा इतर नमूने की संपत्ति, ऋण, बाज़ार आदि को मुक्त और संपूर्ण रूप में उपलब्ध कराना, स्त्री-सशक्तीकरण के उद्देश्य की पूर्ति के लिए हर स्तर पर निर्णय लेने में स्त्री को अवसर, स्त्री एवं विकास क्रिया, स्त्रियों के विवादों का सूक्ष्मीकरण (*Sensitisation of Women's issues*) अर्थात् उनकी समस्याओं के प्रति विशेष रूप में प्रायोजित और अर्थ-सुरक्षायुक्त कार्यक्रमों का आयोजन करना, गैरसरकारी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में प्रशिक्षण कार्यक्रम)।

स्त्री-सशक्तीकरण के इस विशिष्ट स्वरूप की विचारधारा को कथाकारों ने कितनी गंभीरता से लिया है, यही इस आलेख का विषय है।

देश की स्वतंत्रता को एक लंबा अरसा बीत गया। स्वतंत्र देश में स्त्रियाँ कितनी स्वतंत्र रही हैं, अपने स्वातंत्र्य का कितना उपयोग कर रही हैं, कैसे कर रही हैं, आदि सवालों के जवाब में उनके अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का भी उल्लेख करना विशेष महत्त्व रखता है। यह कहना असंगत न होगा कि अभिव्यक्ति का परिणाम साहित्य ही उसके निजी जीवन का दस्तावेज़ है। अतः स्त्री-सशक्तीकरण के संदर्भ में उसके विचारों का जायजा उसकी तूलिका से निःसृत हिंदी-उपन्यासों के माध्यम से लेना अधिक औचित्यपूर्ण होगा। इस आलेख में मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब' (1996), प्रभा खेतान का 'छिन्नमस्ता', वीणा सिन्हा का 'पथप्रज्ञा' मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' (1997), 'इदन्नमम्' (1997) एवं चित्रा मुद्गल का 'आवाँ' (1997) पर विचार किया जाएगा।

आज का 'गे' कल्चर, समलिंगी समस्या, स्पर्म बैंक, सरोगेटेड मदर (किराये की माँ), ह्यूमन क्लोनिंग जैसी संभावनाएँ, अत्याधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार आदि ने स्त्री-विमर्श को नया आयाम दिया है, साथ ही भयभीत कराने वाले अनेक प्रश्न मानव-मन को सता रहे हैं। ह्यूमन क्लोनिंग तथा स्पर्म बैंक कहीं पारंपरिक वैवाहिक व्यवस्था को तो खंडित नहीं कर देंगे? सुरक्षित पारिवारिक व्यवस्था का क्या होगा? ये नयी संभावनाएँ सुरक्षित सामाजिक परंपरा के सर्वनाश के लिए नांदी गीत तो नहीं बन रही हैं? मृदुला गर्ग ने 'कठगुलाब' द्वारा इन विषयों के प्रति निश्चित अभिप्राय देने की दिशा में पहल की है 'कठगुलाब' (*wood rose*) सृजन का प्रतीक है। लेखिका ने इसी अर्थ में संपूर्ण उपन्यास को प्रतीकात्मक बना दिया है। कथावाचकों के रूप में चार प्रमुख स्त्री-पात्रों (स्मिता, मारियन, नर्मदा, असीमा) और एक-मात्र पुरुष पात्र विपिन के द्वारा कथा का ताना-बाना बुना गया है। कथा-नायिका स्मिता पालनहार माता-पिता के देहांत के पश्चात् दीदी नमिता के घर आश्रय लेती है। आश्रयदाता जीजा आश्रय का मूल्य बलात्कार के द्वारा पा लेता है। तब पढ़ाई के बहाने दीदी उसे बड़ौदा भेज देती है। परिश्रमी स्मिता आत्मनिर्भर बन अमेरिका जाती है। अमेरिका के मनोचिकित्सक

जिम जारविस से शादी करके भी पीड़ित-प्रताड़ित होती है। स्मिता की सहिष्णुता का बाँध टूटने पर अदालत जाती है, लेकिन अदालत में उसे अर्धविक्षिप्त करार दिया जाता और वह चोट से गर्भस्थ शिशु खो देती है। अंत में तलाक लेकर दिल्ली लौट आती है। दिल्ली में सहेली 'असीमा', बहन की पुत्री 'नीरजा' और दीदी नमिता की नौकरानी 'नर्मदा' से मुलाकात होती है और साहित्य, दर्शन, इतिहास, राजनीति, मनोविज्ञान के ज्ञाता बहुविज्ञ विपिन से निकट संपर्क स्थापित होता है। इन सभी पात्रों के वैचारिक आदान-प्रदान, इनसे जुड़ना-टूटना होते होते उसका व्यक्तित्व विकसित होता है। साथ ही अपने निकट रहनेवालों के विकास में वह सहायक भी होती है। इस क्रम में स्त्री-पुरुष संबंधों के अन्यान्य पहलू उद्घाटित होते जाते हैं। अंत में कठगुलाब का सपना संजोए गुजरात के गोधड़ के अभियान में शामिल होकर दुर्बलों की सेविका 'बा' (माँ) बन जाती है। समूचे उपन्यास में सारे प्रमुख पात्र अपने-अपने तरीके से सृजन (मातृत्व) रूपी कठगुलाब उगाने की कोशिश तो करते हैं, किंतु कठफोड़वा (क्रीड़ा जो कठगुलाब का नष्ट करता है-प्रतीक कामीपुरुष) उसे खा जाता है। स्मिता, मारियन (अमेरिकन मेधावी स्त्री) के जीवन को जारविस और इरविन जैसे कठफोड़वा भोगते हैं, गर्भस्थ शिशु के नष्ट होने का कारण बनते हैं।

विपिन कठगुलाब उगाना चाहता है, लेकिन उसे नीरजा रूपी बंजर मिलती है। असीमा, स्मिता, नीरजा, मारियन, नर्मदा सब संतानापेक्षी हैं, लेकिन किसी-न-किसी कारण से संतान-सृजन में विफल होने पर नर्मदा यदि दुर्बल बच्चों की माँ बनती है और आर्थिक स्वावलंबन पाकर आत्मनिर्भर, सम्मानजनक स्वस्थ विकल्प को अपना लेती है। मारियन सृजन दुबारा करती है। असीमा, स्मिता, विपिन गुजरात के पिछड़े गोधड़ में 'कुटुंब' की स्थापना करते हैं। इस प्रकार सब अपने-अपने तरीके से सृजन रूपी कठगुलाब उगाते हैं। आत्मनिर्भर और समाजोन्मुखी विकास ढूँढते स्त्री की सशक्तता को सिद्ध करते हैं। उपन्यास में पाँच पंखुड़ियाँ अर्थात् पाँच खंड हैं। पाँच पात्रों के नाम से जुड़े पाँचों अध्यायों को स्त्री-मुक्ति के पाँच द्वारों के रूप में चित्रित किया गया है। कठगुलाब को नारी-जीवन की निरर्थकता, विवशता, असफलता आदि के प्रतीक-रूप में भी प्रयोग किया गया है।

स्त्री-सशक्तीकरण के विश्लेषण से दो प्रमुख अंश उभरकर आते हैं, एक है सेक्स अथवा देह-मुक्ति, और दूसरा स्त्री-मुक्ति। आज मीडिया और वैश्वीकरण के तहत स्त्री के सौंदर्य, देह और श्रम को वस्तु की भाँति उपयोग किया जा रहा है। डॉ॰ सत्यदेव त्रिपाठी के विमर्शानुसार इस कृति को मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास मान लेंगे तो उपन्यास के स्त्री-पुरुष संबंधों की गड़राई-चौड़ाई का नग्न दर्शन होता है। उदाहरण है एक संवाद- 'क्या औरत मर्द से सिर्फ इसलिए आकर्षित होती है कि वह उसे बच्चा दे सकता है। अगर औरत मर्द के बिना, स्पर्श द्वारा, बच्चा पैदा कर सके, तो क्या औरत-मर्द के बीच का आकर्षण समाप्त हो जाएगा....।' किंतु विपिन की बातों में इन स्थूल संबंधों से परे एक विशिष्ट सत्य का साक्षात्कार होता है। वह कहता है- 'ऐसे जीवन का कोई मूल्य नहीं, जिसमें निस्वार्थ, निष्कलुष प्रेम का एक क्षण भी न रहा हो।' इस रचना में आनेवाले स्त्री-पात्रों की विद्रोही मनोवृत्ति वैयक्तिक जीवन से मात्र संबंधित है, फिर भी इस संघर्ष की महत्ता कम नहीं है। बाँझ नीरजा को सांत्वना देते विपिन की बातें महत्वपूर्ण हैं। उसका मानना है- 'संतान पैदा न कर पाने से कोई बंजर नहीं हो सकता और बहुत कुछ है,

जिसका सृजन हम कर सकते हैं।” लेखिका जीवन के लिए पूरक उपयोगी हर कार्य को सृजन की संज्ञा देती है। यह स्वस्थ दृष्टिकोण लेखिका की विशिष्ट रचनात्मक उपलब्धि है।

प्रभा खेतान शोषणमुक्त नारी-जीवन की पक्षधर हैं। उनका उपन्यास ‘छिन्नमस्ता’ स्त्री की दुर्भाग्यपूर्ण नियति को घोषित करता है। वह मस्तक-रहित अर्थात् बुद्धि-रहित जीव, देह-मात्र है। पुरुष-सत्तात्मक व्यवस्था में बुद्धिहीन नारी ही वांछनीय है। प्रभुता उसकी बुद्धिशक्ति को छिन्न-भिन्न करती आई है। आधुनिक नारी प्रिया प्रतिभा-संपन्न होने के कारण परिवार से दंडित होकर निर्वासित होती है। वह पत्नी से लेकर माँ तक की सारी भूमिकाएँ निभाती है, और पढ़ी-लिखी होने के कारण पति नरेंद्र के व्यवसाय में हाथ बँटाती है। नौकरी करते हुए परिवार को खुश रखती है, लेकिन पति की प्रभुता उसकी विदेश-यात्रा को स्थगित करने की कोशिश करती है। प्रिया इस लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन करती है तो माँ और पति के घर और मारवाड़ी समाज से निष्कासित होती है। प्रिया अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए पारिवारिक संबंधों को तोड़ते हुए परंपरागत मूल्यों का विरोध कर दमन-नीति का विद्रोह करती है, साथ ही दूसरों को भी इस दिशा में प्रेरित करती है। ‘छिन्नमस्ता’ परंपरागत स्त्री के मिथ को तोड़ता है। यह उत्तर आधुनिककालीन स्त्री का अन्याय के विरोध में उठाया गया साहसिक क़दम है।

नारी-उत्पीड़न का और एक चेहरा वीणा सिन्हा का उपन्यास ‘पथ-प्रज्ञा’ में उजागर होता है। यह स्मृति सम्मान प्राप्त रचना है। इसमें आध्यात्मिक ऊँचाइयों को छूते रहे प्रागैतिहासिक काल की विडंबना को आईना दिखाया गया है। मेधावी, अनुपम सौंदर्यवती, कलाकुशल चार चक्रवर्ती पुत्रों को जन्म देने की क्षमता-संपन्न राजकुमारी माधवी का पुरुष-सत्ता द्वारा मनमाना दोहन होता है।

विश्वामित्र का आत्मीय शिष्य गालव मित्र सुपर्ण की सलाह से स्वयं एक आश्रम निर्मित करना चाहता है। अतः गुरु विश्वामित्र का आश्रम छोड़कर जाने से पूर्व गुरुदक्षिणा देना चाहता है। गुरु की मनाही के बावजूद अति आग्रह करने पर विश्वामित्र असंभव गुरुदक्षिणा के रूप में आठ सौ श्वेतवर्ण श्यामकर्ण अश्वों की माँग करते हैं, ताकि गालव आश्रम छोड़कर न जाए। लेकिन गालव और सुपर्ण दोनों मिलकर राजा ययाती से आठ सौ अश्व पाना चाहते हैं। लेकिन ययाति उनके बदले चार चक्रवर्ती पुत्रों को जन्म देने की क्षमता-संपन्न, फिर भी कन्यत्व की पवित्रता बनी रहने का वर-प्राप्त पुत्री माधवी को उन्हें देता है। गालव भोजनगर के राजा उशीनर, अयोध्या के राजा हयश्रव, काशी के राजा दिवोदास को क्रमशः सौंपकर उनको एकेक चक्रवर्ती संतान दिलवाकर उनसे दो-दो-सौ अश्व पाता है। अंत में बचे दो सौ अश्वों के लिए ऋषि विश्वामित्र के पास ही लिवा लाता है। तब विश्वामित्र कहते हैं—‘.. यह अनुपम रत्न लेकर तुम व्यर्थ भटकते रहे। इन अश्वों का इस सौंदर्य के आगे कोई मूल्य नहीं। यदि तुम पहले ही इसे यहाँ ले आते तो निश्चित जानो इसके चारों पुत्रों का पिता मैं ही होता।’ जो ऋषिश्रेष्ठ की भी भोगलोलुपता का प्रमाण है। विश्वामित्र से भी एक पुत्र को जन्म देने पर उसे पुनः पिता के पास छोड़ दिया जाता है। तब पिता माधवी का स्वयंवर रचते हैं। स्वयंवर में माधवी अपने जीवन के इतिहास को उपस्थित राजाओं के सम्मुख उद्घाटित करती है। उसकी जीवन-कहानी सुनकर भी कई राजा लार टपकाते हैं, तो अंत में स्वार्थी संबंधों की परवाह किए बिना स्वयंवर के छद्म को भेदती हुई अंतरंग प्रेरणा से आलोकित प्रज्ञा-पथ पर वह चल पड़ती है। अपनी समूची ऊर्जा

और ज्ञान को सर्वजन-हित हेतु समर्पित करने का संकल्प कर शोषण, पीड़ा, देह-दोहन से मुक्ति मार्ग खोज लेती है। माधवी का यह निर्णय आज के संदर्भ में भी अधिक प्रासंगिक है। नारी-जागृति की रचनाकार की अभिलाषा में सफलता निहित है।

मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' और 'इदन्नमम्' उपन्यास स्त्री-सशक्तीकरण के नए पहलुओं से साक्षात्कार कराते हैं। 'चाक' उपन्यास की नायिका सारंग नैनी ब्रज के अंचल के अतरपुर गाँव के कृषक परिवार की साधारण पढ़ी-लिखी युवती है। सारंग के जीवन में भी कई उतार-चढ़ाव आते हैं। वह पति को चुनौती देती है। प्रेमी को अपनाती है। अंत में अतरपुर की सारी स्त्रियाँ मतभेद भुलाकर इकट्ठी होती हैं। समन्वित स्त्री-शक्ति के सहारे गाँव के प्रधान-पद के चुनाव में प्रत्याशी बनती है। इस प्रकार स्त्री-संगठन की शक्ति के परिणाम को दर्शानेवाली यह रचना लेखिका की लक्ष्यपूर्ति के 'चाक' में रूपायित होती जाती है। मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'इदन्नमम्' कई पुरस्कारों से सम्मानित है। बंगलौर की शाश्वती संस्था द्वारा 'नंजनगुडु तिरुमलांबा' पुरस्कार (1995 में), उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा 'प्रेमचंद सम्मान' (1996 में) एवं मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् द्वारा 'वीरसिंह देव' आदि पुरस्कार प्राप्त हैं। डॉ॰ निर्मला जैन का कथन है— 'वस्तुतः यह उपन्यास औरत होने की लड़ाई का उपन्यास है, वहीं उसकी सफलता और पठनीयता का कारण भी है।' प्रस्तुत उपन्यास में तीन पीढ़ी की नारी की संघर्ष-गाथा है—मंदा की दादी-बऊ, दादी की बहू-प्रेम बहू और प्रेम बहू की पुत्री मंदा।

तीनों अपने-अपने ढंग से पुरुष-प्रधान व्यवस्था में कष्ट झेलती हुई अपनी लड़ाई खुद लड़ती हुई मुक्त हो जाती हैं। इसमें बुंदेलखंड के दो गाँवों—श्यामली और सोनपुरा के लोकजीवन की कथा है। कथा की शुरुआत सोनपुरा छोड़कर श्यामली की ओर सफ़र करती हुई मंदा और उसकी दादी बऊ के चित्रण के साथ होती है। गाँव छोड़ने का कारण है, बऊ का पुत्र (मंदा के पिता) सोनपुरा में अस्पताल खुलवाना चाहता था और अस्पताल के उद्घाटन के समय उसकी हत्या हो जाती है। मंदा की विधवा माँ प्रेम बहू कुछ दिन बाद अपने बहनोई रतन यादव के साथ भाग जाती है। रतन यादव मंदा की जायदाद हड़पने के लिए प्रेम बहू को हथियार के रूप में इस्तेमाल करता है। प्रेम बहू के माध्यम से नाबालिग मंदा से वसीयत पर दस्तख़त करवाने की कोशिश करने लगता है। तब मंदा की दादी बऊ पोती मंदा को सुरक्षित रखने के लिए अपना गाँव छोड़कर अपने दूर के रिश्तेदार दादा पंचम सिंह के पास ले जाती है। रतन यादव के आदमी के वहाँ भी पीछे पड़ने के कारण बऊ अपनी मंदा को अज्ञात रखती है। इसीलिए श्यामली में भी छिपकर रहना अनिवार्य होता है। दादा पंचमसिंह तो अति निस्वार्थी भद्रपुरुष है, लेकिन उसका भाई काकाजू सहानुभूति और सहायता की आड़ में मंदा के पिता की सारी जायदाद हड़प लेता है। बचपन से ही मुसीबतों और कष्टों से घिरी हुई मंदा बालिग होकर अपनी लड़ाई खुद लड़ने का निर्णय लेती है और सोनपुरा लौट आती है। तत्पश्चात् उसकी विचारधारा में प्रौढ़ता आती जाती है। व्यष्टिवेदना से घिरी मंदा समष्टिवेदना से स्पंदित होने लगती है। अंत में वह समष्टि-हित की लड़ाई में अपने व्यक्तित्व को समर्पित कर देती है।

इस उपन्यास की नायिका के रूप में मंदाकिनी की कहानी 'या देवी सर्वभूतेषु, शक्तिरूपेण संस्थिता' के रूप में संघर्ष की प्रेरणा देती है। कथा-नायिका मंदा अपनी दादी के लिए 'बावरी सिरिन' है तो अभिलाख जैसे शोषकों के लिए 'काल-भैरवी' है। सरकारी तंत्र

के लोग मंदा को 'महाकाली' का संबोधन देते हैं। 'महाराज' उसे 'रानी लक्ष्मीबाई' की तरह हौसलेवाली मानते हैं और मोदिन जैसी ग्रामीण महिलाओं के लिए 'उसका मन दर्पण-सा साफ़' है।

इस तरह औरत होने की लड़ाई केवल वैयक्तिक न रहकर समष्टि-हित में परिणत होना वस्तुतः स्त्री-शक्ति की क्षमता से पाठक को रू-ब-रू कराता है।

श्रमजीवी तथा नारी-शोषण की महागाथा है चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'आवाँ'। अर्थ मानव-जीवन को नियंत्रित करनेवाला प्रमुख तत्त्व है। अर्थ-प्राप्ति के लिए प्रयत्नों में स्त्री को कभी देह-दोहन को विवश होकर सहना पड़ता है, पर यह मजदूर-संगठन, राजनीतिक दाँवपेच, नेताओं की आपसी होड़ आदि में फँसकर पिसते श्रमिकों और स्त्रियों की कहानी है। कथा-नायिका नमिता पांडे का अन्नासाहेब की हत्या की ख़बर सुनकर गर्भपात होता है तो धनबल पर पापड़ बेलकर आजीविका कमानेवाली नमिता की कोख ख़रीदने का, निःसंतान संजय कनोई का षड्यंत्र विफल होता है, तब वह निर्लज्जता से अपनी ही संतान पाने की इच्छा को यह कहते हुए अभिव्यक्त करता है— '.... मैं रंडियों का बाप बनना नहीं चाहता था मुझे नहीं गवारा था ऐसी किराये की कोखा।' नमिता को संजय के इस अपमानजनक षड्यंत्र का पता नहीं था। पता चलने पर प्राप्त ऐशोआराम को धिक्कारकर अभावभरी जिंदगी जीने लगती है। भविष्य में अपने शरीर का शोषण होने नहीं देती। नमिता तथा मजदूर नेता पवार शादी करना चाहते हैं। पवार भी नमिता के इस्तेमाल से नेतृत्व रूपी अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति करना चाहता है तो वह भी उसे ठुकरा देती है। बार-बार के मोहभंग से सबक सीखी नमिता अपनी अस्मिता को बनाए रखने के लिए श्रमिक परिवेश में शरण लेती है। इस प्रकार 'मध्यवर्गीय परिवार की देहरी से निकलकर निम्नवर्गीय झोंपड़ियों से संपर्क साधती है और अपने परिश्रम तथा प्रतिभा से उच्चतम वर्ग की विश्वस्त और अंतरंग पात्र बन जाती है। लेकिन जब वह पहचान लेती है कि हर जगह पाखंड और छद्म का वर्चस्व है, तो सभी को चुनौती देती हुई अपना गंतव्य-मार्ग स्वयं चुनती है।'⁴

उपर्युक्त अध्ययन से यह विदित होता है कि महिला-उपन्यासकारों ने अपनी इन रचनाओं के माध्यम से स्त्री-सशक्तीकरण की दिशा में स्त्री को जाग्रत करने का विशेष प्रयास किया है। आलोच्य उपन्यासों की लगभग सभी स्त्री-पात्र देहदोहन को निरस्त करती हुई अपनी अस्मिता की रक्षा का प्रयत्न करती हैं। और कुछ मात्र जीवन का अंतिम लक्ष्य न मानकर समाजसेवा के लिए आत्मोत्सर्ग करती हैं या दूसरे स्वस्थ विकल्प ढूँढ़ लेती हैं। लेखिकाओं ने इन उपन्यासों के द्वारा पुरुष-वर्चस्व, पुरुष-सत्ता के छद्म आदि से स्त्री-समाज को सतर्क करने, उसे सबला बनाने, स्वावलंबन का आलोक प्रज्वलित कराने का प्रयास किया है, जो वस्तुतः स्तुत्य है यह नई चेतना, नया वैचारिक आयाम मानव-कल्याण का सुखद संकेत है।

संदर्भ

- 1 मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ० 140-141
- 2 मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ० 140-141
- 3 वीणा सिन्हा, पथ-प्रज्ञा, पृ० 147
- 4 डॉ० वीरेंद्र सक्सेना, स्त्री-सशक्तीकरण के विविध आयाम, डॉ० ऋषभदेव शर्मा, 'लेखिकाओं द्वारा लिखे उपन्यासों की नयी रचना-दृष्टि' लेख से पृ० 7

‘सुरभि सप्तशती’ एक मूल्यांकन

डॉ० बाबूराम, एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

भारत में सतसई की परंपरा प्राचीनकाल से ही प्रचलित रही है। संस्कृत और अपभ्रंश से होती हुई सतसई-परंपरा की सरिता हिंदी में प्रवेश कर गई। हिंदी के आदिकाल से आधुनिककाल तक अनेक सप्तसइयों की रचना हुई है।¹ अकेले महाकवि हरिशंकर आदेश प्रवासी भारतीय ने अनेक सप्तसतियों की रचना की है।²

मानसपुत्र प्रोफ़ेसर हरिशंकर आदेश की सुप्रसिद्ध ‘सुरभि सप्तशती’ के 700 दोहों में वंदना, भक्ति, नीति, ज्ञान, प्रेम, सत्य, अहिंसा, दया, मानवता, राजनीति, दहेज, युद्ध, आतंकवाद, प्रकृति-चित्रण, राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति प्रेम, स्वास्थ्य, नारी-विमर्श, सत्संगति, संगीत, विज्ञान, नशा, समलैंगिकता आदि अनेक विषयों को स्पर्श किया है। तुलसीदास जी की तरह आदेश जी ने खलों और सज्जनों का चित्रण किया है—

दुष्टों को कर दूर से, तू दंडवत् प्रणाम।

हितेच्छुओं से छल न कर, दुःख में आएँ काम।³

इसी संदर्भ में उनका विचार है— राम नाम ही प्राण है, राम सृजन-निर्माण। राम-राम जपते रहो, पाओगे निर्वाण। कवि ने उसी व्यक्ति को बड़ा माना है, जिसका हृदय उदार है। सारा संसार उसी के गुणों का गान करता है—

बड़ा वही है विश्व में, जिसका हृदय उदार।

रहे मनो में, अधर पर, गुण गाए संसार।⁴

धर्म को लेकर इस संसार में अनेक संघर्ष हुए हैं। धर्म की आड़ में शिकार खेले जाते हैं। यह उक्ति सर्वविदित है। वास्तव में धर्म कोई दिखावा या पाखंड नहीं है। सत्य और सदाचार का नाम ही धर्म है। महाकवि आदेश जी बड़े अनुभवी हैं। वे सरगर्भित शब्दों में यह घोषणा करते हैं कि धर्म आपस में झगड़ा नहीं सिखाता। धर्म के बिना व्यक्ति अंधा है। धर्म समाज को जोड़ता है, तोड़ता नहीं। धर्म का वास्तविक स्वरूप समन्वय में है, विघटन में नहीं—

धर्म सिखा मत मूढ़ को, कर विवाद, न रार।

नयनहीन को अंध है, सारा ही संसार।⁵

महाकवि की मान्यता है कि कविता सरस, सरल और सुकुमार होनी चाहिए, जो पाठकों या श्रोताओं के मन को मंत्र-मुग्ध कर ले। उसके भाव भी सुंदर हों और भाषा भी—

कोमल कलित पदावली भाषा हो सुकुमार।

शुद्ध सरल रससिक्त हो, कविता का संसार।⁶

महाकवि आदेश जी के आदर्श बहुत ऊँचे हैं और विचार बड़े उदात्त हैं। वे भाग्य और

कर्म की तुलना करते हुए कर्म को प्रधानता प्रदान करते हैं और भाग्य को नकारते हैं, क्योंकि संसार में कर्मवीर ही आगे बढ़ते हैं, जो भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं, उनका पतन निश्चित है—

भाग्य-भरोसे बैठकर, करे न रंच उपाय।

शीघ्र हास होकर रहे, कोई नहीं सहाय।⁷

संसार परिवर्तनशील है। उत्थान-पतन प्रकृति का नियम है। उच्च को नीचा देखना पड़ता है और सेवक स्वामी बन जाते हैं। महाकवि आदेश जी ने इस तथ्य को इस दोहा में स्पष्ट किया है—

समय-समय की बात है, समय-समय का फेर।

महाराज सेवक बने, सेवक बनते शेर।⁸

हरिशंकर आदेश जी का हृदय भक्तिरस से परिपूर्ण है। वे रामभक्ति को जीवन का आदर्श मानते हैं। उनकी मान्यता है कि भक्ति की साधना निरंतर करते रहना चाहिए। व्यक्ति को नर्तक या अभिनेता नहीं सच्चा भक्त होना चाहिए। अहंकारी या पाखंडी को ईश्वर का प्रेम नहीं मिलता है—

रसना पी तू राम-रस, रामभक्ति पीयूष।

पिछड़ापन कह भक्ति को, बन मत तू शैलूष।⁹

महात्मा कबीरदास जी ने कहा है— भूखे भजन न होय गोपाला।¹⁰ इसी भाव को महाकवि आदेश जी ने इन पंक्तियों में व्यक्त किया है कि धर्म, कर्म, प्राण और भूखे के लिए रोटी ही भगवान है—

धर्म-कर्म सूझे नहीं, राग-रंग, रति, गान।

रिक्त उदर होता नहीं, भगवद् का भी ध्यान।¹¹

‘सुरभि सप्तशती’ में लगभग सभी रसों का समावेश हुआ है। शृंगार वर्णन सप्तशती की एक विशेषता है। बिहारी-सतसई इसका प्रबल प्रमाण है। महाकवि आदेश जी इसी भाव को व्यक्त करते हैं—

चंचल चितवन के चला, चित पर अचूक बाण।

रक्तपात बिन ले गई, रूपसि पल में प्राण।¹²

महाकवि ने सूर्य और कमल के प्रेम का भी वर्णन किया है कि कमल का अस्तित्व सूर्य पर निर्भर करता है। सूर्योदय होने पर वह विकसित होता है, सूर्यास्त होने पर कुम्हला जाता है—

सूर्य संग सोए-जगे, हँसे, बसे, कुम्हलाय।

सूर्य बिना अस्तित्व निज, शतदल सदा गँवाय।¹³

कबीरदास जी का कथन है कि प्रेम तो बलिदान से प्राप्त होता है। वह बाजार में नहीं बिकता है। इसी भाव के आधार पर आदेश जी ने भ्रमर को प्रेम का आदर्श बनाया है। वह प्रेम के पथ पर बलिदान दे देता है, परंतु उसे अपवित्र नहीं करता—

प्रीति करे ऐसी करे, जैसे करे मिलिद।

प्राण गँवाए, करे न पर, दूषित प्रेम-अलिद।¹⁴

आदेश जी ने भारतीय परंपरा के अनुसार ही गुरु की महिमा का गान किया है कि

जब कभी मन और बुद्धि पर जड़ता छा जाती है, तब गुरु के चरणों का ध्यान करना चाहिए, जिससे नई चेतना उत्पन्न हो—

जब-जब मन और बुद्धि पर, जड़ता-सी छा जाय।
गुरु-चरणों का ध्यान कर, नई चेतना आया।¹⁵

महाकवि जी ने दोहों में यत्र-तत्र नीति का वर्णन किया है। वे बड़े दूरदर्शी हैं। सत्य का ध्यान बचपन से ही रखना चाहिए, अन्यथा वृद्धावस्था में भाग्य और भगवान को कोसना व्यर्थ है—

शैशव से ही जब नहीं, रखा सत्य का ध्यान।
कोस रहा क्यों वृद्ध हो, भाग्य और भगवान।¹⁶

भगवान बुद्ध ने कहा है— 'आरोग्यं परमं सुखम्'। लोक में भी प्रचलित है कि सबसे पहले निरोगी काया। शरीर और मन स्वस्थ होने पर ही सभी कार्य सुचारु रूप से संपन्न होते हैं। रोगी का जीवन सभी के लिए कष्टकर होता है। कवि ने सच ही कहा है—

ध्यान न देकर स्वास्थ्य पर, भोगा भोग-विलास।
अपनी करनी से छिना, जीवन का उल्लास।¹⁷

कवि मानवतावादी हैं और वह विश्व में सर्वत्र मानव-प्रेम का साम्राज्य देखना चाहता है। यह प्रेम मनुष्यों में परस्पर अविभाज्य रहे—

मानवता का हो सदा, संस्कृति में साम्राज्य।
मानव-मानव प्रेम हो, अमर और अविभाज्य।¹⁸

आजकल समाज में विवाह-विच्छेद एक असाध्य रोग बनता जा रहा है। परिवारों का विघटन हो रहा है। सांस्कृतिक अवमूल्यन हो रहा है। अनेक विकृतियां और विसंगतियां उत्पन्न हो रही हैं। विवाह अब एक संस्कार न होकर दहेज-प्रथा के कारण एक व्यापार बन गया है। महाकवि आदेश जी की विचारधारा इसके विपरीत है। वे विवाह-संस्कार को दो आत्माओं का मिलन मानते हैं और सुख का सागर तथा जन्म-जन्मांतर का संग मानते हैं—

दो आत्माओं का मिलन, पाणि-ग्रहण संस्कार।
जन्म-जन्म का संग है, सुख का पारावार।¹⁹

संसार नश्वर है। यहाँ कोई भी चीज स्थिर नहीं है। दीप की काया नश्वर है। क्षणभर का खेल है। प्राण रूपी बत्ती साँसों का तेल लेकर जल रही है। आदेश जी लिखते हैं—

नश्वर काया-दीप का, है क्षण-भर का खेल।
प्राण-वर्तिका जल रही, ले साँसों का तेल।²⁰

आज भूमंडलीय के दौर में सारे संसार में भौतिकवाद की आँधी उमड़ रही है। अध्यात्मवाद कमजोर पड़ता जा रहा है। जैसे-जैसे भौतिक शरीर प्रबल होता जा रहा है, वैसे-वैसे आत्म रूपी निर्मल-ज्योति मंद पड़ रही है। आत्मज्ञानी ऐसा कहते हैं कि योग और भोग में मेल नहीं है। महाकवि आदेश जी का यह कथन बड़ा प्रासंगिक है—

जितनी भौतिकता बढ़े, हो अध्यात्म जग-क्षीण।
योग-भोग मिलते नहीं, कहते आत्म-प्रवीण।²¹

प्राचीनकाल से ही भगवान के स्वरूप को लेकर विवाद होता आया है, जो व्यर्थ है।

सर्वव्यापक भगवान का निवास कण-कण में है। अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिलब्ध महाकवि आदेश निराकार-साकार के विवाद को व्यर्थ मानते हैं। प्रत्येक प्राणी उसी का ही स्वरूप है—

निराकार साकार का, है विवाद बेकार।
सर्वव्याप्त भगवान का, हर प्राणी आकार।²²

आदेश जी ने गीता²³ के समत्वभाव को स्वीकार किया है। जीवन में सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय, सफलता-असफलता आते ही रहते हैं। उन सबमें समत्व भाव रखकर जीवन में कर्म करते रहना चाहिए—

जीवन रूपी बाग़ में, खिलते सुख-दुःख फूल।
एक-दूसरे के बिना, दोनों ही निर्मूल।²⁴

आदेश जी माता से विनय करते हैं कि हे माता! बाधाओं की बाढ़ से मेरा बेड़ा पार कर दो—

विनय करूँ कादंबरी, देवी! सुनो पुकार।
बाधाओं की बाढ़ से, कर दो बेड़ा पार।²⁵

महाकवि जी ने इस दोहे में प्रकृति का बड़ा सुंदर चित्रण किया है। जहाँ बिजली चमचम चमक रही है और मेघ की घटाएँ भयंकर रूप से घिर आई हैं। उन्हें देखकर मोर नृत्य कर रहे हैं। इसमें अनुप्रास की छटा भी द्रष्टव्य है। कवि का भाषा पर बड़ा अधिकार है। वह काव्यत्व के उच्च शिखर पर पहुँच गया है। चित्रात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं—

चमचम चमके चंचला, घटा घिरी घनघोर।
कैसे सुख से नाचता, देखो हर्षित मोर।²⁶

महाकवि आधुनिक अति यंत्रीकरण को मानव-समाज के लिए हितकर नहीं मानते हैं—

कंप्यूटर पर देखकर, दृश्य अत्यंत अश्लील।
अच्छे-अच्छों का अपल, भंग क्षरण हो शील।²⁷

आधुनिक कान्वैन्ट शिक्षा पर कवि ने कटाक्ष किया है, जो भारतीयता का नाश कर रही है। यह मीठा ज़हर संस्कृति के लिए बड़ा घातक है—

कान्वैन्ट शिक्षा करे, भारतीयता नाश।
मधुर गरल-सी कर रही, संस्कृति सत्यानाश।²⁸

कवि ने निःशस्त्रीकरण की वकालत की है। जहाँ हथियार होंगे वहाँ युद्ध अवश्य होंगे। यदि बंदर के हाथ में तलवार होगी, तो वह स्वयं को मारेगा या दूसरे को—

होते हैं हथियार जब, तब होता है युद्ध।
हो निःशस्त्रीकरण यदि, युद्ध होय अवरुद्ध।²⁹

आतंकवाद आज विश्वव्यापी समस्या है। प्रत्येक राष्ट्र इससे बड़ा दुखी है। आदेश जी ने इस भयंकर समस्या की ओर संकेत किया है—

देश-देश में हो रहे विध्वंसक बम-कांड।
आतंकवादी घूमते, बनकर छुट्टा सांड।³⁰

आदेश जी साहित्य के साथ-साथ संगीत सम्राट भी हैं। उन्होंने संगीत पर अनेक

पुस्तकें लिखी हैं। संगीत भगवान का वरदान है—

जिसे मिला संगीत का, स्वर का चिर वरदान।

उसको है आकाश ने, दिया स्वरों का दान।³¹

कवि ने नारी-विमर्श और नारी-सशक्तीकरण की ओर संकेत किया है, जो बड़ा प्रभावशाली है। आज भारत की नारियाँ उच्चतम पदों को सुशोभित कर रही हैं, जिसके फलस्वरूप आदेश जी को बड़ी प्रसन्नता हुई है—

देखा-देखी नरों की, बनी नारियाँ शेर।

राजनीति में हैं डटीं, बनकर आज दिलेर।³²

आजकल युवा पीढ़ी अनुशासनहीन होती जा रही है। कवि का कथन है कि जो विवेकहीन हो गए हैं, उनसे संवाद करने से कोई लाभ नहीं है—

युवकों से जूझो नहीं, करो न वाद-विवाद।

प्रायः विवेकशून्य हो, करते हैं संवाद।³³

पश्चिम की देखा-देखी भारत में भी समलैंगिक विवाहों का प्रचलन शुरू हो गया है, जो समाज के विनाश का द्वार है। महाकवि बड़े चिंतित हैं। मानवता के कराहने की उन्हें भी पीड़ा है। युवकों में नशे के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है, वह राष्ट्र के लिए बड़ा घातक है। इन सभी विसंगतियों को देखकर कवि ने सत्संगति की ओर प्रेरित किया है—

संगति कीजै संत की, मिले स्वतः हर इष्ट।

दुष्टों की संगति सदा, करती महा अनिष्ट।³⁴

आज पूरे विश्व में अणु ऊर्जा का बोलबाला है। अणु को भूलकर भी कमज़ोर मत समझो। महाकवि का कथन है—

अणु को मत समझो अबल, कभी भूलकर बंधु।

अणु ही है संसार में, सकल शक्ति का सिंधु।³⁵

महाकवि हरिश्चंद्र आदेश जी बड़े शिल्पकार हैं। भाषा उनके संकेत पर नृत्य करती है। अनुप्रास की छटा काव्य को सौंदर्य प्रदान कर रही है। कवि भक्ति और नीति के वर्णन में भाषा के कपाट खोल देते हैं। भाषा उनके भावों की पूर्णतः अनुगामिनी है। शैली सहज, सरल, रोचक और बोधगम्य है। रचना में चित्रात्मकता की छटा सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। विविध रसों की सरिता प्रवाहित हो रही है। मुहावरों और लोकोक्तियों के दर्शन ऐसे होते हैं, जैसे बादलों में बिजली चमक रही हो। बिंबों और प्रतीकों की छटा मानसरोवर के हंसों की तरह दिखाई पड़ रही है।

‘सुरभि सप्तशती’ में प्राचीनता के साथ आधुनिकता का मेल गंगा-जमुनी धारा के समान है। प्रवासी महाकवि हरिश्चंद्र आदेश का भारत के प्रति विदेशों में रहते हुए भी सहज आकर्षण है। कवि मानवता के हितार्थक हैं। संसार के गुण-अवगुण दोनों का ही उन्होंने स्वाभाविक चित्रण किया है। कवि के हृदय-जगत् में साहित्य-संगीत और कला-प्रेम की त्रिधारा गंगा-यमुना और सरस्वती की त्रिवेणी की तरह प्रवाहित हो रही है। महाकवि जी ने ‘सुरभि सप्तशती’ में गागर-में-सागर भर दिया है।

संदर्भ

1. डॉ० नगेंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
2. 'सुरभि सप्तशती' : यथानाम तथा गुण, डॉ० महेश दिवाकर, पृ० 6
3. सुरभि सप्तशती, महाकवि हरिशंकर आदेश, अखिल भारतीय साहित्य कला मंच, मुरादाबाद, 2008, पृ० 17
4. वही
- 5-9. वही, पृ० 18
10. श्यामसुंदर दास, कबीर ग्रंथावली
11. सुरभि सप्तशती, पृ० 19
12. वही, पृ० 19
13. वही, पृ० 20
14. वही, पृ० 21
15. वही, पृ० 22
16. वही, पृ० 23
17. वही, पृ० 23
18. वही, पृ० 24
19. वही, पृ० 24
20. वही, पृ० 30
21. वही, पृ० 31
22. वही, पृ० 32
23. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रैस, गोरखपुर
24. सुरभि सप्तशती, पृ० 34
25. वही, पृ० 35
26. वही, पृ० 40
27. वही, पृ० 51
28. वही, पृ० 51
29. वही, पृ० 52
30. वही, पृ० 53
31. वही, पृ० 56
32. वही, पृ० 74
33. वही, पृ० 89
34. वही, पृ० 92
35. वही, पृ० 93

□ 1733/8 सपड़ा कालोनी
सलारपुर रोड
कुरुक्षेत्र 136118
मो० : 093158-44906

साठोत्तरी हिंदी-उपन्यासों में दलित-नारी

प्रो. दिलीपकुमार कसबे

सद्गुरु गाडगे महाराज कॉलेज, कराड, (सातारा)

वास्तव में नारी धरती तथा प्रकृति है। उसमें नवनिर्माण की क्षमता होती है। वह हमेशा कोमलांगी, मृदु एवं मितभाषी रही है। स्त्री का एक पृथक् व्यक्तित्व है। पुरुष के साथ रहकर संतति-निर्माण के साथ संतति को संस्कारित करने की अहम भूमिका वह निभाती रही है। नारी प्रथम गुरु है, फिर माँ, बहन और अंत में प्रेयसी। इसके अलावा उसके कई रूप बताए जा सकते हैं। वह माँ के रूप में गुरु के पद पर आसीन होती है। अपने रूप एवं मृदुता के सहारे उसने सदा मंगलमय भावना रखी है। उसमें अपार सहनशीलता के दर्शन होते हैं। फिर वह किसी भी जाति, धर्म में जन्मी क्यों न हो। ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, जैन, पारसी एवं हिंदूधर्म की हो। वह अलग-अलग पोशाकों में नज़र आती है, लेकिन उसके अंदर का वात्सल्य तथा स्नेहभाव एक-जैसा होता है। उच्च, मध्य एवं निम्न वर्ग की हो, उनमें भेद नहीं होता। उनका रहन-सहन, खान-पान, प्रदेश भले ही अलग हो, लेकिन जीवन-संबंधी धारणाएँ एक-जैसी होती हैं। ऐसी नारी का अंकन रचनाकारों ने जीवन का एक अंग इस रूप में उसकी यथार्थता को लेकर किया है। साठोत्तरी उपन्यासों में उसके कई रूप मिलते हैं। इस काल में दलित-नारी की वास्तविकता स्थिति को देखना जरूरी है। उसके कई रूप सामने आए हैं—

स्त्री का परंपरागत जीवन :

नारी के बारे में अरस्तु ने कहा है—‘औरत केवल पदार्थ है, जबकि पुरुष गति है।’ मनु ने लिखा है नारी कभी स्वतंत्र नहीं है, न बाल्यकाल में, न यौवनकाल में, न वृद्धावस्था में। पुरुष ने अपनी सकल प्रभुसत्ता के लिए स्त्री को ख़तरा माना और उसकी सत्ता को घर की चारदीवारी में जकड़ दिया गया। चाहे राजनीतिक क्रांति हो, चाहे अर्थक्रांति हो, चाहे सामाजिक शोषण के खिलाफ़ संघर्ष की भूमिका हो, स्त्री की स्थिति सदा नगण्य रही है।’ अतः प्राचीन काल से नारी को अपनी दुर्दशापूर्ण स्थिति से गुज़रना पड़ा है।

भारतीय समाज में नारी सदा उपेक्षा की प्रतिमूर्ति रही है। देवी, सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा आदि नामों से पहचानी जानेवाली स्त्री शोषण की चक्की में पिसती रही है। वैदिककाल और उत्तर वैदिककाल में नारी की स्थिति सम्मानजनक थी। ‘वैदिककाल में गायन, वादन, नृत्य, चित्रकला एवं शिक्षा का भी अधिकार रहा है तो उत्तर वैदिककाल या ब्राह्मणकाल में ‘स्त्री हि ब्रह्म वभूविव²’ यानी उसे ब्रह्म तक का गया है। स्मृतिकाल और मध्यकाल से ही नारी को गिरावट की छाया से गुज़रना पड़ा। रामायण में सीता, उर्मिला, कौसल्या सब उपेक्षित रही हैं तो महाभारत में कुंती, द्रौपदी एवं गांधारी इसी के प्रमाण हैं। आज तक खुले-आम नारी की बात बर्दाश्त नहीं हुई है। शक्ति, लक्ष्मी, सरस्वती, देवी, दुर्गा जैसी संज्ञाओं से केवल उसे संबोधित किया जाता है,

अतः पुरुष की कथनी और करनी में अंतर रहा है। इसी कारण नारी की दुर्गति हुई है।

दलित-स्त्री :

भारतीय समाज में उच्चवर्ग ने सदा से दलितों का शोषण किया है। उच्चवर्ण की परंपराओं, रीतिरिवाजों एवं संस्कृति का अनुसरण दलित-समाज करता आ रहा है। उच्चवर्ण में नारी की जो स्थिति रही, वही स्थिति दलित-समाज में रही है। लेकिन उच्चवर्णीय नारी का अधिकांश समय घर की चारदीवारी में बीता तो दलित-नारी का आकाश की छत के नीचे धूप में पसीने से तर मेहनत-मजदूरी में। दलित एवं अस्पृश्य स्त्रियों के बारे में पेशवाकालीन संदर्भ मिलता है कि 'शूद्र वर्ण की स्त्रियों को हमेशा मेहनत-मजदूरी करनी पड़ती, उन दिनों ब्राह्मण, सुनार, कायस्थ, उच्च मराठा समाज की नारियों को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं था, लेकिन बहुजन नारियों को पुनर्विवाह का अधिकार था।'³ यानी दलित-नारी मेहनत-मजदूरी करती दिखाई देती है। आज भी उसकी यही हालत है। उसे सबसे पुनर्विवाह का अधिकार रहा है। परिणामतः वह बंधनमुक्त रही है। उच्चवर्णीय नारी की तुलना में वह अधिक अनुभव-संपन्न रही है। छुटपन से ही कड़ी मेहनत, उपेक्षा का परंपरागत जीवन, वधू-मूल्य लेकर छोटी उम्र में बेची जानेवाली, परिवार तथा बच्चों की पूरी जिम्मेदारी उठाने वाली दलित-स्त्री अपने तथा पराए पुरुषों से सताई जानेवाली के रूप में प्रस्तुत हुई है।

'20 वीं शती के अंतिम दशक से ही विश्वभर के बुद्धिजीवियों से स्त्रियों के प्रश्नों पर चर्चा शुरू हुई। उच्चवर्णीय स्त्री में वर्ण को लेकर अहंकार-भाव है, श्रेष्ठता-ग्रंथी है। उनमें अन्य वर्णों की स्त्रियों की ओर उपेक्षा से देखने की वृत्ति है। दलित-नारी में परंपरा द्वारा नकारी गई तथाकथित हीनता-ग्रंथि है। डॉ० अम्बेडकर ने एक स्थान पर कहा है कि 'स्त्री दलितों में भी दलित है।' वास्तव में सभी वर्णों की स्त्रियाँ बुरी तरह से कुचली गई हैं, लेकिन दलित स्त्री सबसे ज्यादा कुचली गई है, शोषित है। आशारानी व्होरा ने लिखा है कि 'श्रमिक वर्ग की ये महिलाएँ घर और बाहर के दोनों कामों की चक्की में पिसती हैं। उस पर भी जो कमाती हैं, अपने ऊपर उसका दसवाँ भाग भी खर्च नहीं कर सकतीं, क्योंकि पुरुष अपनी कमाई प्रायः अपने घर पर ही फूँक देते हैं। घर-खर्च का जिम्मा वे कम ही लेते हैं। घर का खर्च अधिकतर इन्हें ही चलाना पड़ता है। अनेक परिवारों में पति स्त्री का पैसा जेवर आदि भी छीनकर जुए और नशाखोरी में उड़ा देते हैं। स्त्री के मना करने पर या यों भी ज़रा-सी बात पर पति द्वारा पिटाई इनमें आम बात है।'⁴ यह बात सच है कि दलित-वर्ग में ज़रा-सी बात पर पति-पत्नी में महाभारत छिड़ता है। वह स्त्री मेहनत-मजदूरी करके परिवार चलाने में अहम भूमिका निभाती है। इसी कारण वह विवाद या संघर्ष में शीर्षस्थ रही है।

उपन्यास में नारी :

नारी समाज का अभिन्न अंग है। वह मानव-जीवन में छाई हुई है। इसी कारण ऐसा कोई उपन्यास नहीं है, जिसमें नारी का एकाध रूप न हो। रमणी, माँ एवं वेश्या आदि रूप सर्वत्र रहे हैं। रमणी या प्रेयसी का रूप अधिक उभरा है। 'परीक्षा-गुरु', 'भाग्यवती' आदि उपन्यासों में नारी आदर्श रूप में प्रस्तुत हुई है। सतीत्व की रक्षा करनेवाली या आदर्श पत्नी के रूप में। आजकल हिंदी में कृष्णा सोबती, कृष्णा अग्निहोत्री, कुसुम अंसल, शिवानी, ममता कालिया, नमिता सिंह, महाश्वेतादेवी, मृदुला गर्ग, शशिप्रभा शास्त्री, मन्नु भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा,

पद्मा सचदेव आदि ऐसी कई लेखिकाएँ हैं, जिन्होंने नारी को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है।

साठोत्तरी उपन्यासों में दलित-नारी :

हिंदी में दलित-विमर्श या दलित-जीवन को केंद्र में रखकर लेखन करनेवालों में दलितेतर और दलित लेखक हैं। दलितेतर लेखकों ने शोषित दलित-नारी का अंकन किया है, तो दलित लेखकों ने औसत नारी के रूप में उसका अंकन किया है। हिंदी में भगवतीप्रसाद शुक्ल कृत 'खारे जल का गाँव' (1972), हिमांशु जोशी कृत 'कगार की आग' (1981), मधुकरसिंह कृत 'उत्तरगाथा' (1979), जगदीशचंद्र के 'धरती धन न अपना' (1987), 'नरक कुंड में बास' (1994), मोहनदास नैमिशराय के 'मुक्ति-पर्व' (2004), 'आज बाज़ार बंद है' (2006), जयप्रकाश कर्दम के 'करुणा' (1990) और 'छप्पर' (1994), मदन दीक्षित का 'मोरी की ईंट' (1996), रामधारीसिंह दिवाकर का 'आग पानी आकाश' (1999), रामदरश मिश्र का 'जस-तस भई सवेर' (1998) आदि बहुत से ऐसे उपन्यास हैं, जिनमें दलित जीवन-चित्रण में दलित स्त्री अपने पृथक रूप में चित्रित हो चुकी है।

शिक्षित :

दलित-वर्ग सदियों से अज्ञान, अशिक्षा और अंधश्रद्धा से मुक्त परंपरागत शोषण का जीवन जी रहा है। शिक्षा के प्रति उनमें परंपरागत दृष्टि मिलती है। बढ़ती महँगाई, शिक्षा का बाज़ारीकरण, परंपरागत पुरानी रूढ़ियाँ, अंधविश्वास आदि कई कारणों से दलित समाज, विकास से पिछड़ रहा है। संविधान में आरक्षण जरूर मिला है, फिर भी दलितों में नारी-विकास बहुत कम है, ऐसा लगता है। शिक्षित नारियों की तुलना में अशिक्षित नारीवर्ग की संख्या अधिक है। शिक्षितों में 'मोरी की ईंट' (1996) में मार्था जौनेथन, फ्लोरा और मोनिका सुशिक्षित और सुसंस्कृत नारियों के रूप में सामने आती हैं तो मंगो और डोरा सिर्फ साक्षर लगती हैं।⁵ 'आग पानी आकाश' (1999 ई०) में भागवत बाबू की पत्नी शकुंतलादेवी स्कूल में मास्टर है। युगेश्वर की पत्नी कामना घोष और साली अमोलकुमारी दोनों एम०ए० हैं।⁶ तथा 'आज बाज़ार बंद है' (2006 ई०) में वेश्याजीवन पर आधारित उपन्यास में शबनम, हसीना और पार्वती शिक्षित हैं, लेकिन केवल शबनम एम०ए० तक पढ़ी है।⁷ तथा 'अपनी सलीबे' (1995 ई०) में मधुलिका भारती, इकॉनॉमिक्स में पढ़ने की बात स्पष्ट होती है।⁸ बाक़ी अन्य उपन्यासों में अधिकतर नारियाँ अशिक्षित लगती हैं। जैसे 'करुणा' में रीता आठवीं तक, 'मुक्तिपर्व' में बाला पाँचवीं तक, 'उत्तरगाथा' में रेवती पाँचवीं तक पढ़ी है। वह शिक्षित होने लगी है, लेकिन उनमें आर्थिक सुधार की जरूरत है।

शोषित :

अधिकांश दलित नारियों का शोषण हुआ है। इसका मतलब साफ़ है कि नारी शोषित है। उच्चवर्णीय समाज और दलित-समाज दोनों वर्गों में नारी का शोषण चल रहा है, किंतु साठोत्तरी काल में दलित नारी का, अपने परिवार में और उच्चवर्णीय समाज द्वारा आर्थिक, मानसिक, सामाजिक और यौन-शोषण दिखाई देता है। 'नरक कुंड में बास' में मंजू की पत्नी, 'खारे जल का गाँव' में चनकी, मटिया, पुनिया, 'छप्पर' में कमला, 'मोरी की ईंट' में मँगिया, रम्पिया, 'कगार की आग' में गोमती, 'उत्तर-गाथा' में रेवती, 'शैलूष' में ताहिरा, 'धरती धन न

अपना' में ज्ञानो, चाची, प्रितो की माँ, 'आज बाज़ार बंद है' में पार्वती, शबनम, मुमताज, हसीना पूनम, 'आकाश की छत' में रूपमती, 'डूब' में गोराबाई, 'आग पानी आकाश' की सुभागिया, तथा 'जस तस भई सवेर' में धुसिया, रामरती, सन्नो और सुनहरी जैसे पात्र परिवारवालों से कम और उच्चवर्णियों द्वारा, ठाकुर, पूँजीपति और जमींदारों से यौन-शोषित हैं। 'उत्तर-गाथा' में रेवती की सास परमा के विवाह के दूसरे दिन से ही शिवजी मालिक की यौन-शिकार बन जाती है। शिवजी मालिक उसका हाथ पकड़कर कहते हैं, 'घबड़ा नहीं। तुम्हारा मरद आज की रात नहीं आएगा।'⁹ उसके बाद शोषण का क्रम जारी रहता है। 'मोरी की ईंट में रंपिया को हर रात साहू साहब की खाँची में जाना पड़ता था। उसका कथन है कि 'मुझे इस नरक से छुट्टी दिलाओ।'¹⁰ विवेचित सभी नारियाँ शोषित हैं। मालिक, जमींदारों द्वारा 'बलात्कारित विरोध करने पर मालिक और पुलिस तथा ठाकुरों द्वारा उल्टा आरोप लगाकर सताई गयी हैं।' 'आज बाज़ार बंद है' में पार्वती के देवदासी बनने पर पहले भोग गाँव का पटेल, फिर मंदिर का पुजारी और बाद में गाँव के अन्य प्रतिष्ठित लोगों से शोषण की चक्की में वह पिसती नारी नज़र आती है। यानी चित्रित कृतियों में अधिकतर नारियाँ शोषित नारी के रूप में स्पष्ट होती हैं।

विद्रोही :

सहनशीलता की एक सीमा होती है। नारी ने हमेशा मर्यादा का पालन किया है। लेकिन चींटी को भी सताए जाने पर वह काट देती है। दलित नारियों ने अंत में यही रवैया अपनाया हुआ नज़र आता है। 19वीं सदी के उत्तरार्ध से ही स्त्रियों में सामाजिक परिवर्तन आने लगा था। शोषण के खिलाफ़ दलित नारियों में विद्रोह उभर उठा था। 'खारे जल का गाँव' में चनकी, किस्सूसिंह का काम करने से इंकार करती है। पति छिद्दन द्वारा झापड़ पड़ने पर कहती है— 'तू गुलामी कर अपने मालिक केर, हम न करबा। हम मइके जाय रहे हन।'¹¹ 'शैलूष' में रूपा और मयनवा विद्रोही है। अत्याचार की स्थिति में जेहाद बोलती है। 'उत्तर-गाथा' में रेवती मालिक के खिलाफ़ हँसुआ उठाकर अपना विरोध दर्शाती है। 'डूब' की गोराबाई, 'आकाश की छत' में रूपमती, 'मोरी की ईंट' में मंगिया जमादार से कहती है— 'मुझसे अटकेंगे तो चौराहे पर ऐसा घड़ा फोड़ूँगी कि साहू साहब की सात पुशतों पानी माँग जाएँगी।'¹² कन्हैयालाल और साहू साहब की बुरी निगाह से वह परेशान हो गई थी। अतः आज स्वयं वह अपनी रक्षा करने लगी है। दलित नारी की भी सवर्ण नारी की तरह इज़्ज़त, अस्मत होती है। 'आज बंद है' में पार्वती, इंसपेक्टर से उल्टी-सीधी बात करती है। आक्रोश-भरे स्वर में नारी की गुलामी बर्दाश्त न करते हुए कहती है, 'नहीं औरतें पैदाइसी गुलाम नहीं होतीं। गुलाम उसे आदमी बनाता है। रस्म-रिवाज बनाती हैं, जिन्हें मैंने कभी का छोड़ दिया है।'¹³ अर्थात् दलित-नारी में आज विद्रोह के तेवर नज़र आते हैं। स्पष्ट है, वह पैदाइसी गुलाम नहीं है।

सामाजिकता :

विवेच्य उपन्यासों में दलित-नारी शोषित के रूप में अधिक चित्रित हुई है, अतः स्पष्ट होता है कि विकास-क्रम में दलित-नारी पिछड़-सी गई है। सामाजिक, शैक्षिक या राजनीतिक क्षेत्रों में उसका योगदान बहुत कम लगता है। सामाजिकता की दृष्टि से 'छप्पर' में कमला हर सामाजिक कार्य में सहायक बनी नज़र आती है। 'खारे जल का गाँव' में चनकी

अपने समाज के लिए, उनके अन्याय के खिलाफ कभी सरपंच से, कभी ठाकुर करनसिंह से, तो कभी बिहारीलाल से लड़ती नज़र आती है। 'मोरी की ईंट' में मंगिया हर समय सामाजिक प्रश्नों या समस्याओं का मुकाबला करती है। 'आग पानी आकाश' में सुमरितलाल की पत्नी का कथन है— 'भगवान ने कोई संतान नहीं दी मुझे। कोई संतान होती तो मैं यही सिखाती कि अपने समाज को, अपने लोगों को कभी मत भूलना।'¹⁴ यानी आज उसमें सामाजिकता के दर्शन होने लगे हैं। समाज द्वारा इतनी यातनाएँ सहन करने के बावजूद उसमें समाज-विकास की लालसा है। लेकिन उसे उन्नति का अवसर प्राप्त करा देना आवश्यक है। हर समाज की नारी अपने समाज-विकास में सहायक बनी तो आदर्श समाज की स्थापना होगी।

निष्कर्ष :

साठोत्तरी उपन्यासों में दलित-नारी मुख्य रूप से शोषित के रूप में अंकित हुई है। इससे लगता है भारतीय समाज में दलित-नारी के विकास के अन्य रूप अभी-भी कमजोर हैं। सवर्ण पुरुष आजी भी अधिकार की परंपरागत भावना से उसे देखते हैं। उसका अज्ञान, गरीबी, आर्थिक मजबूरी आदि से वह बेबस लगती है। आजादी के बाद स्त्री की सबलता के लिए जो भी प्रयास किए जा रहे हैं, या जो योजनाएँ चलायी जा रही हैं, वे तेज़ गति से नारियों तक पहुँचाना ज़रूरी है। अशिक्षा, शोषण आज भी शुरू है, इसी वजह से विवेच्य उपन्यासों में दलित-नारी के यही रूप प्रस्तुत होते हैं। दलित-विकास में यह देखना ज़रूरी हो गया है कि पुरुषों के साथ विकास क्रम में नारी किस मोड़ पर है। दलित-नारी का यह उपेक्षित चित्रण भारतीय समाज में नारी-वर्ग की दुर्दशा को प्रकट करने का प्रमाण है। लेकिन इतना सच है कि दलित-नारी आत्मरक्षा में समर्थ-सी लगती है। उच्च-शिक्षा क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज कर रही है, जिससे उसका भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल-सा लगता है। मंगिया, चनकी, पार्वती, कमला, सुमरितलाल की पत्नी गतिशील नारियाँ हैं।

संदर्भ

1. डा० सुदेश बत्रा, नारी अस्मिता हिंदी-उपन्यास में (रचना प्रकाशन, जयपुर), सं० 1998, पृ० 22
2. आशारानी व्होरा, भारतीय नारी : दशा-दिशा (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली), पृ० 05
3. डा० ज्योति लाजेकर, भारतीय समाज आणि स्त्री (2005) पृ० 54
4. आशारानी व्होरा, भारतीय नारी : दशा-दिशा पृ० 105
5. मदन दीक्षित, मोरी की ईंट, (शब्दकार, दिल्ली संस्करण 1999), पृ० 47, 177
6. रामधारीसिंह 'दिवाकर', आग पानी आकाश (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली), पृ० 104
7. मोहनदास नैमिशराय, आज बाज़ार बंद है, (वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं० 2006), पृ० 34
8. नमिता सिंह, अपनी सलीबें (राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, संस्करण 1995), पृ० 97
9. मधुकर सिंह, उत्तर-गाथा (विद्या प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, संस्करण 1979), पृ० 34
10. मदन दीक्षित, मोरी की ईंट, पृ० 133
11. भगवतीप्रसाद शुक्ल, खारे जल का गाँव (स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1972), पृ० 76
12. मदन दीक्षित, मोरी की ईंट, पृ० 122
13. मोहनदास नैमिशराय, आज बाज़ार बंद है, पृ० 141
14. रामधारीसिंह दिवाकर, आग पानी आकाश, पृ० 45

जनसंचार-माध्यमों के परिप्रेक्ष्य में हिंदीभाषा

डॉ० सतीश शर्मा जाफरावादी

अध्यक्ष, हिंदी विभाग

एस.डी.पी.जी. कालेज दनकौर, ग्रेटर नोएडा (गौतमबुद्धनगर)

वर्तमान युग सूचना-प्रौद्योगिकी का है। प्रौद्योगिकी के इस युग में समूचा विश्व कंप्यूटर-क्रांति के दौर से गुज़र रहा है। इस क्रांति के चलते विश्व की अनेक भाषाएँ या तो परिवर्तन की शिकार हैं या फिर सूचना-उपकरणों के साथ समायोजित नहीं होने के कारण अपनी दुरावस्था में हैं। संसार-भर की भाषाओं के 16 कुलों में से एक भारोपीय कुल की भाषा हिंदी भी इन परिवर्तनों से अछूती नहीं है। सूचना-प्रौद्योगिकी के इस युग में जो भाषाएँ तकनीक के साथ संतुलन बनाकर परिवर्तनशील हैं, उनकी उम्र और प्रयोगकर्ताओं की संख्या निरंतर बढ़ रही है। जो भाषाएँ समय के अनुरूप परिवर्तनशील नहीं हैं, वह समाप्ति की ओर हैं। आज हिंदीभाषा सूचना-उपकरणों की भाषा बनकर जनसंचार-माध्यमों के द्वारा अपने चहुँमुखी विकास की ओर अग्रसर है। आधुनिक कहे जानेवाले वर्तमान परिवेश में हिंदीभाषा का जो परिवर्तित रूप हमारे सामने है, इसके अनेक नाम विद्वान दे रहे हैं।

‘विद्वान इसे नई हिंदी, हिंग्लिश, हंग्रेजी, अच्छी हिंदी, मिश्रित भाषा और खिचड़ी भाषा की संज्ञा दे रहे हैं।’ यह नामकरण किस हद तक उचित है, पर विचारणीय अवश्य है। अंग्रेज़ी-हिंदी-मिश्रित शब्दावली से जो भाषा तैयार हो रही है, उपर्युक्त नाम उसी के है। जैसे-‘यही है राइट चौइस बेबी’, ‘इंडिया के ऑल टाइम ग्रेट स्टार’, ‘अचानक लॉन में बैठे-बैठे लेखक के माइंड में एक कहानी का आइडिया आया’ आदि वाक्य हिंग्लिश के हैं।

इस नई हिंदी पर गहन शोधकार्य भी हो रहे हैं। विद्वानों का एक वर्ग इसे बढ़ावा दे रहा है तो दूसरा वर्ग इसकी कटु अलोचना कर रहा है। हिंदीभाषा का यह नवविकास सबसे अधिक जिन कारकों के द्वारा हो रहा है, उनमें समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, रेडियो, टेलिविज़न और इंटरनेट प्रमुख हैं। इनके द्वारा ही हिंदीभाषा में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है संचार-माध्यमों में नई हिंदी के दिनों-दिन बढ़ते प्रयोग से भाषाविद् यहाँ तक कह रहे हैं कि आनेवाला समय हिंग्लिश का ही होगा। अनुमान यहाँ तक भी लगाए जा रहे हैं कि आगामी दो दशकों के पश्चात् विश्वभर में बोलचाल और लेखन की एकमात्र सर्वव्यापी और सर्वग्राही भाषा हिंग्लिश ही होगी।

विद्वानों का एक वर्ग भाषा के इस नवरूप का विरोध कर रहा है। तर्क है कि हिंग्लिश शुद्ध हिंदी नहीं है। इसमें हिंदी के वास्तविक भाव उत्पन्न नहीं होते, यह हिंदी का मज़ाक है।.... आदि आदि भाषा के कर्णधारों से मैं यह पूछना चाहता हूँ कि क्या भाषा सदैव एक ही अवस्था में बनी रह सकती है? क्या अबसे पूर्व हिंदीभाषा में परिवर्तन नहीं हुए हैं।

तो फिर क्या भविष्य में नहीं होना चाहिए? परिवर्तन जीवन का नियम है। यह नियम सभ्यता-संस्कृति के साथ-साथ भाषा पर भी लागू होता है। भाषाशास्त्री भले ही हिंदी के इस पर रूप की आलोचना करके इसको मुँह चिढ़ाने का प्रयास कर रहे हों, पर जनमत को नहीं झुठलाया जा सकता। हिंदीभाषा प्राचीनकाल से ही देशी-विदेशी अनेक भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करके सूचना तकनीक के साथ चलकर समृद्धि की ओर है। भाषा में परिवर्तन सकारात्मक हो या नकारात्मक, भाषाविज्ञानियों की दृष्टि में यह भाषा का विकास है। अन्य विदेशी भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करके ही हिंदी वैश्विक बनेगी। अन्य भाषाएँ भी हिंदी के शब्दों को ज्यों-का-त्यों प्रयोग कर अपना विकास कर रही हैं।

‘अँग्रेजी भाषा में ऐसी कोई बाध्यता नहीं है। इसकी विश्वव्यापी ग्राह्यता का यही कारण है कि वह निरंतर नए शब्दों का स्वागत करने में संकोच नहीं करती। फोर्ड अँग्रेजी में कोई शुद्ध अँग्रेजी की बात नहीं करता, जो करता है बोधगम्य अँग्रेजी की, संप्रेषणीय अँग्रेजी की, अच्छी अँग्रेजी की बात करता है। आक्सफोर्ड एडवांस्ड लर्नर्स डिक्शनरी का 15 फरवरी 2005 में सातवाँ संस्करण जारी किया गया। इसमें विश्व की विभिन्न भाषाओं के करीब तीन हजार शब्द सम्मिलित किए गए हैं। ये शब्द शोधकर्ताओं ने वैज्ञानिक सर्वेक्षण के पश्चात् खोजे हैं। इस शब्दकोश में भारतीय शब्द-बंदोवस्त, बनिया, जंगली, गोदाम, पंडित, आत्मा, कच्चा, कढ़ी, झुग्गी, समोसा, दोसा आदि भी सम्मिलित हैं।’²

यहाँ उल्लेखनीय है, विश्व की 620 करोड़ की आबादी में कभी 7 से 8 हजार भाषाएँ प्रयोग में लाई जाती थीं, लेकिन वर्तमान में लगभग 6 हजार भाषाएँ ही जीवित हैं। अत्याधुनिकता के बदलते परिवेश में सन 2050 ई० तक विश्वभर में कुल 2500 भाषाएँ ही अपने अस्तित्व को बचा पाएँगी। इन भाषाओं में आज भी 497 भाषाएँ अपनी अंतिम अवस्था में हैं। अकेले भारत में, जिसकी वर्तमान आबादी 115 करोड़ के आँकड़े को पार कर गई है, के छत्तीसगढ़ प्रांत की 77 बोलियों का अस्तित्व संकट में है। यहाँ कुल 427 भाषाओं का प्रयोग होता है। विश्व में ‘न्यु पापुआ गिनी’ ऐसा देश है, जहाँ सबसे अधिक 820 भाषाएँ प्रयोग में लाई जाती हैं। सबसे कम भाषाओं का देश उत्तरी कोरिया है, जहाँ मात्र एक ही भाषा प्रयोग में लाई जाती है। अभी भी दुनिया-भर में 119 भाषाएँ ऐसी हैं, जिन्हें जुबान और कानों के बजाय आँखों और हाथों की ज़रूरत होती है। विश्व की 95 प्रतिशत भाषाओं का प्रयोग तो 6 प्रतिशत लोग ही करते हैं।

वर्तमान में दुनिया में सर्वाधिक प्रयोग में लाई जानेवाली आठ भाषाएँ— अँग्रेजी, स्पेनिश, रूसी, अरबी, फ्रेंच, पुर्तगाली, मलय और इंडोनेशियन हैं। हिंदी और बंगला विश्व में सबसे अधिक बोली जानेवाली दस भाषाओं में से हैं। इनके प्रयोगकर्ता क्रमशः 49.6 करोड़ और 21.5 करोड़ हैं।’³

जनसंचार-माध्यमों की पीठ पर सवार होकर आज हिंदी ग्लोबल यानि वैश्विक हो गई है। वैश्वीकरण की यह प्रक्रिया प्राचीन काल से जारी है। जनसंचार के साधनों का अभाव होने के कारण पूर्व में भाषाओं के शब्दों का आदान-प्रदान यात्रा और युद्ध के दौरान एक प्रांत से दूसरे में आने-जाने वाले व्यक्तियों के द्वारा होता था। वहीं वर्तमान में जनसंचार-माध्यमों, रचित साहित्य और विदेशों में रह रहे लोगों द्वारा यह कार्य हो रहा है। प्राचीनकाल में जो भी

आक्रमणकारी विजेता भारत आए, वे केवल धन-संपदा ही नहीं अपितु हमारी भाषा हिंदी के शब्द भी अपने साथ ले गए। मुगल शासक बाबर को युद्धभूमि में यहाँ की गर्मी के कारण 'पानी' शब्द सीखना पड़ा था। बाद में 'रोटी' शब्द से भी परिचय करना पड़ा। युद्धभूमि में जो भी सैनिक विदेश लौटते थे, वे अपने साथ यहाँ की भाषाओं के शब्द और भाव-भंगिमाएँ ही साथ लेकर जाते थे। 'हिंदी' के अनेक शब्द मध्यकाल से ही यूरोप में पहुँच चुके थे। विदेशी तत्कालीन समय में हिंदी-शब्दों को फ़ारसी या रोमन लिपि में लिखकर प्रयोग करते थे। तिब्बत और मानसरोवर (केलास) के रास्ते हिमालय को पार कर हिंदीभाषा के शब्द चीन वर्मा और इंडोनेशिया तक पहुँचे।⁴

तत्कालीन समय में हिंदीभाषा के शब्द ही विदेशियों के प्रयोग में नहीं आए, बल्कि हिंदी में भी अब तक विदेशी भाषाओं के लगभग 10 हजार से अधिक ऐसे शब्द ऐसे रच-बस गए हैं कि वह मूल हिंदी-जैसे ही लगते हैं। कहने का आशय यह है कि शब्द-ग्रहण की यह परंपरा पुरानी है। उपर्युक्त शब्द वर्षों से हमारे प्रयोग में हैं, लेकिन यह कैसी हास्यास्पद स्थिति है कि विद्वानों का एक वर्ग विदेशी शब्दों व अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने में शुद्धता का तर्क देकर प्रबल विरोध करता है, जबकि वास्तविक स्थिति यह है कि विभिन्न भाषाओं के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके ही हमारी हिंदी आज वैश्विक हुई है।

प्रयोगकर्ताओं की दृष्टि से हिंदी आज विश्व की दो बड़ी भाषाओं में से एक है। वर्ष 1998 तक भाषाओं के जो आँकड़े मिलते हैं, उनमें हिंदी को चीनी और अँग्रेजी के पश्चात् तीसरा स्थान मिलता था। लेकिन अब नवीन शोध के पश्चात् यह सिद्ध हो चुका है कि विश्व में चीनी भाषा के पश्चात् हिंदी का दूसरा स्थान है। 25 मई 1999 ई० को केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा द्वारा 'यूनेस्को' की टेक्नीकल कमिटी फॉर द वर्ल्ड लैंग्वेजिज को प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध कराई गई थी। रिपोर्ट के अनुसार 'एनकार्टा एनसाइक्लोपीडिया 1998 में विभिन्न भाषाओं के मातृभाषियों की संख्या इस प्रकार है—

चीनी	83 करोड़ 60 लाख
हिंदी	33 करोड़ 30 लाख
स्पेनिश	33 करोड़ 20 लाख
अँग्रेजी	32 करोड़ 20 लाख
अरबी	18 करोड़ 60 लाख
रूसी	17 करोड़
फ्रांसीसी	7 करोड़। ⁵

आज विश्व के 180 देशों में किसी-न-किसी रूप में हिंदी की स्वरलहरियाँ गूँज रही हैं। रूस, चीन, जापान, हँगरी, अमेरिका, त्रिनीनाद, उज्बेकिस्तान, इटली, मारीशस, फीजी, गुयाना, नेपाल, सहित दो दर्जन से अधिक देशों के 125 से अधिक कालेजों और विश्वविद्यालयों में हिंदीभाषा का पठन-पाठन और शोधकार्य संपन्न हो रहे हैं। पाँच सौ विदेशी विद्वान ही हिंदीभाषा और साहित्य को विश्वव्यापी बना रहे हैं। दिन-प्रतिदिन बढ़ रहे प्रसार के चलते भविष्य में भी हिंदीभाषा के स्वर्णिम भविष्य से इंकार नहीं किया जा सकता है। विश्व की भाषाओं की सबसे प्रामाणिक रिपोर्ट के अनुसार आगामी सौ वर्षों के पश्चात् भी हिंदी अपना

परचम फहराएगी।⁶

सूचना-तंत्र के साथ विश्वव्यापी बनने के लिए किसी भी भाषा में निम्नलिखित गुण होने चाहिए—

1. नित नई प्रौद्योगिकी के साथ चल सके।
2. तकनीकी तथा पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण कर सके।
3. इतना लचीलापन हो कि संरचनात्मक एवं अर्थों के दबाव को झेल सके।
4. और विश्व की बड़ी आबादी द्वारा प्रयोग में लाई जाए।

हिंदीभाषा में ये सभी गुण विद्यमान हैं। उपर्युक्त विशेषताओं के चलते ही अब हिंदी सामान्य बोल-चाल और प्रशासन ही नहीं, सूचना-तंत्र की भाषा बनकर विश्वभाषा के रूप में उभर रही है। इसका मानकीकरण, आधुनिकीकरण, और कंप्यूटरीकरण आज की आवश्यकता है। भारत ही नहीं, भारत से बाहर रह रहे प्रवासी भारतीय और विदेशियों का भारतीय समाज और संस्कृति की ओर उन्मुख होना भी इसके सार्वभौमिक प्रसार को बढ़ावा दे रहा है।⁷

सन 1965 से पूर्व आवश्यक साफ्टवेयर के अभाव में हिंदी में कंप्यूटर पर कामकाज की सुविधा नहीं थी। सर्वप्रथम अमेरिका में जीरोक्स कार्पोरेशन के सहयोग से वैज्ञानिक जोसफ डी बेकर ने इस दिशा में प्रयास किया।

कंप्यूटर के माध्यम से अब इंटरनेट में भी हिंदी की विकास-यात्रा शुरू हो गई है। हिंदी-पाठक यूरोप और अमेरिका के अलावा विश्व के दूसरे भागों में भी रहते हैं। इंटरनेट इन पाठकों को मीडिया और मनोरंजन के कार्यक्रम 'हिंग्लिश' में परोस रहा है। भारतीय और विदेशी कंपनियाँ ऐसे साफ्टवेयर बना रही हैं, जिनके द्वारा किसी भी भाषा से हिंदी में अनुवाद, और मात्र बोलने से ही कंप्यूटर टाइपिंग का काम सहज हो सके। देश में सर्वप्रथम सन 1978 में कानपुर आई०आई०टी० के वैज्ञानिकों ने सभी भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त होनेवाला प्रोटोटाइप टर्मिनल तैयार किया था। अब नए आविष्कारों के परिणामस्वरूप पूर्णकृत देवनागरी कंप्यूटर आ चुका है, जिसने हिंदी में मुद्रण, प्रकाशन, संप्रेषण और मशीन-संचालन की समस्त समस्याओं की गुत्थी को सुलझा दिया है। कानपुर के पश्चात् टेक्नालॉजी संस्थान पिलानी और डी०सी०एम० ने 'सिद्धार्थ' नाम का पहला द्विभाषी कंप्यूटर बनाया, जो अँग्रेजी और हिंदी दोनों भाषाओं में काम कर सकता था। इसमें हिंदी के स्थान पर तमिल का भी प्रयोग हो सकता था।⁸

वर्तमान में विभिन्न प्रकार के शब्द-संसाधक बाजार में उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा हिंदी सीखने, वर्तनी-सुधार, अनुवादक और मौखिक भाषा से ही हिंदी में कंप्यूटर पर कामकाज की सुविधा उपलब्ध है, जिनकी मदद से देवनागरी लिपि नहीं जाननेवाला व्यक्ति भी हिंदी सीख सकेगा और कंप्यूटर पर टाइप कर सकेगा। यही नहीं, विश्व की अग्रणी साफ्टवेयर कंपनी माइक्रोसाफ्ट अब ऐसे आविष्कार भी करने में जुटी है, जिनके द्वारा निरक्षर व्यक्ति भी कंप्यूटर पर पढ़ने-लिखने का काम कर सकें।⁹

जबसे हिंदीभाषा में नेट पर कामकाज की सुविधा बढ़ी है, तबसे देश-विदेश में इसके प्रयोग करनेवालों की संख्या में खासी बढ़ोत्तरी हुई है। धर्म, नीति, ज्ञान, विज्ञान, अभियांत्रिकी, साहित्य, भाषा के अतिरिक्त व्यवसाय, रोज़गार, शिक्षा आदि समस्त विषयों की

जानकारी अब किसी भी भाषा में कहीं भी प्राप्त की जा सकती है। सुदूर विदेशों में हिंदी के पठन-पाठन से जुड़े हिंदी-प्रेमी समाचार-पत्र, पत्रिकाओं के नेट संस्करणों के माध्यम भी स्वयं को हिंदीभाषा के प्रचार-प्रसार से जोड़ रहे हैं। 'सन 1984 में जहाँ विश्व में इंटरनेट का प्रयोग करनेवालों की संख्या मात्र 1024 थी, वहीं मार्च 2002 तक विश्वभर में इसके प्रयोगकर्ताओं की संख्या 65 करोड़ तक पहुँच गई। भारत में इसके प्रयोगकर्ताओं की संख्या अभी 4 करोड़ ही है। अनुमान व्यक्त किया जा रहा है कि आगामी 30 वर्षों में विश्व का प्रत्येक व्यक्ति नेट के दायरे में होगा।'¹⁰

इंटरनेट पर हिंदी में रुचि रखनेवाले पाठकों व अप्रवासी भारतीयों का रुझान इसलिए भी बढ़ रहा है, क्योंकि उक्त भाषा का साहित्य और कोश अब इंटरनेट पर सारी दुनिया में प्रत्येक जन के लिए सुलभ होने वाले हैं। इसके अलावा 'नेट' पर उपलब्ध सामग्री ज़्यादा ताज़ा होने के साथ-साथ और समय-समय पर संपादित भी होती रहती है, जिससे उसकी विश्वसनीयता भी बनी रहती है 'आक्सफोर्ड' स्टेनफोर्ड, केलीफोर्निया और न्यूयार्क विश्वविद्यालयों के प्रयासों से सुप्रसिद्ध सर्च इंजन 'गूगल' पर अब शीघ्र ही हिंदी साहित्य के उपन्यासों तक का अवलोकन किया जा सकेगा। 'नागरी प्रचारिणी सभा' वाराणसी द्वारा छः हजार पृष्ठों का 'हिंदी विश्वकोश' इंटरनेट पर आनेवाला है। इतना ही नहीं, टोकियो की 'यूनीवर्सल यूनीवर्सिटी' वैश्वीकरण के दौर में एक नई विश्वभाषा का सृजन करने में जुटी है, जिसमें विश्व की 15 प्रमुख भाषाओं को आधार बनाकर कंप्यूटर जगत् की एक सर्वसंचालित भाषा का निर्माण किया जा रहा है। इसमें हिंदीभाषा के तत्त्व भी शामिल हैं। उक्त नई भाषा के सृजन के पश्चात् इन 15 भाषाओं में से किसी भी प्रकार की सामग्री को ऑन लाइन देखा जा सकता है। हिंदी जगत् के सुप्रसिद्ध रचनाकार डॉ॰ अब्दुल बिस्मिल्लाह के अनुसार 'वर्तमान में दुनिया की सभी भाषाओं का साहित्य अनूदित रूप में हिंदी में उपलब्ध है। इतना ही नहीं, 15 जनवरी 2001 को फ्लोरिडा से इंटरनेट पर शुरू हुए संदर्भ कोश 'विकीपीडिया ने भी वर्ष 2003 से हिंदीभाषा में हजारों विषयों की सामग्री के अध्ययन की सुविधा शुरू की है। यह संदर्भकोश कुल 10 लाख विषयों की सामग्री विश्व की 200 भाषाओं में पाठकों को उपलब्ध करा रहा है। जबकि एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका मात्र 1 लाख 20 हजार विषयों की जानकारी ही उपलब्ध करा पा रहा था। 'विकीपीडिया में हिंदीभाषा से संबंधित 1000 से ऊपर आलेख हैं।'¹¹

हिंदी को टेलीविज़न जैसे दृश्य संचार-माध्यम से भी व्यापक धरातल मिला है। देश-विदेश में हिंदी-फ़िल्मों और गीत-संगीत की लोकप्रियता बढ़ी है। पड़ोसी देश पाकिस्तान बंगलादेश से लेकर खाड़ी देशों और सुदूर, रूस, चीन, जापान, अमेरिका, मारीशस, फीजी, ग्याना, दक्षिण अफ्रीका, जर्मनी और ब्रिटेन आदि देशों में हिंदी-फ़िल्मों तथा गीत-संगीत के प्रति रुचि बढ़ी है। यह अभिरुचि इन कार्यक्रमों की नई भाषा 'हिंग्लिश' के बढ़ते प्रयोग के कारण ही उत्पन्न हुई है, क्योंकि विदेशी दर्शक अँग्रेज़ी के मिक्चर वाली हिंदी को कुछ-कुछ समझ ही लेते हैं। ऐसा होने से विदेशियों के लिए हिंदी के शब्द चिरपरिचित होते जा रहे हैं। हिंदी में अँग्रेज़ी के प्रयोग से हिंदी के अति शुद्धताप्रिय विद्वान भले ही रुष्ट होने लगे, पर यह कटु सत्य है कि जो भाषा जितनी उदार होगी, उसमें जितने अधिक शब्द अन्य भाषाओं के शामिल होंगे, वह उतनी ही लोकप्रिय होकर सार्वभौमिक बनेगी। हमारी हिंदी इस रास्ते पर बढ़

रही है। संस्कृत और लैटिन भाषाओं का उदाहरण हमारे सामने है। इन भाषाओं ने अपने व्याकरण के चलते एक कठोर शुद्धतावादी रवैया अपनाया। परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे ये भाषाएँ विश्वभाषाओं के मानचित्र में एक बिंदु के रूप में सिमटकर रह गईं। इसके विपरीत अँग्रेजी का विस्तार होता चला गया, क्योंकि उसने अन्य भाषाओं की शब्दावली और वाक्य-विन्यास को अंगीकार किया।

आज जनसंचार-माध्यमों में हिंदीभाषा के प्रसारणों का बोलबाला है। विश्व का 82 प्रतिशत व्यवसाय अँग्रेजी भाषा में न होकर उस क्षेत्र की आम भाषा में होता है। विदेशी टी०वी० सैटेलाइट चैनलों डिस्कवरी, स्टार और सोनी के 30 प्रतिशत कार्यक्रम हिंदी में होते हैं। यह हिंदी के बढ़ते प्रसार के संकेत नहीं तो और क्या हैं? विश्व की प्रतिष्ठित रेडियो समाचार संस्थाएँ बी०बी०सी०, रेडियो मास्को व रेडियो सीलोन वर्षों से अपने दक्षिण एशिया प्रसारण में हिंदी-कार्यक्रमों को बढ़ावा दे रहे हैं। नोकिया कन्टी फिनलैंड ने भी विश्व में बढ़ते हिंदी के प्रयोग के संदर्भ में अपने मोबाइल सैटों में अँग्रेजी, इंडोनेशियाई और फिलिपाइनों के साथ-साथ हिंदीभाषा के प्रयोग की व्यवस्था प्रदान की है। देश में रेडियो और टी०वी० पर अँग्रेजी भाषा के कार्यक्रम देखने-सुननेवालों की संख्या बहुत कम है।

‘वर्तमान में देश के 7 करोड़ टी०वी० सैट और 13 करोड़ रेडियो सैटों पर हिंदी-अँग्रेजी मिश्रित हिंग्लिश, शुद्ध हिंदी या हिंदी के अन्य बोलियों के कार्यक्रमों को देखने-सुननेवालों की तादाद सर्वाधिक है। जनसंचार के मुद्रण-माध्यमों की बात करें तो पता चलता है कि वर्ष 2001 में देश-भर में हिंदीभाषा के 20589 समाचार-पत्र-पत्रिकाएँ निकल रहे थे और अँग्रेजी भाषा के मात्र 75961; प्रसार की दृष्टि से वर्ष 2001 में हिंदीभाषा के समाचार-पत्रों का प्रसार सर्वाधिक 47006395 प्रतिर्याँ था, वहीं अँग्रेजी भाषा के पत्रों का प्रसार हिंदीभाषा के पत्रों की कुल संख्या प्रसार से आधे से भी कम मात्र 23094261 प्रतिर्याँ था।¹²

देश में हिंदी के सर्वाधिक प्रसारवाले दैनिक समाचार-पत्र दैनिक जागरण की पाठक संख्या 1 करोड़ 81 लाख, अँग्रेजी के 10 बड़े पत्रों जैसे टाइम्स ऑफ़ इंडिया, हिंदुस्तान टाइम्स, हिंदू और टेलीग्राफ़ आदि के कुल प्रसार 1 करोड़ 8 लाख से भी अधिक है। प्रसार की दृष्टि से दूसरा स्थान भी हिंदीभाषा के समाचार-पत्र दैनिक भास्कर का है।

वर्ष 1997 से भारतीय हिंदी समाचार-पत्र पत्रिकाएँ भी इंटरनेट के माध्यम से वैश्विक हो चुके हैं। ‘सर्वप्रथम नई दुनिया इंदौर 16 जनवरी 1997 से इंटरनेट पर आया। इसके बाद तो हिंदी के अधिकांश स्तरीय समाचार-पत्र पत्रिकाएँ, भारतीय ही नहीं विदेशी पाठकों को भी नेट पर उपलब्ध हैं। कालनिर्णय इस दिशा में देश की प्रथम नेट पत्रिका है। www.net.jal.com विश्व का एकमात्र सर्च इंजन है, जो हिंदी-सहित भारत की अन्य 11 भाषाओं में सूचना उपलब्ध कराता है। www.jagran.com भी विश्व का सबसे बड़ा हिंदी पोर्टल है।¹³

संदर्भ

1. डॉ० हरिमोहन, आधुनिक जनसंचार और हिंदी, पृ०141, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली
2. कादम्बिनी, सितंबर 06, पृ० 111, कांतिकुमार जैन का लेखांश

3. वाइटल साइन रिपोर्ट 2006-07
4. हिंदी साहित्य चिंतन, सं० डॉ० सुधाकर पांडेय पृ० 1
5. गगनांचल, अक्टू-दिस 06, पृ० 43- 44, प्रो० महावीरसरन का लेख
6. हिंदुस्तान, नई दिल्ली, पृ० 18/23 अगस्त 06
7. हिंदीभाषा का आधुनीकरण एवं मानकीकरण, डॉ० त्रिभुवननाथ विकास प्रकाशन, कानपुर, पृ० 37
और विजय मल्होत्रा, कम्प्यूटर और हिंदी, भावना प्रकाशन दिल्ली, पृ० 67
8. दैनिक जागरण दिल्ली, 5 सित० 06
9. डॉ० सतीश शर्मा, इलैक्ट्रानिक मीडिया और स्टिंग आपरेशन, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, पृ०
34-35
10. हिंदुस्तान, नई दिल्ली 3 सित० 06, विमर्श में मृणाल पांडे का लेख
11. डॉ० हरिमोहन आधुनिक जनसंचार और हिंदी, पृ० 141
12. प्रेस इन इंडिया, ईयर बुक 2004-05, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत
सरकार
13. डॉ० त्रिभुवननाथ, हिंदीभाषा का आधुनिकीकरण एवं मानकीकरण, पृ० 148-49

□ प्रेमसदन, जाफराबाद (जेवर)
जनपद गौतमबुद्ध नगर (उ०प्र०) 203135
मो. 09412533861, 09528806969

संत ब्रह्मानंद सरस्वती के साहित्य में युगबोध

उषारानी शोधार्थी, हिंदी विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

डॉ. बाबूराम, डी.लिट्. शोध निर्देशक
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र

संतों ने भारतीय जीवन को नवप्रेरणा प्रदान की है। उन्होंने इस देश को सामाजिक विघटन और जीवनमूल्यों के अवमूल्यन से बचाया है।¹ इसी भारतीय परंपरा में हरियाणा में भी अनेक संत हुए हैं, जिन्होंने इस प्रदेश के लोगों को अज्ञान-अंधकार से उबारा है और दिव्य ज्ञान की ज्योति प्रदान की है। इसी के फलस्वरूप वे इस प्रदेश के अनेक संकटों को सहन कर सके हैं तथा विदेशी आक्रमणों से अपने अस्तित्व को बचा सके हैं। इसी परंपरा में 20वीं सदी में धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र की पावन भूमि चूहड़माजरा गाँव में एक किसान के घर में एक चमत्कारी संत ब्रह्मानंद सरस्वती का आविर्भाव 24 दिसंबर, सन् 1908 में हुआ था।²

संत ब्रह्मानंद सरस्वती ने अपने प्रारंभिक जीवन में हिमालय में जाकर घोर तपस्या की। दैवी प्रेरणा-स्वरूप वे हिमालय और गंगा को छोड़कर विश्वकल्याण के लिए मैदानी क्षेत्र में वापिस लौटे। सर्वप्रथम उन्होंने बीहड़ वन में गुरुकुल ओउमपुरा की स्थापना की और नवयुवकों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया। इसी क्रम में उन्होंने अनेक पाठशालाएँ, गोशालाएँ, पुस्तकालय और चिकित्सालय स्थापित किए।³ उनका विशेष ध्यान नारी-शिक्षा की ओर रहा। उनकी मान्यता थी कि नारी ही गृहस्थाश्रम का मूलाधार है। हरियाणा की वेदांत-परंपरा में इनका प्रमुख स्थान है।⁴

उस समय भारत में अँग्रेजों का राज था और विदेशी शासक देशहित न करके शोषण कर रहे थे। अतः ब्रह्मानंद सरस्वती के मन में स्वराज्य-प्राप्ति की घोर आकांक्षा थी। उन्होंने देश को स्वतंत्र करने के लिए भी सहयोग प्रदान किया। भारतीय परंपरा के अनुसार यज्ञों की महत्ता रही है। पर्यावरण-संरक्षण और जलवर्षण के लिए यज्ञों का अनुष्ठान माना गया है। उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन में सारे देश में घूम-घूमकर लगभग 200 अखिल विश्वकल्याणकारी शांति महायज्ञ संपन्न किए।

संत ब्रह्मानंद सरस्वती का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वे समाज-सुधारक, नीति-विशारद, शिक्षाशास्त्री, दार्शनिक, आयुर्वेदाचार्य, स्वतंत्रता सेनानी, वैदिकसंस्कृति और राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रचारक, पर्यावरणविद् और भजनोपदेशक थे। उन्होंने 'ब्रह्मानंद-पचासा', 'ब्रह्म-विचार', 'नीति-विचार', 'शारीरकोपनिषद्' और 'गो-रक्षा' पाँच ग्रंथों की रचना की।⁵ उनका अभिवादन ओउम तत्सत् था। उनका कृतित्व विविधमुखी रहा है।⁶

ब्रह्मानंद सरस्वती का युगबोध पूर्णतया अनुभूति पर आधारित था। वे एक युगद्रष्टा संत थे।⁷ उन्होंने प्रारंभिक जीवन पराधीनता के युग में व्यतीत किया था और अंतिम जीवन भारतीय स्वतंत्रता के अरुणोदयकाल में बिताया। उनका युगबोध दोनों प्रकार का था। स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद का जिसका विवरण उनके जीवन और साहित्य में इस प्रकार मिलता है—

सामाजिक युगबोध :

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह एकांतवासी नहीं हो सकता। यदि वह एकांतवासी हो जाता है, तो उसका संबंध समाज से टूट जाता है। कोई कितना भी एकांतवासी हो, उसका संबंध समाज से अवश्य रहता है। संत ब्रह्मानंद जी जन्मना साधु थे, परंतु एकांतवासी होने पर भी उनका उनके शिष्य-शिष्याओं तथा अनुयायियों के साथ उनका संपर्क निरंतर रहता था। उनका सामाजिक युगबोध इतिहासबोध पर आधारित था। स्वामीजी एक आदर्श समाज देखना चाहते थे। स्वामी ब्रह्मानंद जी महर्षि दयानंद सरस्वती के आर्यसमाज की सामाजिक विचारधारा से सुपरिचित थे।

वे समाज में वैदिकधर्म का प्रचार-प्रसार करना चाहते थे। आर्यों का सबसे बड़ा कर्मकांड यज्ञानुष्ठान था। स्वामीजी आजीवन इसी अनुष्ठान में लगे रहे। उनकी मान्यता थी कि यज्ञ से ही समाज का हित होता है। यज्ञ धूप आकाश मंडल में पहुँचकर पर्यावरण को सुवासित कर देता है। स्वामीजी की मान्यता थी कि जो व्यक्ति और समाज कर्मठ है, वह कभी पतन को प्राप्त हो ही नहीं सकता।⁸ स्वामी जी ने कहा कि नैतिक मूल्य समाज का उत्थान करते हैं, जबकि अनैतिकता समाज को अधोगति की ओर ले जाती है। सामाजिक एकता के लिए पारस्परिक स्वभाव बड़ा आवश्यक है, क्योंकि पारस्परिक सद्भावना आत्मोत्थान एवं राष्ट्रनिर्माण में सहायक है। इसके विपरीत 'वैमनस्य भाव' या वैरभाव मानव को अधोगति की ओर ले जाते हैं। उन्होंने सामाजिक कल्याण-हेतु स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया। स्वामी ब्रह्मानंद जी ने भारतीय समाज के जो परिदृश्य देखे थे, पहला तो बड़ा भयावह था, जबकि भारतीय समाज विदेशियों के बंधन में बँधा हुआ था, दूसरा स्वतंत्रता के बाद उन्होंने देखा था कि जनता विदेशियों का मुँहतोड़ जवाब देने को तैयार है। उनका सबसे बड़ा सामाजिक युगबोध यही था कि उन्होंने भारतीय ग्रामीण समाज की कुसंगतियों, विसंगतियों, कुरीतियों, कुप्रथाओं, कुसंस्कारों को अपनी आँखों से देखा था। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह समाज के लिए हितकर नहीं हैं। वह नारी-जाति की शिक्षा के पक्षधर थे।

सांस्कृतिक युगबोध :

संस्कृति किसी देश या जाति की आत्मा है। इससे संस्कारों का बोध होता है, जिसके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। संस्कृति का अर्थ जानने के लिए संस्कार का शुद्ध होना अनिवार्य है। संस्कार का अर्थ शुद्ध करना, साफ़ करना, चमकाना एवं भीतरी रूप से प्रकाशित करना है।⁹ संत परोपकारी होते हैं। स्वामी ब्रह्मानंद जी में सांस्कृतिक युगबोध बढ़-चढ़ कर था। वे लोकोपकार, अतिथि सत्कार, वृद्धजनों के सम्मान को महत्त्व प्रदान करते थे। उनकी मान्यता थी कि सोलह संस्कारों का भी पालन करना

चाहिए। अतिथि सत्कार के विषय में अपनी वाणी में कहा है— आइए, बैठिए पीजिए पानी, हाथ जोड़कर करे नमस्कार। इससे बढ़ता सबका प्यार।¹⁰

स्वामीजी द्वारा स्थापित आश्रमों में हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सबका सम्मान किया जाता था। स्वामीजी ने प्यासे को पानी पिलाना, भूखे को भोजन देना और दुःखी जनों की सहायता करना आदि को धर्म माना। मनु ने लिखा है कि—अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविन्ः। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्।¹¹

मनु की तरह स्वामीजी ने भी वृद्धों की सेवा, वरिष्ठ नागरिकों का सम्मान करना एवं अतिथिसेवा को भी यज्ञ माना। स्वामीजी आदर्शवादी थे। कलाओं के नाम पर, जो व्यापारीकरण हो रहा था या व्यवसायीकरण हो रहा था, वह वांछनीय नहीं है। वह कहा करते थे कि कला वही है, जो परमात्मा की ओर ले जाती है।

धार्मिक युगबोध :

स्वामी ब्रह्मानंदजी समाज-सुधारक थे तथा धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनका मानना था कि जितने मत-मतांतर हैं, सभी एक ही मार्ग के पथिक हैं। किसी को श्रेष्ठ मानना और किसी को हेय मानना उचित नहीं है। संसार में जितने धर्म और संप्रदाय हैं, ये सब भगवान की ओर ले जाने वाले मार्ग हैं 'धर्म तोड़ता नहीं, जोड़ता है।' स्वामीजी की भी मान्यता है कि सभी धर्मों में कहीं-न-कहीं एकता का स्वर है। वेद, शास्त्रों, पुराणों का परिचय देते हुए अन्य धर्मग्रंथों को समान भाव से देखते हैं—

बाईबिल, इंजिल साथ में कुरान।

धर्मग्रंथ सब दुनिया के इनको ही जान।¹²

स्वामीजी जड़, चेतन, देवता एवं मनुष्य सभी को एक समान मानते हुए लिखते हैं—

कीड़ी से ब्रह्मा तलक सारे जीव इक सार।

खाना-पीना और आना-जाना अंतर ज्ञान-विचार।¹³

संत असीम जगत के निवासी होते हैं। उन्हें जाति-पाति, ऊँच-नीच, गरीब-अमीर का भेदभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। धर्मोन्मुख विकृत मानसिकता धर्म के क्षेत्र में भी बँटवारे करती है, तो समाज में उसका क्या योगदान हो सकता है? संतों के लिए पापी चंडाल भी समान है। यही भाव स्वामीजी में परिलक्षित होता है— सुहृदय-मित्र-बैरी उदासीन मध्यम द्वेषी स्व बंधुओं में। महात्माओं के अंदर पापी-चंडाल रोगी सबमें एक समंसी।¹⁴

स्वामीजी ने संकीर्णताओं के विचारों का प्रतिपादन नहीं किया। उनकी दृष्टि में जो भी महान् व्यक्ति हुआ है, वह पूज्य है। साम्यवादी हो या अध्यात्मवादी उन्होंने किसी की भी आलोचना नहीं की वरन् सभी को नमस्कार किया है यथा : हाथ जोड़ ब्रह्मानंद सबको ऊँ तत्सत् नमस्कार।¹⁵

राजनीतिक युगबोध :

राजनीति शब्द राज और नीति दो शब्दों के योग से बना है। इसका अर्थ हुआ राजा अथवा राज्य-संबंधी नीति। नीति साधारणतया नैतिक मूल्यों से संबंधित होती है, परंतु जब राज शब्द लगाकर राजनीति शब्द बन जाता है, तो इसका अर्थ राज्य को सफलतापूर्वक चलाने की

नीति बन जाता है। राजनीति राजा का सफल हथियार है, जिससे वह शासन करता है या अपनी मनमानी करता है।

संतों का प्रभाव राजाओं और राक्षसों पर रहा है, जिससे वह प्रशासन का संचालन सुचारु रूप से कर सकें, क्योंकि राजा प्रजा का पिता होता है और प्रजा उसकी संतान। आपातकालीन स्थिति में उनको अनावृष्टि तथा अतिवृष्टि आदि से बचाएँ। संत ब्रह्मानंद जी ने सक्रिय राजनीति में कभी भी सक्रिय भाग नहीं लिया, परंतु वह परिवर्तनशील राजनीति से अवश्य परिचित थे। स्वामीजी देश के लिए ऐसा नेता चाहते थे, जो देश को उन्नतिशील, खुशहाल एवं समृद्ध बना सके। यदि राजा या नेता विद्वान, धर्मशील, संयमी होगा, तो कोई भी शासन दोषपूर्ण नहीं हो सकता।

श्री सतगुरु ने 'ब्रह्मानंद पचासा' की भूमिका में लिखा है— 'धर्म और राजनीति एक-दूसरे के पूरक हैं। जहाँ धर्म वहाँ राजनीति, जहाँ राजनीति होगी, वहाँ धर्म होगा ही, क्योंकि धर्म की रक्षा करने का नाम ही राजनीति है। राजनीति का ज्ञान होता है विद्या से। इसीलिए धर्म-सभा, राज-सभा, विद्या-सभा की त्रिवेणी बहती रहती है। श्री स्वामीजी राजनीति में सदा धर्म की चर्चा करते हैं—

संसार टिका हुआ है धर्म के आधार पर।

धर्म और अधर्म मनुष्य के साथ जाते हैं मरने पर।¹⁶

स्वामीजी कई बार धर्मज्ञों और राजनीतिज्ञों की स्वार्थपरता का अवलोकन कर श्री स्वामीजी चिंतित एवं निराश हो जाते थे और कई-कई दिन समाधि में उतर जाते थे। स्वामीजी का कथन था कि धर्म और राजनीति का उचित सामंजस्य जब तक नहीं होगा, तब तक स्थिति निराशापूर्ण ही रहेगी। उन्होंने अपनी रचना में लिखा है—

परस्पर प्रेम हो, विश्वास में न कमी रहे।

ईश-देश राज, भक्त मर्यादा सबकी थमी रहे।¹⁷

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संत ब्रह्मानंद सरस्वती का युगबोध बहुमुखी रहा है। उस समय समाज अनेक वर्गों में विभाजित था। सांप्रदायिकता बड़ी प्रबल थी। समाज में अनेक कुरीतियाँ, विसंगतियाँ और अंधविश्वासों का बोलबाला था। ब्रह्मानंद सरस्वती ने अपने प्रचार के माध्यम से इन सभी बुराइयों का उन्मूलन करने के लिए अनेक प्रयास किए। विदेशी शासक भारतीय समाज में फूट डालो और राज करो की नीति को अपना रहे थे और देश का आर्थिक शोषण कर रहे थे। उन्होंने विदेशी शासकों के विरोध में 'अखिल विश्वसाम्यवादी दल' की स्थापना की, जो एक सामाजिक आंदोलन था। सांस्कृतिक धरातल चरमरा रहा था। उन्होंने प्राचीन वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार करके जनता में नवजीवन और जीवनमूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा की। धार्मिक दृष्टि से भी उन्होंने सर्वधर्म-समभाव की भावना का प्रचार किया। मूलतः उनकी अवधारणा बसुधैव कुटुंबकम् की थी। संत ब्रह्मानंद सरस्वती का युगबोध अनुभूतिपूर्ण और बड़ा प्रबल था।

संदर्भ

1. हरियाणा की संतकाव्य-परंपरा और ब्रह्मानंद सरस्वती का काव्य, साध्वी डॉ॰ सुशीलकुमारी,

- जगद्गुरु ब्रह्मानंद प्रकाशन विभाग, कुरुक्षेत्र, 2003 पृ० 13
2. संत शिरोमणि ब्रह्मानंद सरस्वती, डॉ० बाबूराम, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, 2002, पृ० 40
 3. संत ब्रह्मानंद सरस्वती व्यक्तित्व एवं दर्शन, रघुवीरसिंह मथाना, लक्ष्मण साहित्य प्रकाशन, रोहतक, 1994, पृ० 66
 4. हरियाणा की वेदांत परंपरा और जगद्गुरु ब्रह्मानंद सरस्वती, डॉ० पूनम कांबोज, लक्ष्मण साहित्य प्रकाशन, रोहतक, 2002, पृ० 78
 5. हरियाणवी साहित्य का इतिहास, रघुवीरसिंह 'मथाना' एवं डॉ० बाबूराम, लक्ष्मण साहित्य प्रकाशन, रोहतक, 2004, पृ० 276
 6. हरियाणा के संत कवि, डॉ० बाबूराम, साहित्य संस्थान, 2006, पृ० 174
 7. युगद्रष्टा स्वामी ब्रह्मानंद सरस्वती, पृथ्वीसिंह, चौ० परसराम स्मृति ट्रस्ट, कुरुक्षेत्र, 2010, भूमिका से उद्धृत।
 8. श्री सतगुरु ब्रह्मानंद पचासा, पद संख्या 497
 9. हिंदू संस्कृति अंक, गीता प्रेस गोरखपुर, पृ० 105
 10. श्री सतगुरु ब्रह्मानंद पचासा, पद 242
 11. मनुस्मृति, अध्याय 21/21
 12. श्री सतगुरु ब्रह्मानंद पचासा, पद सं० 55
 13. वही, पद सं० 450
 14. वही, पद सं० 23
 15. वही, पद सं० 264
 16. नीति-विचार, पृ० 1
 17. श्री सतगुरु ब्रह्मानंद पचासा, पृ० 227

स्वाधीनता-आंदोलन में हरियाणा के हिंदी साहित्य में स्थितिमूलक राष्ट्रीय चेतना

सुषमादेवी, शोधार्थी, हिंदी विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र

डॉ. बाबूराम, डी०लिट्० शोध निर्देशक
एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी-विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र

हरियाणा अपने स्वाभिमान, शौर्य एवं संघर्ष के लिए प्राचीनकाल से ही विख्यात रहा है। इस स्थिति का परिचय महाभारतकाल से प्रारंभ होकर भारत के स्वतंत्रता-संग्राम तक निरंतर देखने को मिलता है। सत्ता और शासन की बागडोर यहाँ किसी-न-किसी रूप में संघर्ष का कारण बनी रही। यहाँ के मेवों, अहीरों, गुर्जरों, जाटों, राँघड़ों, भट्टी, सैनी, सिक्खों ने अँग्रेजी शासन का सदैव विरोध किया, परंतु अपने सैन्यबल के कारण हरियाणा पर अँग्रेजों ने काबू पा ही लिया, परंतु हरियाणावासियों के हृदय में विद्यमान स्वतंत्रता की भावना एवं भुजाओं के शौर्य ने इन्हें कभी-गुलामी स्वीकारने की स्थिति में नहीं रहने दिया। सन् 1818 से 1856 तक हुए छछरौली, राणिया, वलानली जैसे अनेक विद्रोह इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। हरियाणा के इस स्वाभिमान और संघर्षशीलता का दमन करने के भाव से प्रेरित होकर 1857 की क्रांति की विफलता के बाद ही अँग्रेजों ने फरवरी 1858 में हरियाणा को उत्तर-पश्चिम प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) से पृथक कर पंजाब से मिला दिया। हरियाणा को उनके साहस-स्वाभिमान को बहुत बड़ा मूल्य अँग्रेजों के द्वारा शोषण एवं दमन के रूप में लंबे समय तक चुकाना पड़ा। यहाँ तक कि 'मलका विक्टोरिया की क्षमा-घोषणा के बाद भी अँग्रेजी-अधिकारी हरियाणावासियों को क्षमा करने के लिए तैयार नहीं थे।'

अँग्रेजों के इस प्रतिशोधात्मक भाव एवं व्यवहार से यहाँ की जनता को अनेक भयानक एवं दुर्दशापूर्ण दौर से गुजरना भी पड़ा। यहाँ आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक दमनचक्र इतिहास और साहित्य के पन्नों में दर्ज होता रहा। इतिहास तथ्यात्मक होता है और साहित्य भावात्मक। इतिहास पर भावना का आवरण जब चढ़ा दिया जाता है तो वह अधिक संवेदनशील एवं उत्प्रेरक बन जाता है, जिसकी स्वाधीनताकाल में अत्यधिक आवश्यकता थी। अतः हरियाणा के तत्कालीन साहित्यकारों ने साहित्य के द्वारा हरियाणा की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक दुर्दशा के ऐसे चित्रण अपने साहित्य में किए कि यहाँ की जनता में क्षोभ, आक्रोश, घृणा जैसे अनेक भाव जाग्रत हो उठे। जागरण के इस मनोवैज्ञानिक सत्य को श्री रवींद्र दरगन ने कुछ इन शब्दों में व्यक्त किया है— 'वर्तमान दुर्दशा व पतन की

तीव्र अनुभूति एवं तज्जन्य मर्मांतक पीड़ा ही किसी राष्ट्र के जीवन में चेतना संचरण के प्रथम सोपान हैं।² किसी भी राष्ट्र और समाज के पतन-दुर्दशा एवं उससे जन्म लेने वाली संघर्ष चेतना को अरविंद घोष ने इस प्रकार परस्पर संबद्ध किया है— ‘परिस्थितिवश व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र रुग्ण मनोवृत्ति का शिकार होकर निज स्वरूप को विस्मृत कर बैठता है। फलतः उसका पतन प्रारंभ हो जाता है। यह पतन एक सीमा तक पहुँच जाने पर अपने भीतर से ही संघर्ष द्वारा चेतना को जन्म देता है, जो बाह्य परिस्थितियों से पोषण पाकर विकसित हो जाती है।’³ इस नवचेतना को अरविंद घोष ने दो स्तरों पर अनुभव किया है— ‘व्यक्तिगत स्तर पर अंतर्मन प्रेरित बुद्धि एवं सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर संवेदनशील बुद्धिजीवी नेता वर्ग के द्वारा इस चेतना का सूत्रपात होता है।’⁴ उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासकों के लंबे दमनचक्र से विजित देश-जाति रुग्ण मानसिकता की शिकार हो जाती है उसमें बहुआयामी पतन एवं दुर्दशा की स्थिति जन्म ले बैठती है।

स्वाधीनता-आंदोलन कालीन रचित हरियाणा के हिंदी साहित्य में तत्कालीन हरियाणा की बहुआयामी दुर्दशा एवं पतन स्थितियों का मार्मिक चित्रण किया है। सन् 1857 की क्रांति के बाद भारतवर्ष, और विशेषकर हरियाणा, अंग्रेजी शासन का विशेष कोपभाजन रहा। अतः इस क्षेत्र को अंग्रेजों की क्रूरता एवं कुटिलता को अनेक स्तरों पर सहना पड़ा। अंग्रेजों की कुटिलता एवं क्रूरता ने हरियाणा की जनता को अनेक प्रकार के अन्यायों एवं शोषणों की चक्की में इस तरह से पीसा कि यहाँ का समाज त्राहि-त्राहि कर उठा।

हरियाणा के स्वाधीनता-संग्राम कालीन कवियों ने अपने काव्य में हरियाणा की निम्न आयामी दुर्दशाओं का मार्मांतक चित्रण किया है।

1. राजनीतिक दुर्दशा :

यह सर्वविदित है कि अंग्रेज भारत में आर्थिक शोषण के लिए आए थे परंतु यहाँ के आर्थिक शोषण के लिए उन्हें यहाँ पर अपना शासन स्थापित करना भी आवश्यक प्रतीत होने लगा। इसीलिए ‘ईस्ट-इंडिया कंपनी’ के कार्यकाल में उन्होंने भारत में परोक्ष राजनीति की, परंतु इस परोक्ष राजनीति को प्रत्यक्ष राजनीति में ढालने के उद्देश्य से सन् 1813 एवं 1858 में प्रयास किए। सन् 1813 में जब दूसरा चार्टर एक्ट पास किया गया तब कंपनी भारत में अधिकतर राजनीतिक व आर्थिक शक्ति खो चुकी थी। अब वास्तविक शक्ति सरकार के पास थी।⁵ परंतु ब्रिटिश साम्राज्य और शासन आंशिक अधिकार से संतुष्ट नहीं रहा और 1857 के विद्रोह के बाद ही ‘2 अगस्त 1858 को ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक कानून पास किया, जिसके अनुसार भारतीय शासन की बागडोर सम्राट के हाथ में चली गई।’⁶ इस प्रकार ब्रिटिश सम्राट के माध्यम से ब्रिटिश पार्लियामेंट, ब्रिटिश पार्लियामेंट के माध्यम से भारत में उनके प्रशासनिक अधिकारियों के हाथ में संपूर्ण राजकाज एवं शक्ति चली गई। परंतु अंग्रेजी प्रशासन ने यहाँ खुलकर लूटपाट, अन्याय, शोषण, दमन एवं अपमान का कुचक्र चलाना प्रारंभ कर दिया। अंग्रेजी प्रशासन की कथनी-करनी के अंतर तथा इसके मूल में अंग्रेजों की राजनीतिक-प्रशासनिक कुटिलता को पं० श्रीराम शर्मा ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

शिमला में रीडिंग लगाते, हैं सादा कानून की।

गाँव में डिप्टी कमीशनर माँगते बेगार हैं।⁷

इसी प्रकार प्रशासनिक कुटिलता पर प्रकाश डालते हुए कस्तूरीबाई ने रोलट एक्ट (1919) की अन्यायकारी एवं दमनकारी एवं वायदा-खिलाफ़ी की नीतियों का कठोर शब्दों में उल्लेख किया है—

‘पिछले वायदे सारे भूली, रोलट बिल ईनाम दिया।’⁸

स्मरण रहे कि इस बिल के विरोध में ही जलियाँवाला कांड हुआ था। कस्तूरीबाई ने अँग्रेज़ी खुफ़िया पुलिस की अनीतिकारी कार्य-पद्धति पर भी प्रकाश डाला है—

‘कैसी फिरती है यह खुफ़िया, इसका देखो बंदोबस्त,
चोरों से तो पैसे माँगें, जलसों में लगावें गस्ता।’⁹

अँग्रेज़ी शासन की राजनीतिक कुटिलता, धूर्तता पर व्यंग्य करते हुए कस्तूरीबाई कहती हैं—

‘कस्तूरी राजनीति की, शतरंज अजीब है,
फर्जी रहें जोम में, पैदल की मात है।’¹⁰

इसी प्रकार प्रशासनिक अव्यवस्था एवं भ्रष्ट व्यवस्था का चित्र शिवकरण ने कुछ इस प्रकार खींचा है—

‘फिरते हैं लफंगे, ये अँग्रेज़ी सरकार के, किसी की बीर कुए में पड़जा,
झट आवै लंबरदार, थाने में जा पहुँचा, पड़ने लगी जूतों की मार, पचास रुपये थानेदार के, और
पचास हालदार के।

ब्रिटिश सरकार ने भारत में ‘फूट डालो और राज करो’ की राजनीति का खूब प्रयोग किया। सन् 1905 में ‘बंग-भंग’ इसका ज्वलंत उदाहरण है। इसके अतिरिक्त चुनावों में भी विभाजन की नीति को अपनाते हुए मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व का समर्थन किया गया। पं० श्रीराम शर्मा ने अपनी कविता ‘छप्पन फीसदी’ में इस स्थिति का चित्रण किया है।

अँग्रेज़ी सत्ता ही नहीं, अनेक अधिकारियों ने भी भारत की राजनीतिक स्थिति को दुर्दशा की स्थिति तक पहुँचाने में घातक भूमिका भी निभाई। भारतीय स्वाधीनता-आंदोलन एवं राष्ट्रीय चेतना के उदय में राजनीतिक एवं आर्थिक दुर्दशा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। हरियाणा के साहित्यकारों ने अनेक प्रशासनिक एवं सैनिक अधिकारियों की उस कुटिल नीति को भी जनता तक पहुँचाया, जिसने भारत को राजनीतिक दुर्दशा बनाने एवं बढ़ाने में अभूतपूर्व भूमिका निभाई। ऐसे शासकों में कर्जन, फुलर जंग, जरनल डायर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बंगाल के विभाजन के कर्ता-धर्ता कर्जन का चरित्र अत्यधिक विचित्र रहा है। वह एक अहंकारी, प्रतिशोधी, आत्मप्रशंसक कोटि का अधिकारी था। वह इतना अहंकारी था कि वह अपने शब्दों को ही संविधान-कानून बताने से भी नहीं चूकता—

है कानून जबान हमारी, जो नहीं समझे वही अनारी
हम जो कहें वही कानून, तुम तो हो कोरे पतलून।¹¹

कर्जन की प्रतिशोधात्मक प्रवृत्ति का एक उदाहरण बंगाल का विभाजन था। ऐसा करके वह बंगालियों की एकता को ही भंग करना नहीं मानता, अपितु बंगाल के हिन्दू मुसलमानों की भी अलग खेमाबंदी मानता है—

रह न सका भारत का लाट, तो भी बंग किया दो पार,

पहले सब-कुछ कर सकता हूँ, पीछे अपने घर जाता हूँ।¹²

बंगाल के विभाजन को कर्जन भले ही प्रशासनिक सुविधा कहते रहे, परंतु वस्तुतः इस विभाजन से उन्होंने हिंदू-मुसलमानों के बीच विभाजन की रेखा ही नहीं खींची, बल्कि मुसलमानों को स्वाधीनता-आंदोलन से पृथक करने की कोशिश भी की। यह बात उनके पूर्वी बंगाल के दौरे में दिए गए भाषण से स्पष्ट होती है। उसने मुसलमानों को अपने धर्म की रक्षा की चेतावनी दी तथा उनको राजनीतिक एवं आर्थिक उन्नति का लालच देकर विभाजन के लिए सहयोग प्राप्त करने की कोशिश भी की।¹³ पूर्वी बंगाल के पहले गवर्नर फुलर ने तो कर्जन से भी दो कदम आगे बढ़कर घोषणा की— ‘मुसलमान और हिंदू मेरी दो पत्नियों के समान हैं। मुझे मुसलमान पत्नी हिंदू पत्नी से अधिक प्रिय है।’ इन्हीं फुलर जंग महोदय ने बंग-भंग के विरोध में खड़े हुए स्वदेशी आंदोलन को भी दबाने का प्रयास किया। आंदोलन में भाग लेनेवाले छात्र-छात्राओं को सजाएँ दीं, ‘वंदेमातरम’ पर रोक लगाई। फुलर की इसी राजनीतिक सोच पर बाबू बालमुकुंद गुप्त ने भी प्रकाश डाला है—

फुलर जंग ने की वह जंग,
सब बंगला हो गया दंग,
लड़कों से की खूब लड़ाई,
गुरखा की पलटन मँगवाई,
किया वंदेमातरम बंद,
और सभाएँ रोकी चंद,
जो स्वदेशी का दबवाया,
जगह-जगह पर लठ चलवाया।¹⁴

हरियाणा के कवियों ने स्वाधीनताकालीन इस प्रकार की अनेक दुर्दशाओं और पतित राजनीतिक स्थितियों का विस्तार एवं सूक्ष्मता के साथ चित्रण किया है। ये दुर्दशाएँ ब्रिटिश सत्ता एवं अंग्रेज़ अधिकारियों के कारण ही नहीं, अपितु कुछ दिग्भ्रमित भारतीयों (सर सैयद अहमद खाँ आदि) के कारण भी थीं। पंजाब के कुछ लोगों में जिस प्रकार स्वार्थ एवं अंधा मोह जन्म ले बैठा था तथा उसके कारण स्वाधीनता-आंदोलन को जो आघात पहुँचा था, इसका चित्रण (बाबू बालमुकुंद गुप्त आदि) भी मिलता है।

2. आर्थिक दुर्दशा एवं पतन की स्थिति :

यदि हम पश्चिम या योरोप के भारत में आगमन और यहाँ आने-रहने पर उनके क्रिया-कलापों को देखें तो स्पष्ट ही उनका आगमन एवं विस्तार आर्थिक दृष्टिकोण से ही हुआ और बाद में यह लोभ इतना बढ़ गया कि वे यहाँ के मालिक ही बन बैठे— ‘योरोप के ये व्यापारी बड़े लालची थे और उनके स्वार्थों का यहाँ शीघ्र ही भयंकर टकराव हो गया। फलतः उनके आपस में लंबे युद्ध हुए, जिनका परिणाम अंततः ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के पक्ष में रहा।¹⁵ कंपनी व्यापार से भारत के उद्योग, कृषि, व्यापार तीनों ही प्रभावित हुए। इंग्लैंड ने भारत को आर्थिक दृष्टि से जर्जर कर दिया। इस पर भी अकाल आदि की मार ने तो कमर ही तोड़कर रख दी। ऐसी स्थिति लंबे समय तक चली और फिर इसके विरुद्ध 1857 का

विद्रोह हुआ। पूर्व के आक्रांता भारत की संपदा को भारत में ही रखते थे, परंतु अँग्रेज भारत की संपदा को इंग्लैंड ले जाते थे। भारत से कच्चे माल के निर्यात एवं पक्के माल के भारत में आयात ने भारतीय कृषि को भी जर्जर बना दिया। अँग्रेजों ने नौकरियों में भी भारतीयों के लिए अवसर अत्यधिक सीमित कर दिए। इस प्रकार के अनेक कारणों से भारत की आर्थिक स्थिति जर्जर हो गई। ऐसी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए विपिनचंद्र पाल का कहना है—अँग्रेजी सरकार ने अनेक प्रकार के रचनात्मक प्रतिबंध लगाकर देसी उद्योगों पर रोक लगाई तथा उन्हें कुंठित किया। सरकारी नीतियाँ खुले तौर पर ब्रिटिश उद्योगों को प्रोत्साहन देती थीं... भू राजस्व तथा वाणिज्य नीति एक दूसरे से जुड़ी हुई थी ... काफ़ी समय तक सरकार ने कृषि-सुधार करने की दिशा में कोई ठोस प्रयत्न नहीं किए ... वास्तव में उपनिवेशवादी ढाँचे ने देश को भीतर से खोखला कर दिया था जिसके उदाहरण थे 1870 से 1890 के दशकों में पड़ने वाले अकाल।¹⁶

1857 के बाद भारत की आर्थिक दुर्दशा पर डॉ॰ पूनमचंद्र तिवारी ने सटीक प्रकाश डाला है— उद्योग-धंधे नष्ट होते चले गए। विदेशी पूँजी से नए उद्योग प्रारंभ हुए। भारतीय धन विदेश जाने लगा। शोषण, महँगाई, अकाल, टैक्स, दरिद्रता, अपमान भारतीयों को सहना पड़ता था।¹⁷ ब्रिटिश शासन का लक्ष्य आयात-निर्यात के माध्यम से अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करना था। इन दोनों के बीच भयानक असंतुलन था। इधर से कच्चा माल सस्ते में जाना और उधर से तैयार वस्तुएँ महँगे में यहाँ आना, एक ऐसी व्यापारिक प्रक्रिया थी, जिसके कारण भारत आर्थिक दुर्दशा का शिकार हो रहा था—

‘विदेशी कपड़े के कारण, जां करोड़ छियासठ सालाना,
हिंद से माल विलायत जाता, देश हुआ बेगाना।’¹⁸

इस आयात-निर्यात के असंतुलन से भारत का धन ब्रिटेन को जाता हुआ। कवियों ने खुली आँखों से देखा तथा इसके कारण भारत की आर्थिक दुर्दशा का वर्णन भी किया—
जितनी थी माया की ढेरी, सभी विलायत जाती थी।

देश सोने की चिड़िया था, अब आन पड़ी कंगाली।¹⁹

ऐसी अनुभूति अधिकांश कवियों के द्वारा की गई। इस आर्थिक नीति से भारतीयों में भी आर्थिक विषमता ही नहीं, विभेद भी देखने को मिलता था। भारत में ग़रीब-अमीर के बीच खाई चौड़ी होती जा रही थी। इसी आर्थिक विषमता ने ग़रीबों की पीड़ा और दुर्दशा को और भी बढ़ा दिया था—

‘तेरे घर में फूटे बर्तन, थाली तवा परात भी,
और पेड़ के नीचे आकर, ठहरी तेरी बारात भी,
कुड़की ले आया कसाई मजदूर तेरी छान में,
पूँजीपति की शादी में वहाँ आतिशबाज़ी छूट रही,
कुत्ते भी खा रहे मिठाई, दस बारह दिन लूट रही
पर रोटी नहीं बन पाई, मजदूर तेरी छान में।’²⁰

इतने पर लगान, टैक्स तथा सरकारी लूट ने तो देश की आर्थिक स्थिति को अत्यधिक शोचनीय ही बना दिया था— घर वो जर वो ज़मीन, पर लगा है टैक्स बिना कर के

तो, तीर्थ भी नहाना नहीं।

इस प्रकार हरियाणा के कवियों ने स्वाधीनता-आंदोलनकाल में जिस आर्थिक दुर्दशा, पतन, पराभव को देखा, सुना और यहाँ तक कि भोगा भी था, उसे उन्होंने अत्यधिक सत्यता एवं प्रामाणिकता के साथ व्यक्त किया है। आर्थिक पतन और दुर्दशा की अनेक भयानक स्थितियों का चित्रण पं० श्रीराम शर्मा, तेजसिंह, कस्तूरीबाई, रतनसिंह, मोहरचंद्र मस्त, बालकृष्ण मुज्तर आदि अनेक कवियों की रचनाओं में भी देखने को मिलता है। हरियाणा की जनता तथा साहित्यकारों ने जिस आर्थिक दुर्दशा को भोगा था, उसे कवियों ने अपनी वाणी में मार्मिक एवं प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है।

इसी प्रकार स्वाधीनता-आंदोलन कालीन हरियाणा के हिंदीकाव्य में सामाजिक, सांस्कृतिक पतन एवं दुर्दशा के हृदयविदारक दृश्य मिलते हैं। इस समय समाज अनेक दृष्टियों से आपसी फूट का शिकार था। समाज में नारी की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। समाज में बेमेल विवाह, बालविवाह जैसी कुरीतियाँ ज़ोरों पर थीं। सभी जातियों में आपसी द्वेषभाव, नशाखोरी भी ज़ोरों पर थी। इस प्रकार की अनेक सामाजिक दुर्दशाओं एवं पतनों का चित्रण तत्कालीन कवियों ने प्रचुरता के साथ किया है। ऐसा करनेवालों में तेजसिंह, माधवप्रसाद मिश्र, बालमुकुंद गुप्त, पं० श्रीराम शर्मा, कस्तूरीबाई आदि का नाम लिया जा सकता है।

पराधीनता में भारत का सांस्कृतिक पतन भी भयानक रूप में हुआ। इस विषय में रवींद्र दरगन का विचार उल्लेखनीय है 'विजित राष्ट्र की राजनीतिक पराधीनता उसकी सांस्कृतिक परंपरा एवं विचार-पद्धति पर भी दूषित प्रभाव डालती है। राष्ट्रीय संस्कृति को नष्ट करके ही विजेता अपनी विजय को स्थिर रख पाता है।' (रवींद्रनाथ दरगन, छायावादी काव्य में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना, पृ० 72) आलोच्य काल में भारतीय अपनी उदात्त मान्यताओं को भूलकर पाश्चात्य परंपराओं को अपनाते जा रहे थे, हिंसा, फैशन, मूल्यों से गिरना जैसी बातें समाज में आमतौर पर देखने को मिल रही थीं। इस प्रकार के विषयों पर पं० माधवप्रसाद मिश्र, मोहरचंद्र मस्त, स्वामी भीष्म, पं० श्रीराम शर्मा, कालेसिंह, जनार्दन शर्मा, ठाकुर तेजसिंह आदि अनेक कवियों ने लेखनी चलाई है।

वस्तुतः स्वाधीनता-आंदोलन में हरियाणा के हिंदीकाव्य में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियाँ एक पराधीन राष्ट्र की तरह से पतित और दुर्दशापूर्ण थीं, परंतु इस दुर्दशा की स्थिति से बाहर लाने के लिए हरियाणा के साहित्यकारों का अभूतपूर्व योगदान रहा। उन्होंने स्थितियों को केवल समझा ही नहीं, अपितु पूरे समाज और राष्ट्र को जाग्रत कर इन सबके प्रति संघर्ष करने हेतु अपने काव्य के माध्यम से एक महत्त्वपूर्ण भूमिका की स्थिति प्रदान की। एक संदर्भ में ये केवल कवि ही नहीं थे, अपितु जीवन-भर स्वतंत्रता-सेनानी भी थे।

संदर्भ

1. डॉ० के०सी० यादव, हरियाणा : ऐतिहासिक सिंहावलोकन, पृ० 42
2. डॉ० रवींद्र दरगन, छायावादी काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना, पृ० 66
3. अरविंद घोष, हमारी स्वतंत्रता कैसी, पृ० 27
4. वही, पृ० 27

5. इतिहास आधुनिक भारत इकाई-1, पृ० 13
6. डॉ० के०सी० यादव, भारत में स्वतंत्रता-आंदोलन का इतिहास, पृ० 50
7. पं० श्रीराम शर्मा, (अखबार ही हथियार) हरियाणा स्वतंत्रता-आंदोलन, पृ० 132
8. संपा० डॉ० के०सी० यादव, हरियाणा : स्वतंत्रता-आंदोलन में कवियों, शायरों, भजनोपदेशकों और लोकगायकों का योगदान, पृ० 184
9. वही, पृ० 186
10. वही, पृ० 188
11. संपा०, नत्थनसिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, पृ० 206
12. वही, पृ० 207
13. डॉ० के०सी० यादव, भारत में स्वतंत्रता-आंदोलन का इतिहास, पृ० 106
14. संपा०, नत्थनसिंह, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली पृ० 208
15. डॉ० के०सी० यादव, भारत में स्वतंत्रता-आंदोलन का इतिहास, पृ० 1-2
16. बिपिनचंद्र, स्वतंत्रता-संग्राम, पृ० 15
17. डॉ० पूनमचंद्र तिवारी, द्विवेदीयुगीन काव्य, पृ० 73
18. संपा० डॉ० के०सी० यादव, हरियाणा : स्वतंत्रता-आंदोलन में कवियों, शायरों, भजनोपदेशकों और लोकगायकों का योगदान, पृ० 376
19. वही, पृ० 375
20. वही, पृ० 319

डॉ० कुँअर 'बेचैन' के 'पांचाली' महाकाव्य में चित्रित जीवनमूल्य

यज्ञेशकुमार, शोधछात्र

1. **प्रस्तावना** : मूल्य शब्द का प्रयोग प्रायः दैनिक जीवन में प्रतिदिन होता आया है। सामान्य अर्थों में मूल्य शब्द का अर्थ किसी वस्तु या कार्य के बदले में दी जानेवाली राशि से होता है। आधुनिक समय में मूल्य शब्द का अर्थ, व्यापक हो गया है। अब इसका प्रयोग वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर संपूर्ण मानव-व्यवहार के मानदंड के रूप में किया जाता है।

2. **अर्थ व परिभाषा** : मूल्य शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विचार करने पर 'मूल्य' शब्द मूल-यत्¹ से निष्पन्न है, जिसका अभिप्राय है किसी वस्तु के विनिमय में दिया जानेवाला धन, दाम अथवा कीमत। संस्कृत व्याकरण के आधार पर मूल्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की मानी गई है— 'मूलेन समो मूल्यः'² अर्थात् मूल के समान।

मूल्य शब्द अँग्रेजी भाषा के वैल्यू (Value) शब्द का समानार्थी है जो लैटिन भाषा के Valere से निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ अच्छा और सुंदर होता है, अर्थात् मूल्य शब्द के इस अर्थ में सत्यं शिवं और सुंदरम् निहित है।

आधुनिककाल में मूल्य शब्द का प्रयोग सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक, व्यक्तिवादी, आदर्शवादी, भोगवादी आदि सभी क्षेत्रों में स्वीकृत व्यवहार के लिए होने लगा है।

विभिन्न विद्वान मूल्य का संबंध दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, अर्थशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, मानविकी आदि विभिन्न ज्ञानशाखाओं के साथ मानते हैं।

1. **भारतीय दृष्टिकोण** : भारतीय साहित्य में मूल्य के अर्थ में 'नीति' शब्द का व्यवहार होता रहा है। 'नीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'नी+ति' से हुई है, जिसका अर्थ है व्यवहार। संस्कृत साहित्य में 'मनुस्मृति', 'विदुरनीति', भृत्हरि का 'नीतिशतक' आदि अनेक मानव-व्यवहार के मार्ग-दर्शक ग्रंथ रहे हैं। हमारे यहाँ मूल्यों के प्रति निष्ठा अधिक तीव्रता के साथ दृष्टिगोचर होती है।

भारतीय परंपरा के अनुसार धर्म एक ऐसा मूल्य है, जो मानव-जीवन की इहलोक एवं परलोक की उन्नति का साधन है और इससे मनुष्य आत्मिक शांति का लाभ प्राप्त कर आनंदित होता है। अर्वाचीन साहित्य में भी मानव-व्यवहार को दिशा देने का बहुत प्रयास हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों ने अच्छे-बुरे की छानबीन मूल्य के संदर्भ में की है।

2. **पाश्चात्य दृष्टिकोण** : पाश्चात्य दृष्टिकोण में मूल्य उन्हीं व्यवहारों को कहा गया है, जिनमें मानव-जीवन का हित समाविष्ट हो। पाश्चात्य दृष्टिकोण में मूल्य समय एवं सामाजिक मान्यताओं के अनुसार बदलते रहते हैं तथा उनमें अंतर्निहित मंगलकामना और सार्वजनिक हित

की भावना कभी नहीं होती। नये परिवेश में पुरानी मान्यताएँ जब कालातीत हो जाती हैं, तो समाज नई मान्यताओं को स्वीकार कर लेता है और वे ही मान्यताएँ 'मूल्य' बन जाती हैं। हिंदी के विभिन्न विद्वानों एवं दार्शनिकों ने भी मूल्य की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं—

डॉ० देवराज के अनुसार, 'मूल्य वे होते हैं, जिनकी मनुष्य कामना करता है। चरम मूल्य उन वस्तुओं स्थितियों तथा व्यापारों अथवा उनके उन विशिष्ट पहलुओं को कहते हैं, जो मनुष्य की सार्वभौम संवेदना को आवेगात्मक अर्थवत्ता देते हुए दिखाई देते हैं।' ³ डॉ० प्रभाकर माचवे के शब्दों में, 'मानवीय क्रियाओं में आचार-व्यवहार में अच्छाई या शिवत्व का मूल्य क्या है, यही नीतिशास्त्र का विषय है।' ⁴ डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित के अनुसार, 'मेरे लिए आदर्श या उदात्त लक्ष्य के अभाव में किसी 'मूल्य' जैसे शब्द की धारणा संभव नहीं है। 'मूल्य' वह है, जिसके पीछे हम चलना चाहें, जिसे हम उपलब्धि के योग्य समझें, जिसे जीवन में महत्त्व दे सकें।'⁵

हिंदी-साहित्य-कोश के अनुसार, 'मूल्य और प्रतिमान समानार्थी शब्द हैं। दोनों ही मानवनिर्मित कसौटियाँ हैं, जिनके सहारे साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है। मनुष्य के कुछ वैयक्तिक व्यवहार होते हैं, परंतु समाज, नगर, प्रदेश, प्रांत, राष्ट्र और समाज का सदस्य होने के नाते उसे कुछ सामाजिक बंधनों को स्वीकार करना पड़ता है।'⁶

मूल्य के स्वरूप के विषय में कह सकते हैं कि मूल्य का स्वरूप समय की गति के साथ-साथ परिवर्तित होता जा रहा है। प्राचीन समय में मूल्य को पुरुषार्थ यथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के रूप में स्वीकार किया गया है, परंतु आज के समय में यह धारणा बन गयी है कि यह सब केवल सिद्धांतों पर आधारित है, वास्तविकता में नहीं। आज के समाज में नए-नए मूल्य स्थापित होते जा रहे हैं।

मूल्यों को सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है, परिस्थितियों के अनुसार नए मूल्यों का निर्माण आवश्यक हो जाता है। नए मूल्य पुराने मूल्यों को तोड़कर समय-समय पर अपना रूप बदलते हैं। पुरातनकाल में धर्मपरक दृष्टि मूल्यों का आधार थी, परंतु आज के समय में इन मूल्यों का क्षय हुआ। आज के समय में उपयोगिता ही मूल्यों का महत्त्व बन गई है।

समय गति के अनुसार पुराने मूल्य टूटकर बिखर जाते हैं और नए मूल्य भी समाज में पूर्णतया स्थापित नहीं हो पाते तब मूल्य संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। आज की स्थिति मूल्यहीनता की स्थिति है। साहित्य एवं मूल्य का संबंध घनिष्ठ होता है, साहित्य समाज का दर्पण है अतैव: मूल्य एवं साहित्य एक-दूसरे के पूरक हैं। साहित्य को मानव-समाज के लिए अच्छे, उदात्त विचारों तथा तत्त्वों का विवेचन करना होता है। 'मूल्य' शब्द भी समाज-कल्याण या मानव-हित वाले अर्थ तक ही सीमित नहीं रहता है। वह तो साहित्य में शिवं के साथ-साथ सत्य और सुंदर को भी समाहित करता जाता है। जो व्यक्ति साहित्य का अध्ययन करता है, उसके लिए यह भी ज़रूरी है कि वह मूल्य का भी अध्ययन करें।

श्रेष्ठ साहित्यकार समाज के समस्त मूल्यों का वर्णन करता है और उन मूल्यों को नकारता है, जो समाज की प्रगति में बाधक होते हैं। डॉ० कुँअर 'बेचैन' इन्हीं साहित्यकारों की श्रेणी में है, जिन्होंने मूल्यों को परखा है तथा अपने साहित्य में स्थान प्रदान करके विकृत मूल्यों को नकारने का प्रयास भी किया है। डॉ० कुँअर 'बेचैन' के इसी प्रयास का अध्ययन

हमें उनके महाकाव्य 'पांचाली' में करना है।

2. **जीवनमूल्य का अर्थ एवं परिभाषा** : जीवनमूल्य का अर्थ एवं परिभाषा समझने हेतु भारतीय दृष्टिकोण एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण दोनों को देखना होगा।

1. **भारतीय दृष्टि में जीवनमूल्य** : भारतीय चिंतन में जीव और जगत् दोनों को नाशवान माना गया है। वर्तमान को साधन और भविष्य को साध्य के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय चिंतकों ने 'पुरुषार्थ' को जीवनमूल्य के रूप में मान्यता दी है। 'पुरुषार्थ' का अर्थ यहाँ मनुष्य द्वारा जीवन के उद्देश्य की पूर्ति-हेतु किया गया प्रयास है। भारतीय ग्रंथों में पुरुषार्थ को चार भागों में बाँटा गया है, जिन्हें जीवनमूल्य की संज्ञा दी गई है। ये चार क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गए हैं। यहाँ धर्म, अर्थ और काम को साधनात्मक मूल्य तथा मोक्ष को साध्यात्मक मूल्य कहा गया है।

प्रसिद्ध दार्शनिक महादेव ने भी 'भारतीय दर्शन में सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की चर्चा करते हुए इन्हीं चार पुरुषार्थों को स्वीकार कर उन्हें नवीन नाम देने की चेष्टा की है। ये अर्थ (अर्थ), आनंद (काम), धर्माचरण (धर्म) पूर्णता या आध्यात्मिक स्वतंत्रता (मोक्ष) चार मूल्य स्वीकार करते हैं।' ⁷

इसी प्रकार डॉ० देवीप्रसाद गुप्त ने भी महाकाव्यों का उद्देश्य शाश्वत जीवनमूल्यों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति माना है। उनका कथन है— 'हमारे महाकाव्यों का उद्देश्य धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की अर्थात् चतुर्वर्ग फल प्राप्ति माना गया है। इसमें प्रतिपादित शाश्वत जीवनमूल्य भोग, योग और कर्म हैं।' ⁸

भारतीय दर्शन में यह माना गया है कि मनुष्य का निर्माण शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों के योग से होता है। धर्म के द्वारा व्यक्ति की बुद्धि का निर्माण, अर्थ के द्वारा शरीर का निर्माण, काम के द्वारा मन का निर्माण और मोक्ष के द्वारा आत्मा का निर्माण होता है। यहाँ निर्माण का अर्थ विकास से है। ये चारों जीवनमूल्य भारतीय संस्कृति के आधारस्तंभ हैं। भारतीय संस्कृति में जीवन को शतायु मानकर उसे 4 वर्गों में बाँटा गया है, जिन्हें आश्रम कहा गया है। जन्म से पच्चीस वर्ष की आयु तक के जीवन को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा जाता है। इसके अंतर्गत मनुष्य वन में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है व विद्यार्जन करता है। पच्चीस से पचास वर्ष की अवस्था को गृहस्थाश्रम कहा गया है। इसके अंतर्गत मनुष्य विवाह करके गृहस्थ का पालन करता है। वंश-वृद्धि हेतु संतान उत्पन्न करता है व उसका पालन-पोषण करता है। गृहस्थाश्रम को ही पालक भी माना गया है अर्थात् सभी को पालनेवाला इसी आश्रम में रहकर व्यक्ति अन्य सभी वर्गों यथा दान, संन्यासियों की सेवा, विद्यार्थियों को भोजन इत्यादि की व्यवस्था कर पाता है। पचास से पचहत्तर वर्ष की आयु को वानप्रस्थ की संज्ञा दी गई है। इस आश्रम में व्यक्ति घर में ही रहकर वनवासियों की भाँति जीवन व्यतीत करता है। पचहत्तर से सौ वर्ष की आयु को संन्यास आश्रम कहा गया है। इसके अंतर्गत व्यक्ति सभी कुछ त्यागकर वन में रहकर साधना करता है।

जीवनमूल्यों का वर्गीकरण :

जीवनमूल्यों का विभिन्न विद्वानों के अध्ययन के आधार पर निम्नानुसार वर्गीकरण किया जा सकता है—

1. सामाजिक जीवनमूल्य, 2. सांस्कृतिक जीवनमूल्य, 3. राजनैतिक जीवनमूल्य, 4. आर्थिक जीवनमूल्य, 5. पारिवारिक जीवनमूल्य, 6. नैतिक जीवनमूल्य, 7. आध्यात्मिक जीवनमूल्य, 8. वैयक्तिक जीवनमूल्य, 9. निष्कर्ष

‘पांचाली’ महाकाव्य में जीवनमूल्य : डॉ० कुँअर ‘बेचैन’ के ‘पांचाली’ महाकाव्य का अध्ययन हमें निम्न प्रकार से वर्गीकृत जीवनमूल्यों के आधार पर करना है-

1. **सामाजिक जीवनमूल्य :** आधुनिक समय में सामाजिक व्यवस्था में दोष उत्पन्न हो गए हैं, उनके कारण जाति-पाँति की तुलना में योग्यता भी निरर्थक सिद्ध हो रही है, तब सामाजिक मूल्यों का क्या अर्थ रह गया है? ‘द्रौपदी’ के स्वयंवर में कर्ण मछली की आँख का भेदन करना चाहता है तो द्रौपदी उसे सूत-पुत्र कहकर स्वयंवर से मना कर देती है, तब वह सामाजिक व्यवस्था के दोष पर प्रश्न उठाता है और कह उठता है-

यह ही शौर्य-समीक्षा क्या?
वीरोचित शक्ति-परीक्षा क्या?
जब शक्ति न दिखे, जात दिखे
दिन में भी काली रात दिखे
हो मान जाति का, या घर का
तो क्या है अर्थ स्वयंवर का?
जब शक्ति उपेक्षित हो अनूप
हो जाति प्रमुख, पीछे भुजबल
जब सूर्य स्वयं अपमान सहे

सबको बस यह ही ध्यान रहे। (पांचाली, चतुर्थ सर्ग, पृ० 28)

राजा और प्रजा में परस्पर प्रेम-भाव व कर्तव्य-निष्ठा होनी चाहिए । तभी राज्य स्थापित रह पाता है, और उसका सामाजिक धरातल सुरक्षित रहता है। समाज प्रेम, आस्था तथा भावनाओं पर आधारित है। सामाजिक मूल्यों के हो रहे विघटन को रोकने हेतु समाज में प्रेम, आस्था व भावनाओं का होना आवश्यक है। ‘पांचाली’ महाकाव्य के तृतीय सर्ग में द्रुपद पुत्र-प्राप्ति-हेतु यज्ञ का आयोजन करते हैं, तो यज्ञ से पुत्र व पुत्री की उत्पत्ति होती है तब संपूर्ण राज्य का समाज प्रसन्नता से झूम उठता है-

अब नगर-नगर औ’ गाँव-गाँव
टुमक-टुमक उठा हर एक पाँव
बज उठे बधाए ठाँव-ठाँव मगलमय!
आँगन-आँगन, सज उठे गीत
जो शत्रु रहे बन गए मीत
हारे मन भी कुछ गए जीत
था विस्मय! (पांचाली, तृतीय सर्ग, पृ० 25)

आधुनिक समय में सामाजिक मूल्यों का पतन हो रहा है। नारी के अपमान के समय पाँच महाशक्तियाँ धर्म, बल, कर्म, विज्ञान और कला चुप हैं। ऐसी स्थिति में समाज में क्रांति की ज्वाला अर्थात् छठी शक्ति जाग्रत होती है तथा दुर्व्यवस्था व अत्याचार का विरोध करती

है यही शक्ति समाज में क्रांति का आह्वान करती है और अन्याय के विरुद्ध लड़ने की प्रेरणा प्रदान करती है। 'पांचाली' महाकाव्य के नवें सर्ग में सामाजिक जीवनमूल्य कुछ इस प्रकार देखने को मिलता है—

जब पाँच शक्तियाँ चुप थीं छठी शक्ति जागी
तो मिटी निराशा दूर, पराजय भी भागी
जब प्रजा-दुर्दशा देख, धर्म चुप रहता है
गुँगी होती है शक्ति, कर्म चुप रहता है
विज्ञान और यह कला मौन रह जाती है
तो छठी शक्ति बन क्रांति स्वयं ही आ जाती है
यह छठी शक्ति ही शुभ अवतार कहलाती है। (पांचाली, नवाँ सर्ग, पृ०

30)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने 'पांचाली' महाकाव्य में सामाजिक यथार्थ, गहरी जागरूकता, तीक्ष्ण इतिहास-बोध, सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं को पहचानना, मानवीय संवेदना, अंतर्राष्ट्रीय उन्मुखता, सत्य की संवेदना और परिवर्तित मूल्यों की टकराहट, संत्रास, बिडंबना, व्यंग्य, आत्महीनता आदि को अभिव्यक्त किया है। उक्त विवेचना के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने अपने काव्य में सामाजिक जीवनमूल्यों की अभिव्यक्ति बड़े ही सजीव और सशक्त रूप में की है।

2. सांस्कृतिक जीवनमूल्य :

आधुनिक समय में सांस्कृतिक मूल्यों का हास हो रहा है। समाज में परिवर्तित हो रहे विचारों के कारण सांस्कृतिक मूल्यों का आभाव देखने को मिलता है। डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के प्रति मानव समाज को संदेश दिया है। 'पांचाली' महाकाव्य में द्रुपद, द्रोणाचार्य के द्वारा किए अपमान से क्रुद्ध होकर उनका वध करनेवाले पुत्र को प्राप्त करने हेतु यज्ञ करना चाहते हैं और मुनि उपयाज्ञ के पास जाते हैं तो मुनि उन्हें भारतीय संस्कृति का ज्ञान इस प्रकार कराते हैं—

मुनि, द्रुपदराज की सुनते थे हर एक बात
पर सोच रहे राजा में है प्रतिघात-घात
बोले मुनिवर मुस्कराकर—
सुनिये द्रुपदराज
कल्याण-मात्र को होते हैं ये यज्ञ-काज
सत-चित-आनंद और शिव इसके मूल मंत्र
हम लोक और ये सच्चे लोकतंत्र। (पांचाली, द्वितीय सर्ग, पृ० 8)

प्रत्येक राष्ट्र व समाज अपने सदस्यों से यह आशा करता है कि वह सांस्कृतिक मूल्यों का अनुपालन करते हुए जीवन-यापन करें। यज्ञ भारतीय संस्कृति का अनिवार्य अंग रहा है। साहित्यकार का यह दायित्व होता है कि वह समाज को संस्कृति के मूल्यात्मक विकास के प्रति जाग्रत करे। सामान्य मानव की तुलना में साहित्यकार का यह दायित्व कई गुना अधिक होता है। साहित्यकार मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

डॉ० कुँअर 'बेचैन' भी एक ऐसे साहित्यकार के रूप में सामने आते हैं, जिनके काव्य में सांस्कृतिक जीवनमूल्यों की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में देखने को मिलती है। यज्ञ भारतीय संस्कृति का अनिवार्य अंग रहा है। 'पांचाली' महाकाव्य के तृतीय सर्ग में यज्ञ संस्कृति का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

तिल, जौ, अक्षत, शुभ नारिकेल
घृत, दुग्ध, शर्करा, धूप, तेल
मृदु आम्र-डालियाँ, पात-बेल
अति कोमल।
जलपूरित घट, आसन ललाम चहुँ दिशि यज्ञों की धूम-धाम
करती थी इस पल को प्रणाम
बन उत्पल। (पांचाली, तृतीय सर्ग, पृ० 23)

कविवर डॉ० कुँअर 'बेचैन' के हृदय में अपनी संस्कृति के प्रति बड़े गहरे भाव हैं। वे संस्कृति को सामाजिक जीवन की धुरी के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने संस्कृति-प्रेम को यज्ञ के माध्यम से प्रदर्शित किया है। यज्ञ का सुंदर दृश्य 'पांचाली' महाकाव्य के माध्यम से देखिए—

अस थे अब ऋषि-प्रवर याज्ञ
करने को नृप का यज्ञ-काज
हर्षित था सारा ही सामाज / उत्फुल्लि।
सुनकर, होगा शुभ यज्ञ-होम
हर्षित था विस्तृत नील व्योम
हर्षित धरती का रोम-रोम
अति-विस्मित। (पांचाली, तृतीय सर्ग, पृ० 22)
फिर होता था शुभ शंखनाद
आँखें मूँदे ऋषि पूज्यपाद
देते थे नव आशीर्वाद / सुंदरतम।
होता था पल-पल बार-बार
फिर वेद-ध्वनियों का उचार
दिशि-दिशि अग-जग के आर-पार
स्वर-संगम। (पांचाली, तृतीय सर्ग, पृ० 23)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने 'पांचाली' महाकाव्य में सांस्कृतिक मूल्यों का सजीव व सशक्त चित्रण किया है। उनके काव्य में सांस्कृतिक मूल्यों का वर्णन प्रेरणादायक एवं जीवंत है। उन्होंने मानव समाज को संस्कृति के प्रति जागरूक करने का सार्थक दिशा में प्रयास किया है।

3. **राजनीतिक जीवनमूल्य** : मूल्यों के होते हुए हास से डॉ० कुँअर 'बेचैन' चिंतित दिखाई देते हैं, क्योंकि जब समाज में विघटन होगा तो निश्चित रूप से मूल्य भी प्रभावित होंगे। एक दिन ऐसा अवश्य आएगा जब मनुष्य स्वयं समाज की व्यवस्था एवं गंदी राजनीति को

बदलेगा और व्यवस्था के अनुरूप ईमानदारी, विश्वास, धैर्य, प्रेम, त्याग, सहिष्णुता आदि मूल्यों के साथ शुद्ध राजनीति को अपने जीवन में उतारेगा, ऐसा डॉ० कुँअर 'बेचैन' का विश्वास है। 'पांचाली' महाकाव्य का आठवाँ सर्ग 'षड्यंत्र और परामर्श' में राजनीतिक जीवनमूल्यों का सजीव चित्रण है। दुर्योधन जब पांडवों का महल देखकर ईर्ष्या से जल उठता है तो वह उसे प्राप्त करने-हेतु षड्यंत्र रचता है, तब सभी उसे अलग-अलग परामर्श देते हैं। अंत में राजा धृतराष्ट्र निर्णय लेते हैं—

यह परामर्श सुन बोले यूँ धृतराष्ट्र-राज
 'मैं गद्गद् हूँ पाकर ऐसा विद्वत्समाज
 नीतिज्ञ विदुर, अनुभवी भीष्म, बलवान द्रोण!
 तुम सबने बदल दिया है मेरा दृष्टिकोण
 मन में मेरे उपजे हैं अब मेरे ये सद्विचार

पांडव भी मेरे सूत ही हैं धर्मानुसार। (पांचाली, आठवाँ सर्ग, पृ० 32)

आज के समय में जीवनमूल्य खंडित हो रहे हैं। विकास के साथ ही परंपराओं व मान्यताओं के प्रति मानव की दृष्टि में बदलाव आया है। मूल्यों का खंडन वैयक्तिक स्तर पर ही नहीं, राजनीतिक स्तर पर भी हो रहा है। स्वार्थी तत्त्व राजनीति का सहारा लेकर अपने गंदे उद्देश्य को पूरा करने में लगे हुए हैं। डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने इस स्थिति को गहनता से महसूस किया और अपने काव्य के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। 'पांचाली' महाकाव्य के अष्टम सर्ग में राजनीतिक जीवनमूल्य भरे पड़े हैं। दुर्योधन के माध्यम से कवि ने राजनीतिक मूल्यों को इस प्रकार चित्रित किया है—

बोला दुर्योधन 'उचित इस समय भेद-नीति /
 उन पांडव-जन पर विजय-प्राप्ति की यही रीति।

(पांचाली, आठवाँ सर्ग, पृ० 22)

कवि का राजनीति से सीधा साक्षात्कार हुआ है। पांचाली महाकाव्य के अष्टम सर्ग के माध्यम से डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने राजनीति के प्रति अपनी जागरूकता दिखाई है। आज के समय में राजनीति का अर्थ केवल व्यक्तिगत स्वार्थ- पूर्ति से रह गया है। आज व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए राजनीतिज्ञ का चोला ओढ़कर किस हद तक गिर सकता है, उसका एक चित्र डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने प्रस्तुत किया है। दुर्योधन के इस राजनीतिक दाँव का उत्तर धृतराष्ट्र इन शब्दों में देते हैं—

'चलो सुत! अपनी नीति चलो
 उन्मत्त सफलता के प्रिय साँचों में पिघलो
 जिसमें भी हो कल्याण तुम्हारा, वही करो
 रख राख-धूल ऊपर, नीचे अंगार धरो
 पांडव-जन समझें राख, मगर वह हो ज्वाला
 उनकी गति रोके, उनके पग ही का छाला।

(पांचाली, आठवाँ सर्ग, पृ० 22, 23)

निष्कर्ष के आधार पर कहा जा सकता है कि डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने समाज और

राजनीति के प्रत्येक व्यक्ति के मुखौटों को उतारकर असलियत का पर्दाफाश किया है। वे राजनीति के नए सिरे और नए तेवर से जुड़े प्रतीत होते हैं। उनके काव्य से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक विघटन से राजनीतिक मूल्य प्रभावित हो रहे हैं। अपने काव्य में डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने राजनीतिक मूल्यों को आधार बनाकर व्यापक जीवन के सत्य-बोध का प्रयास किया है।

4. **आर्थिक जीवनमूल्य** : धन से ही मनुष्य समस्त भौतिक सुख-साधनों को प्राप्त करता है और धन के अभाव में उसका सारा जीवन ही अभावग्रस्त हो जाता है। इन दोनों ही रूपों का प्रभाव हमारे जीवनमूल्यों पर पड़ता है। आर्थिक मूल्य मानव-संस्कृति का प्रश्न बनकर रह गया है। कवि ने धनाढ्य व्यक्तियों के ऐश्वर्ययुक्त जीवन को चित्रित किया है। 'पांचाली' महाकाव्य के सातवें सर्ग में दुर्योधन जब पांडवों के महल को देखता है, तो वह वहाँ का वैभव देखकर आश्चर्यचकित हो जाता है—

उस खेत की हरियालियाँ /
चहुँओर ही दिखला रहीं / उत्फुल्लता, प्रजनन प्रगति /
पांडवजनों की स्वस्थ मति। (पांचाली, सातवाँ सर्ग, पृ० 24)

विकास के कारण आर्थिक मूल्य विघटित हो रहे हैं। आत्मीयता का स्थान औपचारिकता ले रही है। तनाव, संशय, कुंठा, हृदयहीनता सबके मूल में अर्थ ही है। अर्थ के सामने नैतिकता का कोई मूल्य नहीं रह गया है। समाज में जो पारिवारिक विघटन, ईर्ष्या, द्वेष पनप रहे हैं, उन सबका कारण धन ही है। 'पांचाली' महाकाव्य के सप्तम सर्ग में दुर्योधन पांडवों के महल की शोभा को देखकर दंग रह जाता है। वह पांडवों के महल में स्वर्ण-कलश व अन्य महँगी वस्तुएँ देखकर उनके आर्थिक आधार की गणना करने लगता है—

ये प्राणवत्ता वास्तु की / वैराट्य की साकरता
ये शिल्प में पौरुष-निहित / पांडव-भवन-गरिमा प्रखर!
ये भवन के स्तंभ नव / जैसे कि केले का विटप
संपूर्ण दीवारें सुधर / नव उच्चता के रूप में
चढ़ती हुई शुभ सीढियाँ / ये शीश पर स्वर्णिम कलश
देवालयों की भाँति प्रिय/ मेरे लिए ही क्यों नहीं?
मेरे लिए ही क्यों नहीं!! (पांचाली, सप्तम सर्ग, पृ० 28)

आज अर्थ के समक्ष दया, प्रेम, त्याग, सहानुभूति, करुणा जैसे शाश्वत मूल्यों का गला घुटता जा रहा है। आर्थिक मूल्यों का विघटन रोकने के लिए कवि ने आत्मा की आवाज़ को माध्यम बनाकर जनसामान्य को संदेश दिया है। पांडवों का महल देखकर दुर्योधन के मन में ईर्ष्याभाव आता है तब मन के साथ आत्मा भी जागती है और वह उसे समझाती है—

संपत्ति अपने पुत्र के / हाथों सुरक्षित रह सकें
यह भी नहीं अनिवार्य कुछ- / बस इसीलिए संपत्ति से
आसक्तियाँ अच्छी नहीं'। (पांचाली, सप्तम सर्ग, पृ० 31)

इसप्रकार डॉ० कुँअर 'बेचैन' के काव्य में उच्चवर्ग का विलासिता के पलने में झूलता हुआ दृश्य दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक मूल्यों के कारण मन में उपजी असंतोष की भावना, कुंठा व ईर्ष्या भी दृष्टिगोचर होती है। परंतु इन सभी पर ध्यान न देकर

कवि ने आत्मा की आवाज़ का संदेश देकर संतोष रूपी धन प्रदान किया है।

5. **पारिवारिक जीवनमूल्य** : आज के समय में मानवीय मूल्य विघटित होने लगे हैं और व्यक्ति नैतिकता की जगह अनैतिकता की ओर अग्रसर होने लगा है। मनुष्य समाज व परिवार से कटकर आत्मोन्मुख होता जा रहा है। इस स्थिति को डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने समझा और परिवार के सदस्यों को परिवार के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करने की प्रेरणा दी है। 'पांचाली' महाकाव्य के छठे सर्ग में सत्यभामा व द्रौपदी-संवाद के माध्यम से डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने पारिवारिक जीवनमूल्यों का वर्णन किया है—

ससुराल-पक्ष में वयोवृद्ध है जो भी /

सम्मान करें यदि हम उसका,

तो वो भी आशीर्वाद-आह्लाद दिया करता है। /

ये द्वेष-भाव के घाव सिया करता है। (पांचाली, छठा सर्ग, पृ० 32)

सामाजिक मूल्यों का परिचय सर्वप्रथम हमें परिवार से ही हो जाता है। डॉ० कुँअर 'बेचैन' के हृदय में परिवार के प्रति बड़े मर्मस्पर्शी भाव हैं। वे समाज को सामाजिक जीवन की धुरी के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि यदि परिवार ही विखंडित हो गया तब जीवनमूल्यों में हास की संभावना बढ़ जाती है। उस हास को रोकने के लिए परिवार की इकाई, सक्षम, सशक्त और सुदृढ़ होनी चाहिए। उन्होंने परिवार की कल्पना किसी परिकल्पना के आधार पर न करके यथार्थ और स्वाभाविकता को ध्यान में रखकर की है। 'पांचाली' महाकाव्य के षष्ठ सर्ग में द्रौपदी, कृष्ण की पत्नी सत्यभामा को पारिवारिक जीवनमूल्यों के पालन की प्रेरणा इन शब्दों में देती है—हर मानव पर पाँच इंद्रियाँ होतीं / वे गृहस्थ आश्रम में कभी न सोतीं / उन सबका ध्यान कि जो नारी रखती है / पति-प्रेम-स्वाद वह निश्चय ही चखती है। (पांचाली, षष्ठ सर्ग, पृ० 27)

डॉ० कुँअर 'बेचैन' परिवार के प्रति पूरी तरह आस्थावान दिखाई देते हैं। कवि ने परिवार के प्रति प्रेम-भाव को वैयक्तिक धरातल पर नहीं वरन् सामाजिक धरातल पर उतारा है। कवि ने पारिवारिक मूल्यों के विघटन को रोकने हेतु परिवार के सदस्यों से यह आशा की है कि वह सामाजिक मूल्यों का अनुपालन करते हुए जीवन-यापन करें। कुलवधू को अपने पारिवारिक सदस्यों के साथ किस तरह का आचरण करना चाहिए, इसे डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है। द्रौपदी सत्यभामा को परिवार में जीवनमूल्यों का पालन किस प्रकार करना चाहिए के विषय में बता रही है—जो सबको उनका नियत मान देती है / वे सबके मन को स्वयं जीत लेती है / छोटों को देकर प्यार बड़ों को आदर / जो सदा ओढ़ती रहती शुभ की चादर / जिस-जिस का जो है देय उसे जो देती / वे नाव गृहस्थी की, शुभ पथ से खेती। (पांचाली, षष्ठ सर्ग, पृ० 26)

इस प्रकार मनुष्य की प्रथम पाठशाला परिवार का संयुक्त रूप आज लघु परिवार में बदलता जा रहा है। ऐसी स्थिति में परिवार के सामाजिक मूल्यों का हास होना स्वाभाविक है। कवि ने विघटित हो रहे पारिवारिक मूल्यों को देखा और अपने काव्य के माध्यम से परिवार के प्रति प्रेम, आस्था आदि भावनाओं को चित्रित किया और माना कि इन पारिवारिक मूल्यों में हो रहे विघटन को रोकने के लिए परिवार की इकाई को सक्षम, सुदृढ़ और शक्तिशाली होना चाहिए।

6. **नैतिक जीवनमूल्य** : कवि ने नैतिक मूल्यों के अंतर्गत सत्यता, साहस, संघर्ष, स्वाभिमान, युगबोध, शोषित की रक्षा, ईमानदारी आदि जीवनादर्शों को अपने काव्य में स्थान दिया है। वे त्याग, नारी-रक्षा जैसे भावों से ओत-प्रोत होकर जनसामान्य को जागरूक करते हुए कहते हैं। 'पांचाली' महाकाव्य के आठवें सर्ग में दुर्योधन जब द्रौपदी के अपहरण की योजना बनाना चाहता है तो विदुर उसे फटकारते हुए कहते हैं—यह सुनकर क्रुद्ध वचन में बोले संत विदुर / दुर्योधन तुम तो रहे कूप के ही दादुर फिर बोले— 'पूजा की थाली है हर नारी / पददलिता कहने की है भूल बहुत भारी / नारी तो है इस सारे जग की मर्यादा / मर्यादाओं से ही रही शक्ति किसमें ज्यादा। (पांचाली, आठवाँ सर्ग, पृ० 26)

नैतिक मूल्य मानव-जीवन को अनुशासित एवं नियंत्रित बनाए रखते हैं। यह मनुष्य की रुचि, अरुचि, आकर्षण-विकर्षण का प्रतिफल होते हैं और समाज से जुड़कर व्यापक रूप ग्रहण करते हैं। कवि डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने अन्याय, कुंठा, अवसाद, अनास्था, निराशा, क्रोध आदि जीवन-सत्यों को पहचाना और मनुष्य को इन सभी से बचते हुए नैतिक मूल्यों को जीवन में उतारने की प्रेरणा प्रदान की है। 'पांचाली' महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में द्रोणाचार्य द्वारा अपमानित होकर बदले की आग में जलते द्रुपद को मनि उपयाज नैतिकता का पाठ इन शब्दों में पढ़ाते हैं—

है क्रोध शक्ति, तुम उसको संचित रखो बंधु!
यह अमर स्वाद है, अच्छे मन से चखो बंधु!
है व्यर्थ लुटाने की न वस्तु यह, क्रोध-कोष
हो उचित समय पर, तो यह देता अमित तोष।

(पांचाली, द्वितीय सर्ग, पृ० 13)

डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने नैतिक पतन का कलात्मक ढंग से चित्रण किया है कि उसकी चोट व्यवस्था पर पड़ती है। यथार्थ का गहन स्तर उजागर होता है। कवि ने सच्ची मानवता और नैतिक गुणों के दर्शन उन पात्रों में किया है, जो प्रतिदिन जीवन के कष्टप्रद संघर्षों से कभी हार नहीं मानते और भविष्य के निर्माण के लिए निरंतर संघर्ष करते रहते हैं। मुनिवर उपयाज द्रुपद को नैतिक मूल्यों का ज्ञान करा रहे हैं, उसका एक उदाहरण प्रस्तुत है—

मत डालो पानी में ये विघटन की दरार
मत फेंको कोमल मानवता पर रण कुठार
ऐसे तो पोंछ जाएगा माँगों से सिंदूर

माथे की बिंदिया दूर गिरेगी, बहुत दूर! (पांचाली, द्वितीय सर्ग, पृ० 13)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने नैतिकता के उत्थान के लिए अपने काव्य में त्याग, उदारता, सहिष्णुता, कर्तव्यपालन, देशभक्ति, संघर्ष, स्वाभिमान, दया, प्रेम, विश्वास, सत्य, आस्था, न्याय, मर्यादा, नारी रक्षा जैसे नैतिक मूल्यों को अभिव्यक्त किया है।

7. **आध्यात्मिक जीवनमूल्य** : वेद, शास्त्र, सांख्य, योग, दर्शन आदि में सभी भारतीय मनीषियों का चिंतन देखने को मिलता है। अनंत, अनादि, सर्वव्यापक, निराकार कालदृष्टा है। इस विराट के रहस्य को समझने के लिए सत्य, चेतना का सहारा लेना पड़ता

है अहं की अग्नि में जलते प्राणियों की दुर्दशा से पीड़ित प्राणी पर अपने आध्यात्मिक विचारों का लेप कवि ने इन शब्दों में लगाया है। 'पांचाली' महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में मुनिवर उपयाज्ञ बदले की आग में जल रहे द्रुपद को आध्यात्मिकता का ज्ञान इस प्रकार प्रदान करते हैं—

है हीनभावना कुंठाओं का जटिल रोग
इसकी औषधि है राजन! केवल सहज योग
जितना हो मन को रक्खोगे तुम सहज-सरल
उतना ही सूखेगा यह मन का तीक्ष्ण गरल
छलकेगा भीतर-भीतर ऐसा अमृत-रस
झूमेगा रोम-रोम, महकेगा शुभ अंतस्
कुंडलिनी जागेगी, भीगेगा सहस्रार
छलकेगा सारे जग के हित फिर मधुर प्यार
राजन! तुममे जन्मेगी जब सहयोग-दृष्टि

तुम स्वयं देखना, मित्र बनेगी सकल सृष्टि'। (पांचाली, द्वितीय सर्ग, पृ० 7)

डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने अपने काव्य के माध्यम से मानवीय संवेदना से संबंधित नैतिक, आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके 'पांचाली' महाकाव्य के नवें सर्ग में इसके उदाहरण देखने को मिलते हैं। कवि का दृष्टिकोण है कि धर्म का पालन न करने के कारण ही संसार में दुख-दैन्य निरंतर बढ़ता जा रहा है। उस स्थिति को उन्होंने द्रौपदी की इस पुकार के माध्यम से व्यंग्यात्मक रूप में अभिव्यक्ति दी है। 'पांचाली' महाकाव्य के नवें सर्ग में द्रौपदी चीरहरण के समय पांडवों के चुप रहने पर श्रीकृष्ण को इस प्रकार पुकारती है—

रो उठी और रोकर पुकारने लगी उसे
जिसको पुकारने से संकट की शिला घिसे
वह कृष्ण, कृष्ण वह चक्रपाणि, वह नटनागर
वह जग का दया सिंधु, वह सान्त्वना का सागर।

(पांचाली, नवाँ सर्ग, पृ० 27)

समाज में सद् और असद् प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष चलता रहता है। कभी-कभी असद् प्रवृत्तियाँ सद् पर हावी हो जाती हैं और समाज में सबल दुर्बल पर विजय प्राप्त करता दिखाई देता है। उस समय मानव को ईश्वर की याद आती है तब मनुष्य ईश्वर से सहायता की पुकार करता है। संकट में घिरने के बाद द्रौपदी, श्रीकृष्ण को ईश्वर मानते हुए अपनी रक्षा के लिए पुकार उठती हैं—सहधर्म त्याग / मृदुमर्म त्याग / सत्कर्म त्याग ऋजुता का / ये पंचतत्त्व / बल के घनत्व / खो रहे सत्व निजता का / हे कृपाधाम! / तव एक नाम / जिसको प्रणाम शत् मेरे / विधि हुआ वाम / अब हाथ थाम / तोड़ो विराम के घेरे। (पांचाली, नवाँ सर्ग, पृ० 29)

हम यह कह सकते हैं कि कविवर डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने अध्यात्म की शक्ति के रूप में आस्था और विश्वास को ग्रहण किया और बतलाया कि अध्यात्मशक्ति के बल पर समाज का उत्थान किया जा सकता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने अपने काव्य में आध्यात्मिक जीवनमूल्यों को भी स्थान दिया है।

8. **वैयक्तिक जीवनमूल्य** : डॉ० कुँअर 'बेचैन' के काव्य में वैयक्तिक जीवनमूल्यों के अंतर्गत, स्व का बोध, निष्ठा उल्लास, विषाद, अहं का बोध, व मन का क्षोभ व उसके परिणामस्वरूप, विद्रोह व संघर्ष का रूप इस प्रकार देखा जा सकता है। 'पांचाली' महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में द्रौपदी के स्वयंवर में कर्ण के अपमान के समय कर्ण के वैयक्तिक मूल्य देखने को मिलते हैं—

सूरज तो श्याम गगन-सुत है!
 यों वह ऊँचे पद से च्युत है!!
 क्या नभ से सूर्य को गिरा दोगे?
 उज्ज्वल वैदूर्य गिरा दोगे?
 जब सूरज का भी मान न हो
 उसके गौरव का भी ध्यान न हो
 जब मान न होता हो नीलांबर का

तो क्या है अर्थ स्वयंवर का । (पांचाली, चतुर्थ सर्ग, पृ० 28)

डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने व्यक्ति के महत्त्व को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही स्वीकार किया है, क्योंकि सामाजिक चेतना और व्यक्ति चेतना को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता। डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने व्यक्ति की पावनता को पहचानकर उपयाज्ञ मुनि के माध्यम से व्यक्त किया है। 'पांचाली' महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में द्रोणाचार्य से अपमानित होकर बदले की आग से जलते द्रुपद, मुनि उपयाज्ञ से प्रार्थना करते हैं कि वे यज्ञ के द्वारा पुत्र उत्पन्न करें, जो द्रोणाचार्य का शीश काटकर मेरे अपमान का बदला ले सके तो मुनि उपयाज्ञ द्रुपद को अपना व्यक्तिगत मत इन शब्दों के माध्यम से समझाते हैं—

क्या नैनों के नभ से बरसाकर उपल-मेह
 घायल करनी है सकल सृष्टि की मृदुल देह
 मैं नहीं करूँगा ऐसा कोई यज्ञ-काज

जिसके कारण पीड़ित हो पूरा जन-समाज। (पांचाली, द्वितीय सर्ग, पृ० 13)

विद्वद्जनों ने जीवन को अर्थवत्ता प्रदान की है और वैयक्तिकता को महत्त्व दिया है। डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने समाज को बहुत पास से देखा है इसीलिए वे वैयक्तिक जीवनमूल्यों को बड़े प्रभावी ढंग से व्यक्त करने में सफल हुए हैं। उन्होंने व्यक्ति को केंद्र मानकर समाज की यात्रा की है। वे व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए समाज की ओर बढ़े हैं। समाज में प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व भिन्न-भिन्न है, इसका उदाहरण हमें देखने को मिलता है।

द्रुपद के पुनः प्रार्थना करने पर तथा भविष्य का ज्ञान करके उपयाज्ञ मुनि द्रुपद को अपने भाई याज्ञ के पास जाने का परामर्श देते हैं तथा अपने भाई के व्यक्तित्व का परिचय इस प्रकार देते हैं—

मेरा ही है अनुज एक
 उसको न उचित औ' अनुचित का कोई विवेक
 कर उचित और, अनुचित का कोई भी विचार
 धरती पर पड़े हुए फल को वह एक बार

खा बैठा था, अपना विवेक औ' ज्ञान भूल
 था फल जूटा, चिपके थे जिससे शूल-धूल
 जो बिन सोचे-समझे कुछ भी कर जाता है
 वह शीघ्र दूसरों की बातों में आता है
 लगता है बिना विचारे मेरा अनुज, स्यात
 मानेगा शीघ्र तुम्हारी भी यह क्रूर बात
 यह कहते हुए मुझे है सचमुच बड़ा क्षोभ
 मेरे इस भाई को धन का है बहुत लोभ
 तुम लालच देकर बहुविधि हर प्रकार
 बस उसे बना दो पुत्र-यज्ञ का कर्णधार
 वह यज्ञ-काज में बहुत निपुण है नाम याज्ञ

बस वही करेगा पूर्ण तुम्हारा यज्ञ काज। (पांचाली, द्वितीय सर्ग, पृ० 14)

इस प्रकार डॉ० कुँअर 'बेचैन' के काव्य में वैयक्तिक चेतना से जुड़े जीवनमूल्यों का बड़ी सफलता के साथ चित्रण हुआ है। उनके वैयक्तिक जीवनमूल्यों के अंतर्गत व्यक्ति के सद्गुण व बुराइयों का भी वर्णन मिलता है। उन्होंने जीवन के संघर्षों का भी स्पष्ट वर्णन किया है।

9. भोगवादी जीवनमूल्य : आधुनिक युग भौतिकतावादी युग है। आज मनुष्य भौतिक सुख-साधनों पर आश्रित हो गया है। वह अधिक-से-अधिक सुख-सुविधाओं का उपभोग करना चाहता है। मानव अपने जीवनकाल में अधिक-से-अधिक जितने सुख साधनों का प्रयोग कर लेता है, उसे हम भोगवाद के नाम से अभिमानित करते हैं। अपनी इच्छाओं और मनोवेगों को नियंत्रित रखते हुए हम जितने सुख-साधनों का उपभोग करते हैं, उससे हमारी बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता है। डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने अपने काव्य में इसे चित्रित किया है। जब दुर्योधन पांडवों के सुख-साधनों को देखता है तो वह भी उन सभी का उपयोग करने को आतुर हो उठता है और कह उठता है— हर वर्ण-संगति, रंग-मिलन / सबका अनूठा संतुलन / रंग के विरोधासास से / उपजी हुई गतिशीलता / ये भाव-द्योतक रंगते / नव पोत से शोभित छतें / हर रंग के प्रिय मान नव / ये धूप-छाया का विभव / मेरे लिए ही क्यों नहीं! / मेरे लिए ही क्यों नहीं !! (पांचाली, सप्तम सर्ग, पृ० 24)

डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने भौतिक भोग के साथ ही साथ शारीरिक योग को भी एक नशा और जीवनी शक्ति के रूप में चित्रित किया है। कवि ने शारीरिक भोग को भोगने की इच्छा भी मानवीय मूल्यों के अंतर्गत माना है। मनुष्य मांसलता को महत्त्व देते हुए प्यार के पलों को भोगने के लिए बड़ा आतुर किस प्रकार हो जाता है, इसका एक चित्र 'पांचाली' महाकाव्य के पंचम सर्ग में अर्जुन के मन में द्रौपदी के प्रति भावों के माध्यम से देखिए—अंगुलियों से लकीरें खींचकर कोरे बदन पर / तनिक यह देखना मुझमें तुम्हारी प्यास है क्या ? / हमारे कान की मृदु कोर को यूँ ही मसलकर / तनिक यह ढूँढना इनमें नया इतिहास है क्या ? (पांचाली, पंचम सर्ग, पृ० 30)

कवि यह मानता है कि जीवन क्षणिक है अतः जीवन में आने वाले सुख क्षणों को

भोग लेना चाहिए। उन्होंने बसंत ऋतु के माध्यम से प्रणयानुभूति को खुलकर व्यक्त किया है कवि के काव्य में बसंत ऋतु का जो वैभव देखने को मिलता है उससे उनकी प्रेमिल भावनाएं उदीप्त होती हैं। व्यक्ति जब श्रम से थककर जीवन से पलायन चाहने लगता है तो थके-हारे मन को बसंत ऋतु की रात ही सुख प्रदान करती है—

मौन बसंती निशा की गोद में
प्रीति की पहली छुआन कैसी लगी?
भूमि को कैसा लगा नभ का नमन

एक कलिका को भ्रमर का आगमन। (पांचाली, पंचम सर्ग, पृ० 31)

इस प्रकार विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने अपने काव्य में भोगवादी मूल्य प्रचुर मात्रा में उत्कीर्ण किए हैं। उन्होंने अपनी रचना में मूर्त और मांसल अनुभूति को बड़ी बारीकी और सप्राणता के साथ अभिव्यक्त किया है। उनकी रचनाओं में यौन आकर्षण तो दिखाई पड़ता है परंतु अश्लीलता के दर्शन नहीं होते। निष्कर्ष यह है कि डॉ० कुँअर 'बेचैन' के काव्य में भोगवादी जीवनदृष्टि मिलती है।

अस्तु, डॉ० कुँअर 'बेचैन' द्वारा रचित 'पांचाली' महाकाव्य के अध्ययन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उन्हें 'पांचाली' महाकाव्य में जीवनमूल्यों को व्यक्त करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। अन्वेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'पांचाली' में आधारभूत मूल्यों के साथ सामंजस्य बैठाकर नवीनता और मौलिकता की उद्भावना कवि ने की है। 'पांचाली' महाकाव्य का विवेचन और विश्लेषण करने के उपरांत हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि डॉ० कुँअर 'बेचैन' ने अपने काव्य में व्यष्टिपरक और समष्टिपरक जीवनमूल्यों की बड़ी ही सजीव, सहज और सार्थक अभिव्यक्ति की है।

संदर्भ

1. आप्टे वामन शिवराम, संस्कृत हिंदी कोश पृ० 812
2. डॉ० रामजी तिवारी, स्वातंत्रयोत्तर हिंदी-समीक्षा में काव्य-मूल्य, पृ० 15
3. डॉ० देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ० 168
4. डॉ० प्रभाकर माचवे, हिंदी कोश भाग 1, पृ० 658
5. स्वाधीनता-कालीन हिंदी साहित्य के जीवनमूल्य, सं० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', पृ० 16
6. डॉ० प्रभाकर माचवे, हिंदी साहित्य कोश भाग 1 सं० धीरेंद्र वर्मा पृ० 604
7. डॉ० हुकमचंद्र राजपाल, आधुनिक हिंदीकाव्य में जीवनमूल्य, पृ० 18 से उद्धृत
8. डॉ० देवीप्रसाद गुप्त, हिंदी महाकाव्य : सिद्धांत और मूल्यांकन पृ० 23

□ अंशकालिक एवं अस्थायी प्रवक्ता, हिंदी-विभाग
वी०वी० स्नातकोत्तर महाविद्यालय
शामली (उ०प्र०)

नागार्जुन के उपन्यासों में लोकचेतना का स्वर

हरमनदीप सिंह

शोधछात्र, हिंदी विभाग

पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

प्रेमचंद की ग्राम-अंकन परंपरा का अपने उपन्यासों में पूर्ण तत्परता और लगन से निर्वाह करते हुए नागार्जुन ने उसमें 'आंचलिकता' का भी सफल समावेश करवाया। यहाँ मिथिलांचल के लोकजीवन के प्रति गहरे लगाव और आत्मीयतापूर्ण भावों का प्रदर्शन भी हुआ और वहाँ की विविधता, विशिष्टता, निजत्व, पारस्परिक संबंध-क्षीणता, क्षण-क्षण की परिवर्तनशीलता-समेत संपूर्ण जीवन-प्रणाली का एक विशिष्ट दृष्टिकोण द्वारा उद्घाटन भी हुआ। यह विशिष्ट दृष्टिकोण ही उनकी आंचलिकता को 'विशुद्धता' की जगह 'स्वस्थता' में परिवर्तित करता है। इसमें वहाँ के 'जीवन-सत्य' से साक्षात्कार करने का भाव भी विद्यमान है और लोकयथार्थ के नए तत्वों की खोज के प्रति सचेत आग्रहशीलता भी। स्वस्थ आंचलिकता-संपन्न दृष्टिकोण ही उन्हें 'मिथिलांचल' विशेष की सीमाओं का अतिक्रमण करवाकर संपूर्ण हिंदी-जगत् का साहित्यकार बनाता है। नागार्जुन की औपन्यासिक लोकचेतना परिवार, समाज, अर्थ, राजनीति और संस्कृति सभी में परिवेष्टित होकर पारंपरिक मूल्यों और गतिशील आधुनिक मूल्यों दोनों द्वारा परिचालित है। उनके व्यक्तित्व में सरलता, ईमानदारी, खरापन, दृढ़ता एवं स्थिरता जैसे स्थिर गुण, बुद्ध, मार्क्स और गांधी की प्रेरणा, किसान-नेता बनने और जयप्रकाश नारायण के साथ जेलयात्रा के अनुभव भी उनकी लोकचेतना में मुखरित हुए हैं। ये उनकी मानसिकता व बौद्धिक स्तर की निरंतर नवीनता से लेकर जनजागरण के नव्यतम रूपों की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहने में सहायता और उद्यम दोनों देते रहे।

'यायावरी और फक्कड़ प्रवृत्ति के अनुरूप कई वर्षों तक गृहस्थाश्रम से लंबी दूरी भी मिथिलांचल के प्रति उनकी आस्था और लगाव को नहीं तोड़ पाई। लोकजीवन के प्रति उदार, स्नेही एवं आत्मीयतापूर्ण भाव रखकर उनकी संवेदनाओं में लोकयथार्थ का उचित समावेश जहाँ लोकवासियों को श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों की ओर पुनःप्रेरित करता है, वहाँ देश-समाज के उन्नत एवं उज्वल भविष्य के प्रति भी आशावान है। 'संवेदना के स्तर पर नागार्जुन का लोक से सदैव लगाव बना रहता है और उसके प्रति आस्था सुदृढ़ रहती है। लोक के प्रति उनकी यह आस्था ही उन्हें समाज के सबसे निचले वर्ग से जोड़ती है।''

लोक की गतिशीलता, प्रवाहमयता एवं जीवंतता को केंद्र में रखकर नागार्जुन अपने आंचलिक वर्णनों को ऐसा अर्थपूर्ण, सारगर्भित और असाधारण बनाते हैं, जिसमें लोकजागरण की एक नई दिशा एवं लोकजागृति के नवसंकेत स्वयं झलकते हैं। उनकी लोकचेतना मात्र दिखावा या आडंबर नहीं है, वह अपने साथ एक निश्चित अर्थ, उद्देश्य, आदर्श एवं आकांक्षा

को भी बनाए रखती है। उनकी चेतना का स्वर व्यवस्था और परिवेश के प्रति प्रतिकूलता रखकर लोकवासियों को नवसृजन और नवनिर्माण की ओर निरंतर प्रोत्साहित व उत्साहित करता है। विभिन्न जगह वे ऐसे 'परिवर्तनोन्मुखी लोक' के निर्माण की उद्घोषणा करते हैं। जहाँ के वासी परंपरागत सामाजिकता और समुदायवाद से भिन्न व्यक्तित्व व दृष्टिकोण दोनों रखते हैं। लोक में इस नए समाज की संरचना के साथ नागरिक जीवन से परे अपनी ही सीमा और सामर्थ्य में पलने और बसनेवाले इस देहाती अंचल में कुछ कर-गुजरने को छटपटाती मानसिकता भी जन्म ले रही है। उनके 'दुखमोचन' उपन्यास में नायक 'दुखमोचन' द्वारा ग्रामोद्धार के मार्ग में आनेवाली विपत्तियों से संघर्ष कर जाति, वर्ण, अमीर-गरीब और ऊँच-नीच के भेदभाव से परे आदर्श गाँव के निर्माण का स्वप्न पूरा करना चेतना के इस रूप का प्रतीक है। "उनका स्वप्न जनता का स्वप्न है, उनका स्वप्न नई ज़िंदगी, नई जवानियों और नए युग का स्वप्न है, दुनिया की दो-तिहाई आबादी का स्वप्न है।" मछुआरों के जीवन-संघर्ष पर आधारित उपन्यास 'वरुण के बेटे' में मछुआरों की एकता, सजगता और जागरूकता से उठे विद्रोह के भाव और 'नई पौध' द्वारा नए आचार-व्यवहार और विचारों का समर्थन लोकसमाज के नएपन की ओर अग्रसर होने का परिचायक हैं। नागार्जुन के नायक अकेले नहीं हैं, लोकवासियों का संघर्षरत रूप भी उनके साथ है, जो उनके कंधे से कंधा मिलाकर स्वयं के जाग्रत होने को जगजाहिर कर रहा है। "नागार्जुन के यहाँ जनता सिर्फ करुणा और दया उपजाने वाली स्थिर, जड़ वहाँ रखी हुई चीज़ नहीं है, बल्कि इकट्ठा होती हुई, समूह बनती चलती, कभी थककर बैठती, लेकिन फिर उठकर आगे बढ़ती, हमला करती, डंडों, गोलियों के आगे तितर-बितर होती, नारे लगाती, घेराव तथा हड़ताल करती जेल जाती और कभी-कभी जान देती जनता है।" जनता का यह संघर्षप्रिय रूप जान पर खेलने का साहस रखता है, इसमें उजले-चमके और क्रांति-दीप्तियुक्त भविष्य की कामना भी निहित है।

नागार्जुन अपने समकालिक समय में मिथिला देहात के कृषक-मजदूर वर्ग में पनपते और झलकते 'चेतना' के उस रूप की भी पहचान-परख रखते हैं, जिसमें अपने 'अधिकार', 'हक' और 'न्याय' की प्राप्ति हेतु टकराव और तीव्र संघर्ष का आवाहन है। विशेषतः जमींदारी उन्मूलन की स्वीकृति के बाद की वह स्थिति जब जमींदार शासक-वर्ग के प्रोत्साहन से जमीन को बंजर, जलाशय, पोखर, बाग़ चरागाहों द्वारा नियंत्रण में रखकर यथास्थिति बनाए रखने के गंभीर प्रयत्नों में लगे हुए थेंय को भी वे हू-ब-हू चित्रित करते हैं। जमींदारों की इच्छाओं, नीयत और व्यवहार में बदलाव और इसके दबाव में उभरी नवीन समाज-व्यवस्था का वर्णन भी इसमें शामिल है। 'शासक' और 'शोषक' के इस दगेबाज़ी लूट दमन और छीनने की प्रक्रिया के प्रतिकार में 'लोक' में उभरे संघर्ष के दोनों रूपों 'वैयक्तिक' और 'सामूहिक' का बड़ी सूक्ष्मता से अंकन करते हैं। उनके अपने निजी अनुभव और प्रत्यक्ष रूप में ऐसे संघर्ष में हिस्सेदारी इन संघर्ष-वर्णनों को और अधिक तीखा, पैना और धारदार बना देते हैं। 'रतिनाथ की चाची' में वर्णित किसान-आंदोलन प्रत्यक्षतः 1937-39 तक बिहार में चलनेवाले किसानों के सशक्त आंदोलन से प्रेरित और प्रभावित है। 'वरुण के बेटे' में गढ़-पोखर की पुनः प्राप्ति हेतु मछुआरों की सामूहिक संघर्षशीलता का वृत्तांत तत्कालीन मैथिल जमींदारों की उस स्वार्थप्रियता और खुदगर्जी को व्यक्त करता है, जब वे पोखर, चरागाहों में अनैतिक दख़ल से लेकर उन्हें

बेचने तक को प्रयत्नशील थे।

मैथिली कृषक की लोकचेतना को विश्वसनीय बनाने में इसके स्वाभाविक गुणों यथा सच्चाई, त्याग, समर्पण, मौजमस्ती, फक्कड़पन, भावुकता, रसिकता, तर्कशीलता, सहृदयता, कोमलता, अक्खड़ता, रसिकपन आदि को भी पूर्ण संवेदना से अभिव्यक्ति ही नहीं देते, अपितु इसमें से उभरती पीड़ा, क्षोभ, निराशा, विद्रोह और आक्रोश को भी सार्थकता से उकेरते हैं। जर्मींदार के शोषण, अन्याय, अत्याचार और दुराचार से 'बलचनमा' में उत्पन्न दुःख, पीड़ा, निराशा और अवसाद के भाव ही आगे प्रतिशोध, प्रतिकार और विद्रोह को जन्म देते हैं। "बलचनमा का जीवन संघर्षपूर्ण है। अपनी सामाजिक विकृतियों और आर्थिक कष्टों से घबराकर वह निराशावादी और पलायनवादी नहीं बनता।"⁴ नागार्जुन द्वारा उल्लिखित सभी कृषक-आंदोलन मैथिली कृषकों के अदम्य साहस, वीरता, शक्ति और सुदृढ़ संगठन के परिचायक भी हैं। 'बलचनमा' में नारे लगाते उत्साही किसानों का यह दृश्य अपमान और अत्याचार में निहित भयानकता, करुणा और मानवीयता पर नागार्जुन की सूक्ष्म पकड़ को बयान करता है— "इसके बाद नारे लगे— कमानेवाला खाएगा... इसके चलते जो कुछ हो। इन्किलाब.. ज़िंदाबाद। जमीन किसकी... जोते बोए उसकी। अँगरेज़ी राज... नाश हो। ज़मींदारी प्रथा.. . नाश हो। किसान सभा... ज़िंदाबाद। लाल झंडा... ज़िंदाबाद। इन्किलाब... ज़िंदाबाद।"⁵ नागार्जुन की कृषक-मज़दूर संबंधित लोकचेतना का महत्त्व उसकी जनसामान्य तक पहुँच और समझ दोनों में है और इसके ज़रिए ही वे जनसामान्य को विभिन्न समस्याओं के समाधान खोजने-हेतु आंदोलन करना चाहते हैं।

मिथिलांचल के लोकजीवन में स्त्री की मानसिकता और दशा दोनों में आए फैसलाकुन और हैरानीजनक परिवर्तनों से भी नागार्जुन परिचित हैं। नारी के दोनों रूपों 'स्थितिशील' एवं 'गतिशील' का विशद् विवेचन करते हैं। इनमें से एक रूप तो पति, समाज एवं पुरुषवर्ग के अत्याचारों से पीड़ित व्यक्तित्वहीन, रूढ़िवादी और निर्बल स्त्रियों का है, जबकि दूसरा रूप पति और समाज के अनौचित्यपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध विद्रोह करके समाज में अपनी स्वतन्त्र, उत्कृष्ट तथा अनिवार्य-सत्ता की स्थापना-हेतु संघर्षरत स्त्रियों का है। दोनों रूपों में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाकर स्त्री के उज्वल भविष्य का संकेत देते हैं। "नारी के प्रति उनकी पूर्ण सहानुभूति है। वे नारी-स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक हैं और नारी को जीवन व समाज के प्रत्येक क्षेत्र में आगे लाना चाहते हैं ताकि वह आगामी कल की अग्रदूत बन जाए।"⁶ उनके द्वारा वर्णित नारियाँ अधिकतर तीन समस्याओं—विधवा, अनमेल और बहु-विवाह से संबंधित हैं। इनके प्रति समाज का बर्ताव अत्यंत कठोर, निष्ठुर और संवेदनहीन है। उनके उपन्यासों में 'रतिनाथ की चाची' में 'गौरी', 'नई पौध' में 'विशेशरी' एवं 'पारो' में 'पार्वती' अनमेल-विवाह का शिकार हैं, जबकि 'रतिनाथ की चाची' में भोला पंडित, रती के नाना, पारो में 'लूच झा' के बेटे बलचनमा में 'फूल बाबू' के पिता आदि के बहु-विवाह इस प्रथा के यथार्थ चित्रण हैं। अर्थलोलुपता, कुलीनता, धन-प्रतिष्ठा, आयु, गुण, स्वभाव और दहेज के अभाव को अनमेल और बहु-विवाह के पीछे कार्यरत मानते हैं। इनसे दांपत्य-जीवन में उत्पन्न संदेह, अविश्वास, शंका, तिक्तता, कटुता और आत्मपीड़न को भी अवलोकित करते हैं। इन वैवाहिक समस्याओं के सामाजिक पक्ष को उद्घाटित करने तक सीमित न रहकर वे यहाँ

नारी-धर्म, मानव-धर्म एवं पातिव्रत धर्म जैसे गंभीर सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों को भी उठाते हैं। इनके साथ परंपरागत वैवाहिक पद्धति के दोषों और अवगुणों की समाप्ति एवं सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति के भी इच्छुक हैं। परंपरा, रूढ़िवाद एवं सनातनी सोच से परे उनका यह दृष्टिकोण स्त्री की सामाजिक रुचि, इच्छा को स्वीकृति देनेवाला है। इन दोनों समस्याओं की यथार्थपरक और व्यावहारिक प्रस्तुति के साथ इसके परिणामों की ओर भी उदासीन दिखाई नहीं देते। इसका यथासंभव और उचित समाधान प्रस्तुत करके इनके खिलाफ़ ऐसे आवाज़ बुलंद करते हैं कि ताकि जनमत तैयार हो सके।

नागार्जुन के स्त्री-संबंधी विचार और व्यवहार उनके कई उपन्यासों के मूल कथ्य भी बने, जहाँ वे स्त्री के मुक्तभोगियों को श्रद्धेय और आदरणीय करार देते हैं। स्त्री के पुनर्विवाह के कट्टर पक्षपाती 'नागार्जुन' के विविध उपन्यासों में पीड़ित और विधवा नारियाँ सामाजिक परंपराओं के खिलाफ़ लड़कर अपना जीवन नए सिरे से बसाती हैं। 'दुखमोचन' की विधवा 'माया' का विधुर कपिल से अंतर्जातीय प्रेमविवाह, 'उग्रतारा' में 'उगनी' द्वारा अपने पति 'भभीखन सिंह' को त्यागकर प्रेमी कामेश्वर से शादी, 'नई पौध' में 'मधुरी' द्वारा अपने पति को त्यागकर क्रांतिकारी जीवन व्यतीत करना एवं 'रतिनाथ की चाची' में गौरी के वैधव्य की पीड़ा को दर्शाते हुए उसके शोषित और विवशतापूर्ण जीवन से आदर्श-नारी तक पहुँचने को भी परिकल्पित करते हैं। नागार्जुन ने कथावृत्तांतों में विभिन्न जगह 'प्रेमविवाह' को प्रश्रय देकर उसके मार्ग में आनेवाली विविध बाधाओं और अवरोधों का न सिर्फ़ विश्लेषण ही किया, अपितु उन्हें हटाने का संकल्प भी लिया। विवाह को आदर्श, प्राकृतिक और वांछनीय करार देकर भी उसका समझौते की अपेक्षा 'उन्मुक्त' रूप ही प्रिय मानते हैं। 'रतिनाथ की चाची' में विधवा 'गौरी' की कथा-प्रस्तुति को डॉ० रमेश तिवारी 'महान्' की संज्ञा देते हैं—“एक विधवा नारी का मानवीय चरित्र जो समाज की सभी तरह की अवहेलना, अपमान तथा उपेक्षा पीकर आत्मपीड़न से क्षीण होती जा रही है, कितना महान् है।” नागार्जुन इस बात से पूर्णतया परिचित थे कि उनकी नारी-संबंधी ये सभी समस्याएँ जटिलता से धर्म, अर्थ और समाज के बीच फैली हुई हैं। इसलिए इन सभी के ठोस व्यावहारिक हल को भी अपने उपन्यासों में यथार्थ रूप से साक्षात् घटित होता दिखाते हैं।

नागार्जुन की लोकचेतना में 'धर्म' का जो रूप उभरा है, वह 'नैतिकता' के विपरीत 'शक्ति' या 'ताक़त' के अधिक नज़दीक है। उनके यहाँ धर्म 'कृषक-मजदूर' और 'शासक' दोनों वर्गों के लिए छल, फ़रेब, धोखा, आडंबर, ढोंग का साधन बना, जिसमें दिखावट और प्रदर्शनप्रियता के साथ-साथ पाखंडों, दुराचारों, अपराधों, कुकर्मों, पापों समेत नीचता एवं कुत्सापूर्ण कुकृत्यों को छिपाने का सामर्थ्य भी है। नागार्जुन द्वारा वर्णित 'धर्म' के इस रूप को डॉ० रामवीरसिंह ने जमींदारों के लिए 'कवच' माना—“नागार्जुन ने गाँव में धर्म को कृषि के साथ जोड़कर एक बड़ी शक्ति के रूप में माना है। धर्म गाँव के जमींदार का कवच के रूप में कार्य कर रहा है।”⁸ 'जमनिया का बाबा' और 'इमरतिया' में वे मठों और उन्हें चलानेवालों की पोल खोलकर धर्म के भद्दे अराजक, कुरूप और विकृत चेहरे को प्रदर्शित करते हैं। नागार्जुन को धर्म लोगों के शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक शोषण का 'तगड़ा' और 'टिकाऊ' हथियार प्रतीत होता है। 'लोक' में 'धर्म' के प्रति लोगों की अडिग, अटल आस्था के स्वरो

के नए रूप में वर्णन के साथ ही धर्म के सच्चे रूप को भी साथ चिह्नित करते हैं, जो कि स्नेह, प्रेम, त्याग, दयालुता, समन्वयवाद और मानवतावाद का संदेश देता है।

नागार्जुन के उपन्यासों में नई-पुरानी पीढ़ी में उभरता वैचारिक और भावनागत संघर्ष भी उभरती लोकचेतना का सकारात्मक संदेश देता है। आधुनिक शिक्षा, पश्चिमी प्रभाव एवं संचार-साधनों ने इसमें विशिष्ट भूमिका अदा की। प्रश्न यहाँ पुरानी, जड़ एवं थोथी मान्यताओं को नकारने-स्वीकारने में युवावर्ग की भूमिका का है। नागार्जुन के उत्साही नवयुवक तमाम अंधपरंपराओं, अंधविश्वासों एवं अंध मान्यताओं के कट्टर विरोधी हैं। 'नई पौध' और 'दुखमोचन' उपन्यास इसके साक्षी हैं। 'नई पौध' में नवयुवक अनमेल-विवाह रुकवाकर 'विशेशरी' का विवाह एक चेतना-संपन्न नवयुवक 'वाचस्पति' से करवाते हैं। "वाचस्पति से विशेषरी का विवाह कराकर लेखक नई पौध की चेतना की संभावना की ओर संकेत करता है और इस प्रकार नई पौध प्राचीन और नवीन मूल्यों का संघर्ष है।"⁹ 'दुखमोचन' में भी टेकनाथ और नित्यानंद के भारी विरोध के बावजूद विधवा 'माया' का अंतर्जातीय विवाह सफलतापूर्वक संपन्न होता है, यह नई पीढ़ी की विजय को उद्घोषित करता है।

नागार्जुन की औपन्यासिक लोकचेतना में एक ओर जहाँ शोषण, संघर्ष, विद्रोह, पीड़ा, व्यथा, करुणा समेत जमींदार-पूँजीपति के प्रति घृणा के भाव हैं तो दूसरी ओर घोर जातीयता, सामाजिक विसंगतियों, वैवाहिक समस्याओं, धार्मिक मिथ्याडंबर, स्वार्थप्रियता, भाग्यवाद, रूढ़िवाद की खुली भर्त्सना भी है। क्योंकि ये सभी समाज की संस्कृति, आर्थिक-राजनीतिक संरचना के भाग हैं, इसलिए इनके साथ सामाजिक विषमता एवं राजनीतिक संघर्ष में विकसित निम्नवर्गीय लोकचेतना को प्रकट करना भी नागार्जुन के मूल ध्येयों में शामिल है। 'बलचनमा' में भी किसानों के शोषण का विस्तृत चित्रण है। शोषकों के विरुद्ध 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' का जैकिसुन एवं 'वरुण के बेटे' के मछुओं की जागृति बताकर निम्नवर्गीय चेतना का निरूपण किया है।"¹⁰

नागार्जुन के उपन्यासों में लोकचेतना के विकासात्मक-सकारात्मक रूप के साथ उसका अभावात्मक-नकारात्मक रूप भी उभरा है। उन्होंने पश्चिम, विज्ञान एवं तकनीक द्वारा 'लोक' में आए स्थायी एवं बुनियादी परिवर्तनों से जुड़े सत्यों का भी साहसिक अंकन किया है। लोकजीवन में कृषि का यंत्रीकरण एवं रासायणीकरण, सामूहिक नैतिक मूल्यों एवं संबंधों का तेजी से होता हास, व्यक्तिवादी मानसिकता की स्वार्थी, स्वच्छंद एवं आत्मलिप्त मनोवृत्ति का आविर्भाव, सहानुभूति, सहिष्णुता एवं मानवीय भाईचारे का उत्तेजना, तनाव और अकेलेपन में प्रवर्तन के साथ-साथ एकरसता, जड़ता, शिष्टता एवं कृत्रिमता द्वारा 'लोक' में आए 'नएपन' को भी सीधे और सपाट रूप में स्थान देते हैं। ऐसे वर्णनों से ही 'लोकचेतना' के तीव्रता से उभर रहे अनिष्ट, अमंगल और अवांछित आयामों को समेटने में सफल हुए हैं। "नागार्जुन का साहित्य लोकजीवन की अभिव्यक्ति है। वह लोक की तरह अनगढ़ है, लोक की तरह सुघड़ है और समाज में बदलाव की भूमिका अदा करने का प्रेरक है। लोक से जुड़े साहित्य की यह सार्थकता है कि वह लोक को सामाजिक चेतना-संपन्न करे।"¹¹

नागार्जुन की लोकचेतना एकांगी न रहकर 'लोक' में सामाजिक-सांस्कृतिक विघटन, नवनिर्माण की प्रक्रिया, टूटन एवं परिवर्तन के संकट की अनेकानेक चुनौतियों की भी पहचान

करती है। उनके जीवनानुभवों ने उन्हें लोकचेतना के विस्तृत उल्लेख के साथ विभिन्न ज्वलंत मुद्दों को उठाने की प्रेरणा दी। इसलिए उन्हें मृत, जड़ीभूत या निर्जीव 'लोक' या 'अंचल' विशेष के गतानुगतिक जीवन की अपेक्षा उसका 'आंदोलित' होता रूप अधिक प्रिय है, भले ही मंथर गति में हो। लोकजीवन के इस आत्मसंघर्ष को रू-ब-रू करने एवं एक सच्चे लोकसेवक की भाँति 'लोक' में स्वतंत्रता, समता, समानता, न्याय, भातृभाव को साकार करने हेतु स्वयं भी आजीवन संघर्षशील रहे। इस सुधारवादी दृष्टि से अनुप्राणित उनकी लोकचेतना सजीवता, निष्कलुषता एवं समग्रता से व्यापक लोककल्याणकारी अर्थों की वकालत करती हुई नागार्जुन को लोकचेतना के निपुण, कुशल एवं समर्थ उपन्यासकार सिद्ध करती है।

संदर्भ

1. लेख-नागार्जुन के काव्य में लोकचेतना, डॉ० योगेंद्रप्रताप सिंह, भाषा (पत्रिका) (सं०) डॉ० शशि भारद्वाज, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली, मार्च-अप्रैल-2003, वर्ष-45, अंक-4, पृ० 83
2. लेख-नागार्जुन : जीवन और कृतित्व, डॉ० बेचन एम०ए०, आलोचना (पत्रिका) (सं०) आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष-6, अंक-2, अप्रैल-1957, पृ० 79
3. लेख-नागार्जुन-विष्णु खरे-आलोचना (पत्रिका) (सं०) आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष-5, अंक 3, अप्रैल-1956 (नागार्जुन विशेषांक), पृ० 22
4. हिंदी-उपन्यासों में ग्राम-समस्याएँ, डॉ० ज्ञान अस्थाना, जवाहर पुस्तकालय, आगरा, 1979, पृ० 204
5. बलचनमा (उपन्यास), नागार्जुन रचनावली-भाग-4-संपादन-संयोजन : शोभाकांत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2003, पृ० 235
6. प्राक्कथन, नागार्जुन के नारीपात्र, अर्जुन जानू घरत, शब्दशक्ति प्रकाशन, कानपुर, 1989-90
7. हिंदी-उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ० रमेश तिवारी, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972, पृ० 146
8. नागार्जुन के उपन्यासों में सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष, डॉ० रामवीरसिंह, धरती प्रकाशन, गंगाशहर, बीकानेर (राजस्थान), 1985, पृ० 109
9. आंचलिकता और हिंदी-उपन्यास, डॉ० कु० नगीना जैन, अक्षर प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1976, पृ० 140
10. प्रेमचंदोत्तर हिंदी-उपन्यासों में सामाजिक चेतना, डॉ० अमरसिंह जगराम लोधा, अमर प्रकाशन, अहमदाबाद, 1985, पृ० 351
11. नागार्जुन की सामाजिक चेतना, प्रो० प्रणय, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, 1985, पृ० 167

‘कफ़न’ मर्मांतक पीड़ा एवं हृदयविदारक वेदना की समानुभूतिमयी अभिव्यक्ति है

डॉ० शंभुनाथ तिवारी

एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

‘...हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य ख़रा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का सार एवं प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करें, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज़्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।’ (प्रेमचंद—प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में दिए गए अध्यक्षीय उद्बोधन का अंश)

प्रेमचंद न केवल हिंदी, वरन् संपूर्ण भारतीय साहित्य के कथाकारों में सर्वोपरि स्थान के अधिकारी हैं। कहानी-लेखन के क्षेत्र में तो वे ऐसे अप्रतिम रचनाकार माने जाते हैं, जिन्हें हिंदी-कहानी लेखन का प्रतीक कलाकार कहा जा सकता है। किंचित् अर्थों में आदर्शवादी होने के बावजूद उन्होंने साहित्य में यथार्थ की जैसी समुचित स्थापना की है, वैसी अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होती। मानव-समाज की गहरी पैठ प्रेमचंद में इतनी अधिक है कि समाज की विराटना से लेकर व्यक्ति की विविधता के चित्रण में उन्हें जो सफलता प्राप्त हुई है, वह उन्हें इस दिशा में सर्वोपरि सिद्ध करती है। सामाजिक आयाम की व्यापकता, जीवनदृष्टि की विशदता के कारण ही कहा जा सकता है कि प्रेमचंद आत्मा से टाल्स्टाय, हृदय से गोगोल एवं जीवन से गोर्की थे।

प्रेमचंद के कारण हिंदी-कहानी को उसका अपना स्वतंत्र एवं मौलिक व्यक्तित्व प्राप्त हुआ। उनकी कहानियों में हिंदी-प्रदेश की ग्राम्य-संस्कृति को व्यापक-असाधारण अभिव्यक्ति मिली है। प्रेमचंद की कहानियों में भारतीय जीवन (विशेषतया ग्राम्यजीवन) बहुत व्यापक और सजीव रूप में चित्रांकित है। उनकी कहानियों का वितान यथार्थ की सुदृढ़ आधारशिला पर आधृत है। उन्होंने जनजीवन के प्रत्येक स्तर पर स्पर्श किया है, जो बहुत सहज, सरल और स्वाभाविक है। भारत का जनजीवन बहुत दूर तक दीन-दुखियों, शोषितों-प्रपीड़ितों, निर्धनों-दरिद्रों का जीवन है, इसलिए प्रेमचंद के साहित्य में उन्हीं को प्रमुखता से सर्वोपरि स्थान प्राप्त हुआ है। एकदम सच तो यह है कि साहित्य में निर्धनों और दलितों का प्रवेश प्रेमचंद के माध्यम से ही हुआ है। वे महलों या राजप्रासादों के नहीं, झोपड़ियों या उटजों के चितरे हैं।

दीन-दलित, शोषित-पीड़ित मानवता के प्रति अकृत्रिम सरलता के साथ प्रेमचंद ने गहन मानवीय अनुभूति से संवलित व्यापक दृष्टि-संपन्न जो संवेदनशीलता प्रकट की है, वह

अतुलनीय है, अनुपम है, अद्वितीय है। वे ग्राम्यजीवन के जन्मजात कुशल चित्तरे हैं। भारतीय ग्राम्यजीवन का जैसा यथार्थ दृष्टि-संपन्न, सजीव और सुविस्तृत चित्र प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में उपस्थित किया है, वह एक सजग-चित्त संवेदनशील रचनाकार का अपने परिवेश से गहन जुड़ाव एवं तादात्म्यकरण का संकेतक है। उनकी कहानियों में शोषित-प्रपीड़ित ग्रामीण जीवन के सारे सुख-दुख, हास-परिहास, सबलता-निर्बलता, आशा-आकांक्षा, भूख-प्यास, व्यथा-वेदना, आशा-आकांक्षा, पीड़ा-कष्ट मूर्तिमान हो गए हैं। ग्राम्यजीवन का यथार्थ के धरातल पर व्यापक और सर्वांगीण चित्रण करने के कारण प्रेमचंद भारत के साथ-साथ विश्व के प्रतिनिधि कहानीकार हैं। 'कफ़न', 'नशा', 'पूस की रात', 'ईदगाह', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'लाटरी', 'बड़े भाई-साहब', 'बूढ़ी काकी' आदि कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से बहुत उच्चकोटि की यथार्थपरक कहानियाँ हैं, जो प्रेमचंद को विश्व के महान् कहानीकारों की पंक्ति में प्रतिष्ठित कर देती हैं। अपनी अकृत्रिम सरलता, अपनी सहजता, अपनी सादगी, अपनी व्यापकता और अपनी स्वाभाविक विनोदप्रियता के कारण प्रेमचंद महान् रूसी कहानीकार चेखव के स्तर के रचनाकार हैं।

प्रेमचंद की सबसे अच्छी और प्रभावी कहानियाँ वही हैं, जो भूख, प्यास, गरीबी, दरिद्रता आदि से प्रसूत संघर्ष, पीड़ा, व्यथा, तड़प एवं विषम जीवन के हाहाकार को स्वाभाविक रूप से चित्रित करती हैं। इस दृष्टि से 'कफ़न' और 'पूस की रात' उनकी प्रतीक कहानियाँ कही जा सकती हैं। इनमें भी 'कफ़न' एक ऐसी यथार्थदृष्टि-संपन्न कहानी है, जिसमें व्यथा-विगलित आहत मानवता की पीड़ा का चीत्कार और आर्तनाद सुनाई देता है।

'कफ़न' प्रेमचंद की वह महत्त्वपूर्ण कहानी है, जिसकी मूल संवेदना समीक्षकों और पाठकों की दृष्टि से ओझल रही। बहुत समय तक उसके प्रति निष्पक्ष और संतुलित धारणा न तो पाठकों में बन सकी, नहीं समीक्षकों में। लंबे समय तक 'कफ़न' के साथ न्याय नहीं हो सका और वह दो आलसी पिता-पुत्र की दास्तान मानी जाती रही, जहाँ वे भुने हुए आलू खाने की फिराक में प्रसव-वेदना में तड़पती घर की बहू की उपेक्षा कर देते हैं, जिसके कारण वह चीख-चीखकर दम तोड़ देती है। हिंद-प्रदेशों में आज भी 'घोसू-माधव की औलाद' का जो जुमला प्रचलित है, वह घोर आलसीपन और निकम्मेपन का ही सूचक है।

प्रेमचंद-सरीखे जन्मजात किस्सागो की मौलिक प्रतिभा से प्रसूत गहन मानवीय संवेदना से संयुक्त असाधारण कहानी 'कफ़न' का समीक्षकों की दृष्टि से बहुत दिनों तक ओझल रहना आश्चर्यजनक है। संभवतः इसी आलोचकीय उपेक्षा के कारण प्रेमचंद की प्रतिनिधि कहानियों के परवर्ती अनेक संकलनों में 'कफ़न' कहानी सम्मिलित नहीं की गई थी। हाँ, यह अलग बात है कि आज 'कफ़न' प्रेमचंद की प्रमुख कहानियों में सर्वश्रेष्ठ तक मानी जाती है। (यहाँ 'निराला' की एक प्रमुख मुक्तछंद कविता 'जूही की कली' का स्मरण अनायास ही हो रहा है, जिसे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे समीक्षक ने कविता नहीं मानते हुए 'सरस्वती' में प्रकाशित करने से मना कर दिया था। उसी 'जूही की कली' को परवर्ती समीक्षकों ने युगांतरकारी परिवर्तन की सूचना देनेवाली क्रांतिकारी कविता के रूप में प्रतिष्ठापित किया।) प्रेमचंद के साथ भी ऐसा ही हुआ। आरंभ में संभवतः सभी के द्वारा एक साधारण-सी मानी जानेवाली कहानी 'कफ़न' आज प्रेमचंद की सबसे अच्छी कहानी मानी

जाती है।

दरअस्ल, 'कफ़न' प्रेमचंद की सबसे दर्दनाक कहानी है, जिसका मर्मभेदी यथार्थ पाठक को भीतर से झकझोर कर, गहरी बेचैनी में ले जाकर, छोड़ देता है। कहानी के साथ उसकी तिलमिलाहट और बेचैनी इतनी अधिक बढ़ने लगती है कि वह कहानी के अंत में मर्माहत पीड़ा के गहरे अवसाद में डूब जाता है। अवसाद से जैसे ही वह बाहर निकलता है तो विद्रूप समाज की विकृतियों के प्रति उसके मन में गहरा क्षोभ और आक्रोश पैदा हो जाता है। यही इस कहानी की सफलता है। संभवतः कहानीकार को भी यही अभिप्रेत हो।

दीन-दुखियों, दलितों, शोषितों, प्रपीड़ितों के प्रति प्रेमचंद की संवेदना पूरी तरह वास्तविकता के धरातल से जुड़ी हुई है। उसमें लेशमात्र भी कृत्रिमता का स्पर्श नहीं है। ऐसा इसलिए कि जनसाधारण के विषय जीवन की दारुण व्यथा-कथा को उन्होंने न केवल समीप से जाना-पहचाना था, वरन् स्वयं उनका अपना जीवन भी एक संघर्षशील रचनाकार का जीवन था। प्रेमचंद ने भूख-प्यास से विलखते-तड़पते दीन-दरिद्रों की व्यथा-विगलित जिंदगी को इतने करीब से देखा है, जिसकी सच्ची अभिव्यक्ति उनके साहित्य में अनायास हो गई है। जीवन की कठोर वास्तविकता से जुड़ी कहानी 'कफ़न' प्रेमचंद के जीवन-अनुभव से जुड़ी यथार्थ कहानी है, जिसके पात्रों की दारुण व्यथा-कथा से वे न केवल परिचित रहे हैं, बल्कि उनकी दर्दनाक जिंदगियों से उनका गहरा रिश्ता रहा है। ग्राम्य परिवेश में अभाव का अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य निर्धनों की व्यथा-विगलित विवशता-भरी मूक और बेबस-लाचार जिंदगी का प्रेमचंद को बहुत गहरा अनुभव था। इसलिए उनकी अनेक कहानियों में वह जीवन सच्चे यथार्थ रूप में चित्रित हो सका है। 'कफ़न' या ऐसी अन्य कहानियों में वही सच्ची अनुभूति सहज-स्वाभाविक रूप में प्रस्फुटित हुई है। प्रेमचंद की संवेदना को कोरी सहानुभूति (जैसा कि दलित साहित्य के कतिपय अतिवादी लेखक कह रहे हैं और इस आधार पर प्रेमचंद की दलित-संवेदना पर सवाल खड़े कर रहे हैं।) कहकर खारिज नहीं किया जा सकता। दलित, दीन, निर्धन, ग़रीब किसान, मज़दूर आदि के दुख-दर्द-पीड़ा-कष्ट को प्रेमचंद ने संवेदना के जिस धरातल पर अनुभूत सत्य के रूप में व्यक्त किया है, उसके लिए मैं 'सहानुभूति' शब्द को सीमित मानता हूँ। उसके लिए सटीक और उपयुक्त शब्द 'समानुभूति' (Empathy) है, जो 'तदनुभूति', 'परानुभूति' के रूप में दलित रचनाकारों के 'स्वानुभूति' से अधिक भाव-संपन्न और प्रभावान्वित वाला शब्द है। प्रेमचंद की कहानियों का मूल्यांकन करते समय मेरे विनम्र मत से यह 'समानुभूति' शब्द एक प्रभावी एवं उपयुक्त सूत्र हो सकता है। उनकी कहानियों के पात्रों में चाहे 'कफ़न' के घीसू-माधव हों, या 'पूस की रात' का हलकू, चाहे 'सवा सेर गेहूँ' का शंकर हो, या 'ईदगाह' की अमीना, चाहे 'ठाकुर का कुआँ' का जोखू हो या 'बलिदान' का हरखू, चाहे 'मंदिर' की सुखिया हो या फिर 'सद्गति' का दुखी, इन सभी पात्रों के चरित्र-निर्माण में प्रेमचंद ने समानुभूति के धरातल पर पहुँचकर उनकी मूक वेदना को वाणी दी है। अपनी कहानियों में आर्थिक विपन्नता से लस्त ग्रामीण जीवन का चित्र खींचते हुए उन्होंने दीन-दुखी-दरिद्र-दलित-शोषित-पीड़ित, मज़दूर, भूखे-नंगे आदि जिन मानव-चरित्रों का निर्माण किया है, उनमें समानुभूति के स्तर पर 'परकायाप्रवेश' की प्रक्रिया से गुज़रकर उन्हें यथार्थ रूप से प्रस्तुत किया है। ग्राम्यजीवन का ऐसा यथार्थ चित्र वही खींच

सकता है, जिसके मन में ग्रामीण लोगों के प्रति अपार करुणा, ममता, स्नेह होने के साथ गहरी सहृदयता हो, वह भी सहानुभूति के स्तर पर नहीं, समानुभूति के धरातल पर। यहाँ प्रेमचंद का कथन बहुत प्रासंगिक है—‘जिस देश के अस्सी फीसदी लोग गाँवों में रहते हों, उसके साहित्य में ग्राम्यजीवन का प्रधान रूप से चित्रित होना स्वाभाविक है, उन्हीं का सुख राष्ट्र का सुख है, उन्हीं की समस्याएँ राष्ट्र की समस्याएँ हैं।’

इस दृष्टि से ‘कफ़न’ प्रेमचंद की ऐसी कहानी है, जिसमें उनका व्यापक जीवनानुभव, कठोर संघर्ष तथा ग्राम्य-परिवेश से गहरा तादात्म्यकरण स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इन्हीं से उनको वह यथार्थ दृष्टि मिली है, जिसके आधार पर वे ‘कफ़न’ के पात्रों की मार्मिक पीड़ा को इतनी गहराई से अनुभव कर सके हैं। ‘कफ़न’ को जितनी दफ़ा पढ़ा जाए, उतनी दफ़ा प्रेमचंद की मर्मभेदी संवेदना की नई-नई परतें खुलती जाती हैं और कफ़न उनकी अद्भुत कलात्मक कहानी बनती जाती है। ‘रावरे रीति की नीति अनूप नयो-नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारिए’ की तर्ज कर ‘कफ़न’ दो आलसी पिता-पुत्र की करतूतें बयान करने वाली साधारण कहानी नहीं, शोषित समाज के दंश से पीड़ित एवं प्रताड़ित, कराहती मानवता के प्रतीक दो बेबस मनुष्यों की करुण व्यथा-कथा है, जिनके प्रति घृणा नहीं, सहानुभूति, दैन्य, करुणा और दया का भाव उपजता है। प्रेमचंद ने ‘कफ़न’ के पात्रों को जिस गहरी संवेदना के साथ यथार्थ के धरातल पर चित्रित किया, उसके मद्दे-नज़र यह कहानी मर्मांतक पीड़ा और हृदयविदारक वेदना की समानुभूतिमयी अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से ‘कफ़न’ संभवतः सबसे मार्मिक कहानी है, जिसका करुणापूर्ण मर्मभेदी यथार्थ अन्यत्र दुर्लभ है।

‘कफ़न’ के ‘कहानी’, ‘साधारण कहानी’, ‘अच्छी कहानी’, ‘बहुत अच्छी कहानी’, ‘सबसे अच्छी कहानी’, ‘सर्वोत्कृष्ट कहानी’ बनने की यात्रा में उसका पुनर्मूल्यांकन करते समय उन समस्त पहलुओं का विवेचन-विश्लेषण आज के संदर्भ में करना आवश्यक है।

बेशक प्रेमचंद हिंदी-कहानी के एकछत्र महानायक हैं। भले उनकी गणना विश्व के महान कहानीकारों में होती है, पर आज जब उनकी लेखन-निष्ठा पर प्रश्नचिह्न लगाया जा रहा हो, तब प्रेमचंद को निष्पक्षता और ईमानदारी से न केवल पढ़ने की ज़रूरत है, बल्कि उनके लेखन का तटस्थ, वस्तुपरक, सम्यक एवं संतुलित ढंग से पुनर्मूल्यांकन करना आवश्यक है। प्रेमचंद की सबसे दर्दनाक ओर मर्मभेदी कहानी ‘कफ़न’ को विवाद के घेरे में ले लेने के बाद तो उसके पुनर्मूल्यांकन की महती आवश्यकता है। कहीं ऐसा न हो कि ‘गतानुगतिकोलोका’ की तर्ज पर आलोचना की अतिवादी दृष्टि आलोचना की एक ग़लत परंपरा की नींव भी डाल दे। आज प्रेमचंद होते तो अपनी लेखकीय निष्ठा और ईमानदारी पर इतने कठोर आघात से बहुत रोते। आहत तो वे उस समय भी कम नहीं हुए होंगे, जब उनका पहला ही सर्जन उनकी आँखों के सामने ही आग की भेंट चढ़ गया था—‘हम उस मुसन्निफ़ के दर्द को भला कैसे समझ सकते हैं कि उसके दिल पर उस वक्त क्या गुज़री होगी, जिसका पहला ही मज्मुआ कलाम उसकी आँखों के सामने ही नज़रे-आतिश कर दिया गया हो।’ (एहतेशाम हुसैन, उर्दू अदब की तनकीदी तारीख़, पृष्ठ 374)

इस घटना के बाद धनपतराय श्रीवास्तव, जो नवाबराय के नाम से साहित्य-सर्जन किया करते थे, प्रेमचंद के छद्म नाम से लिखने लगे। धनपतराय को ‘नवाबराय’ से ‘प्रेमचंद’

बनने तक यातना और संघर्ष की जो यात्रा करनी पड़ी होगी, उसी ने संभवतः प्रेमचंद को वह दृष्टि प्रदान की होगी, जिससे वे इतने संवेदनशील और यथार्थ-संपन्न बन सके। इतना संघर्षशील व्यक्ति ही 'कफ़न' जैसी यथार्थवादी और मार्मिक कहानी लिख सकता है। प्रेमचंद की कहानियों का मूल्यांकन करते समय उनके संघर्षशील जीवन को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है।

प्रेमचंद ने लखनऊ के प्रगतिशील लेखक-संघ के पहले अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में जिस 'हुस्न के मयार' (सौंदर्य की कसौटी) को बदलने और साहित्यकार के 'देशभक्ति और राजनीति के आगे चलनेवाली मशाल' का उल्लेख किया था, वह उनके लेखन में ईमानदारी के साथ दिखाई देता है। 'कफ़न', 'पूस की रात', 'ईदगाह, बूढ़ी काकी, सद्गति आदि कहानियों में उन्होंने सुंदरता की कसौटी को बदला है, जहाँ वे आम आदमी की पीड़ा में साहित्य का सौंदर्य तलाशते हुए देखे जा सकते हैं।

'कफ़न' में प्रेमचंद की दृष्टि साहित्य-सौंदर्य की एक अलग भावभूमि का निर्माण करती हुई दिखाई देती है। उन्होंने जिस मनःस्थिति में इस कहानी को लिखा होगा, उसमें उनके मन में वेदना और पीड़ा का असीम आवेग उत्पन्न हुआ होगा। 'कफ़न' को सामान्य रूप से पढ़ने पर ऐसा लग सकता है कि उसके दोनों पात्र घीसू-माधव बहुत ही निकम्मे, आलसी, हृदयहीन, पतित किस्म के बहुत ही घृणास्पद व्यक्ति हैं, जो प्रसव-वेदना से कराहती-तड़पती बुधिया के लिए कुछ नहीं करते और दरवाज़े पर बुझे हुए अलाव के पास चुपचाप बैठे हुए हैं। हालाँकि पूरे गाँव में उन दोनों की छवि घोर आलसी और निकम्मे की है, पर बुधिया के प्रसंग में उन्होंने कुछ भी नहीं किया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। गाँव का एक ऐसा ग़रीब परिवार, जिसमें दो जून की रोटी का भी जुगाड़ न हो, उस परिवार की बहू जिसने मेहनत-मज़दूरी से उस परिवार की दशा को कुछ हद तक सुधार दिया हो, उसकी प्रसव-वेदना की असह्य पीड़ा से परिवार का मुखिया और पुत्र (जो पुत्र उस बहू का पति भी है) दोनों तनिक भी दुखी-परेशान न हों, ऐसा कैसे हो सकता है?

दरअसल, 'कफ़न' का परिवेश और धरातल समझने के लिए उसकी आरंभिक पंक्तियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं—'रह-रह कर उसके (बुधिया के) मुँह से दिल हिला देनेवाली आवाज़ निकलती थी कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़ों की रात थी। प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई। सारा गाँव अंधकार में लय हो गया था।'

दुख की घड़ी में एक समय ऐसा आता है कि सारे सहारे टूट जाते हैं। हर तरफ़ से निराश हो जाने के बाद नियति को ही स्वीकार करने और कलेजा थाम लेने के अलावा बचता ही क्या है? तब तो और भी जब अपना कहलाने वाला समाज, आस-पड़ोस भी गफलत में होकर सहायक न हो। बावजूद इसके अपनी हैसियत के अनुरूप घीसू ने हाथ-पाँव कम न मारे थे—'मालूम होता है बचेगी नहीं, सारा दिन दौड़ते हो गया...।'

यह कैसे कहा जा सकता है कि घीसू या माधव के दिल में बुधिया के प्रति कोई लगाव या हमदर्दी नहीं है। मौत से जूझते हुए व्यक्ति की असह्य पीड़ा जब देखी नहीं जाती तब वह सबसे क्ररीबी व्यक्ति भी मौत के जल्दी आने की कामना करता है। माधव के कथन के पीछे छिपे दर्द और मर्माहत वेदना को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। माधव चिढ़कर

बोला, 'मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती, देखकर क्या करूँ?' यहाँ मूक पीड़ा और दीन-विवशता द्रष्टव्य है। इसके बाद घीसू का यह कहना—'तू बड़ा बेदर्द है वे! सालभर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफ़ाई।'

'तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जा सकता।'

इसके बाद 'कफ़न' को विवाद में घसीटने और उस पर बिलावजह तुहमत लगाकर प्रेमचंद की ईमानदारी को एक अलग शक-सुब्हा के नज़रिए से तोलने वालों को यह बताना बेमानी है कि घीसू के दिल में बुधिया के प्रति करुणा, प्रेम, अपनत्व एवं ममत्व का भाव है कि नहीं।

'कफ़न' एक निहायत निर्धन, दीन-हीन, दलित मजदूर की दिल दहला देने वाली दर्द-भरी दास्तान है। घीसू उस परिवार का मुखिया है। उसके परिवार में बेबसी है, लाचारी है, सामाजिक उपेक्षा का अवसाद है, भूख और प्यास से बिलबिलाती तीन-तीन ज़िंदगियाँ हैं, चिथड़े में लिपटी-कराहती और दम तोड़ती मानवता का आर्तनाद है और हैं जीवनभर भूख-पेट की लड़ाई लड़ते दाने-दाने को मोहताज मनुष्य के रूप में चलते-फिरते दो पुतले। उसी परिवार की बहू है बुधिया, जो प्रसव-वेदना में तड़प रही है। घीसू-माधव अपने सामर्थ्य के अनुरूप काफ़ी भाग-दौड़ और प्रयास कर चुके हैं। कहीं से कोई आसरा, सहारा और मदद नहीं मिलने से वे हताश-निराश होकर, हाथ पर हाथ रखकर बैठ गए हैं। गाँव में तो वे घोषित आलसी हैं ही। ऐसे में उनकी सहायता के लिए कोई हाथ आगे नहीं आता। क्या किया जाए? एक ओर विपत्ति का इतना बड़ा पहाड़, दूसरी ओर मुफ़लिसी का ग़म, तीसरे कई दिन से भूखे पेट क्षुधा की आग में जलते हुए कौन समझेगा उनका दर्द?

असह्य वेदना और पीड़ा के कितने स्तरों से गज़रते हुए घीसू और माधव की मनःस्थिति का विश्लेषण करने पर उनका अलाव में आलू भूनकर खाना बहुत घृणास्पद नहीं लगता। तब तो और भी नहीं, जब आलुओं का जुगाड़ बड़ी मुश्किल से हो पाया हो। पेट की जवाला शांत करना अनिवार्य शरीर-धर्म बन गया था। इसलिए क्षुधा-शांति उनके लिए जरूरी हो गया। एक ग़रीब की दुनिया में भूख का कितना बड़ा महत्त्व है, यह समझना भरे पेटवालों के लिए मुश्किल है। कहते हैं—'भूख और पेट की लड़ाई के बीच में दाँत भी आड़े आएँ तो उसे भी उखाड़कर फेंक देना चाहिए।' इससे भी आगे 'धूमिल' यहाँ बहुत मौजू लगते हैं—'आज मैं तुम्हें वह सत्य बतलाता हूँ/ जिसके आगे/ हर सचाई छोटी है/ एक भूखे आदमी का/ सबसे बड़ा तर्क रोटी है।'

एक भूखे व्यक्ति की दुनिया में रिश्ते-नाते-अपने सब बेमानी हैं, इसलिए घीसू-माधव के लिए आलू महत्त्वपूर्ण हो गए, प्रसव-पीड़ा में तड़पती बुधिया से भी अधिक। बिना घीसू की दुनिया और उसके मानसिक तल में पहुँचे यह समझना थोड़ा मुश्किल है।

दरअसल, घीसू और माधव को गिरावट एवं पतन के इस धरातल तक ले जाने के लिए वह विडंबनापूर्ण सामाजिक विषम परिस्थितियाँ ज़िम्मेदार हैं, जिनमें वे ऐसी सड़ी-गली बदबूदार, मरायल ज़िंदगी जीने के लिए मजबूर हैं। घीसू विवेकशून्य नहीं, विचारवान व्यक्ति है। वह बैठकबाज़ों की जिस कुत्सित मंडली का सदस्य है, उसके तिकड़म, दाँवपेच आदि से परिचित नहीं होने से उसमें चालाकी, चापलूसी, जी-हुजूरी के गुण नहीं हैं, इसलिए वह मंडली

के सदस्यों में बहुत पीछे है और सामाजिक उपेक्षा का शिकार है। वह तथाकथित शोषक समाज के बहकावे में नहीं आता, क्योंकि वह उसकी असलियत को समझता है। यही उसकी गलती है, जिसके कारण वह समाज से उपेक्षित, बहिष्कृत और निष्कासित है।

यहाँ पहुँचकर जब हम घीसू की स्थिति से परिचित हो जाते हैं, तब उसके प्रति आक्रोश नहीं, दया और करुणा-मिश्रित दर्द का भाव उपजता है। तब वह हमें बहुत निरीह, दीन, हीन और प्रताड़ित प्राणी लगने लगता है। जिस समाज ने उसकी कभी कोई सहायता नहीं की, वही उसकी बहू के मरने पर चंदा करके पाँच रुपए इकट्ठे कर कफ़न के लिए देता है। बीसू सोचता है, काश ये पाँच रुपए पहले मिल जाते तो अच्छा होता—‘यही पाँच रुपए मिलते तो दवा-दारू करवा लेते।’

घीसू को समाज का यह रवैया बहुत अजीब-सा लगता है। उसे तकलीफ़ इस बात की है कि बहू के जीते-जी किसी ने कोई मदद न की और मरने पर सभी लोग कफ़न के लिए चंदा कर-कर के रुपए एकत्र कर रहे हैं, ऐसे सिस्टम का वह भरे हुए आर्द्र मन से उपहास करता है—‘कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते-जी तन ढकने को चिथड़ा न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए, कफ़न तो लाश के साथ जल ही जाता है।’

पिछले बीस वर्षों में सिर्फ़ एक बार भरपेट भोजन करने का दुर्लभ अवसर प्राप्त करने वाला घीसू, जिसका पुत्र माधव तो इस सुख से भी वंचित है, भरपेट भोजन की अतृप्त आकांक्षा के साथ बीस वर्ष पुरानी सुखद भोज-स्मृतियों को सीने में दबाए पुनः उस दुर्लभ सुख की कल्पना करता रहता है। ऐसे में जब उसे पाँच रुपए (इतनी बड़ी धन राशि उसने अपने जीवन में कभी नहीं देखी थी) मिल जाते हैं, तब वह नैतिकता-अनैतिकता को बलाए ताक रखकर मर्यादा, आदर्श, भावना, इंसानियत आदि की सभी सीमाएँ तोड़ देता है। उसकी आँखों में पाँच रुपए की चमक आते ही वह बीस वर्ष पुरानी स्मृतियों को ताज़ा कर लेता है। मानवीय दुर्बलताएँ उस पर प्रभाव जमा लेती हैं। एक पल के लिए वह भूल जाता है कि वह बेटे की बहू के लिए कफ़न ख़रीदने आया है। उफ़! भूख़ आदमी को इतना वहशी बना देती है। वह कोई भी पाप कर सकता है। क्या भूखा व्यक्ति पतन और गिरावट के इस स्तर पर पहुँच सकता है कि वह कफ़न के रुपयों से शराब पीए, भरपेट भोजन करे एवं मौजमस्ती में डूब जाए? यही प्रश्न पाठक को भीतर से झकझोर देता है और वह अंदर तक हिल उठता है।

ग़रीबी और भूख़ का ऐसा प्रकंपित कर देने वाला दर्दनाक मंज़र और कहाँ हो सकता है, जहाँ कलेजा फट जानेवाला करुण आर्तनाद और हाहाकार सुनाई देता है। यह कफ़न कहानी के चरम शिखर का वह बिंदु है, जहाँ पाठक सबसे अधिक तनाव या टेंशन में पहुँच जाता है। शायद यही तनाव इस कहानी का सबसे सफल और आकर्षक पहलू है। जहाँ पाठक एक साथ आक्रोश, क्षोभ, गुस्सा, करुणा, सहानुभूति आदि कई स्तरों से गज़रता है।

सबसे पहले घीसू-माधव के आचरण हमें इतने क्रूर और अमानवीय प्रतीत होते हैं कि हमें उनके प्रति बहुत क्रोध आता है, लेकिन उनकी दुनिया में जाकर जब हम उनकी नज़र से देखते हैं, तब उस सामाजिक व्यवस्था के प्रति गुस्सा आता है, जिसने उन्हें इस दारुण दशा में पहुँचाया है। सामाजिक विडंबना की ऐसी कटु सच्चाई देखकर हमें घीसू का व्यवहार इतना बुरा नहीं लगता और फिर उसके प्रति धीरे-धीरे करुण, दया और सहानुभूति का भाव जाग्रत

हो जाता है। कहानी का अंत हमें उस अवसाद में ले जाता है कि हमारा व्यथित मन उद्वेलित होने लगता है और ग़रीब को और ग़रीब बनाने और उसे उसके आख़िरी दम तक शोषण के नरक में ढकेलनेवाले हृदयहीन समाज के प्रति आक्रोश की ज्वाला धधकने लगती है। कहानीकार का उद्देश्य यहीं सफल होता भी नज़र आता है।

वस्तुतः, 'कफ़न' के माध्यम से प्रेमचंद ने शोषक समाज के उस घिनौने और बदबूदार-कोढ़ी चेहरे को बेनकाब किया है, जो घीसू-माधव की नारकीय ज़िंदगी के लिए ज़िम्मेदार है। ऐसी ज़िंदगी, जहाँ मानवता दम तोड़ देती, इंसानियत कराह उठती है, भूख आदमी को वहशी और जानवर बना देती है, विवेक और विचार मर जाते हैं। जहाँ ऐसी ज़िंदगी होती है, वहाँ परिस्थितियाँ घीसू-माधव को जन्म देती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सामाजिक धरातल पर विश्लेषण करने पर 'कफ़न' कहानी का अंत इतना आवेग और आवेशपूर्ण है कि वह हज़ारों-लाखों पाठकों को शोषक समाज के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए उद्वेलित एवं अक्रोशित करने में सक्षम है। एक सर्जक, जो सचेत और उद्देश्यपूर्ण रचनाकार है, के रूप में प्रेमचंद की दृष्टि भी संभवतः इसी बिंदु पर टिकी है, क्योंकि वे उस शोषणमुक्त समाज की कल्पना करते हैं, जहाँ फिर कोई घीसू और माधव पैदा न हों, उसे साकार करने का यही रास्ता है। 'कफ़न' में हमें प्रेमचंद की जिस आशान्वित अनुभूति के दर्शन होते हैं, हम उसे बख़ूबी समझ सकते हैं।

यहाँ इस दृष्टि से चिंतन के इस धरातल पर 'कफ़न' प्रेमचंद की समस्त यथार्थपरक कहानियों में सबसे अलग मानसिकता की कहानी है, जिसे लिखते समय स्वयं प्रेमचंद को कठिन रचना-प्रक्रिया से गुज़रना पड़ा होगा। तभी तो वे विकृत समाज की असलियत को परत-दर-परत उघाड़ने में यहाँ सफल हुए हैं। 'कफ़न' की तुलना उनकी किसी अन्य कहानी से नहीं की जा सकती है। यह अपने तरह की अकेली कहानी है, जो अपने स्तर पर नग्न यथार्थ की चरम परिणति है। 'कफ़न' प्रेमचंद की सर्वाधिक यथार्थपरक, सर्वाधिक कलात्मक, सर्वाधिक भावसंपन्न वेदनामय दर्दिली कहानी है।

'कफ़न' के माध्यम से प्रेमचंद शोषण-रहित समाज का स्वप्न साकार होने की जो उम्मीद कर रहे थे, हम भी तो उसकी कल्पना और उम्मीद बहुत शिद्दत के साथ कर ही सकते हैं, क्योंकि—

दिल नाउम्मीद तो नहीं, नाकाम ही तो है
लंबी है ग़म की शाम, मगर शाम ही तो है।

भारतीय जीवन-पद्धति में नारी

डॉ० ईश्वरसिंह सागवाल

एसोसिएट प्रोफेसर, बी०ए०आर० जनता कालेज
कौल (कैथल), हरियाणा

नारी संपूर्ण आबादी का आधा भाग है। वह एक ऐसी आधी दुनिया है, जो प्रत्येक कदम पर पुरुष द्वारा नियमित और अनुशासित होती रही है। प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं में नारी की स्थिति सम्मानपूर्वक थी। अत्यंत प्राचीन वैदिक सभ्यता में आर्य नारी की दशा बहुत ही सम्मानपूर्ण थी। यद्यपि वैदिकयुग में तथा उसके कुछ समय पश्चात् भी कन्या-जन्म का स्वागत नहीं किया जाता था, फिर भी परवर्ती पुत्रों की भाँति इस युग में कन्या का भी उपनयन संस्कार होता था, उन्हें भी शिक्षा का अधिकार था। उच्च शिक्षा, सुसंस्कृत एवं धनी परिवारों तक ही सीमित थी, किंतु साधारण परिवारों में कन्याओं को वेद-मंत्रों और प्रार्थनाओं के शुद्ध उच्चारण कंठस्थ कराए जाते थे।¹

वेदों के पश्चात् ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, रामायण और महाभारत के ऐतिहासिक विकास-क्रम में उत्तरोत्तर स्त्री की भूमिका को हाशिए पर धकेला जाता रहा, क्योंकि भारतीय समाज की संरचना मातृसत्तात्मक से पितृ-सत्तात्मक में परिवर्तित होती गई। लेकिन भारतीय संस्कृति-धर्म-अध्यात्म में स्त्री की सर्वोच्चता अक्षुण्ण रही। नारी को विविध रूपों में देखा-समझा गया और नारी अपने भावों को विभिन्न रूपों में व्यक्त करती रही है। नारी के स्वयं के कई रूप हैं। इसका अंतःकरण कैसा है? यह अब भी एक पहेली जैसी है। विभिन्न विद्वानों की दृष्टि ने नारी की वास्तविक स्थिति को समझने में और भी उलझन फैलाई है। किसी ने इसे अबला कहा है तो किसी ने इसे दुर्गा के रूप में देखा है। कहीं नारी को केवल 'श्रद्धा' ही कहा गया है तो कहीं 'तिरिया चरित्रं देवो न जानाति कुतो मनुष्य' कहकर इसे समझना कठिन बना दिया है। परंतु मौटे तौर पर हमारे समक्ष माँ, बहन, प्रिया, बुआ, दादी, भाभी, सास आदि रूप लेकर आती है। इनमें प्रथम तीन रूप ही महत्त्व के हैं। फिर इन रूपों में संयोग-वियोग की घड़ियाँ आती हैं। प्रायः संयोगिनी-वियोगिनी का रूप पति-पत्नी में ही देखते हैं। परंतु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। संयोग-वियोग का रूप तो माँ-बाप, माँ-बेटी, भाई-बहन सभी को देखना पड़ता है। अनादिकाल से नारी मनुष्यता के इतिहास की जननी मानी जाती है। राष्ट्रों का उत्थान और पतन, धर्मों का अभ्युदय और पराभव, मानव का हास्य और रुदन उसके आँचल में बँधा रहा है।

उसकी एक मुस्कान ने यदि चराचर को विमुग्ध किया है तो उसकी बंकिम दृष्टि ने रौद्र रूप में सृष्टि के प्रलय की भूमिका भी निभाई है। एक ओर वह सृष्टि है, दूसरी ओर प्रलय। पुरुष निसंग है स्त्रीबद्ध। पुरुष स्त्री को शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है, पर स्त्री, स्त्री को

शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है। इसके अतिरिक्त उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है। यद्यपि दोनों परम शिव के एक ही तत्त्व से प्रकट हुए हैं, जिनका नामकरण हुआ शिव और शक्ति। शिव विधि-रूप है, स्त्री निषेध-रूपा। इन दोनों के प्रस्पंद और विस्पंद से इस सृष्टि का निर्माण हुआ है। पिंड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी।²

नारी इस सृष्टि में ईश्वर की अद्वितीय कृति है, जो साहित्य, कला और समाज का चिरंतन विषय है। नारी पुरुष से सहयोग करनेवाला एक सुंदर और सुकुमार अंग है। 'प्रेम आकार लेकर धरती पर अवतीर्ण होता है, नारी के माध्यम से। जननी के रूप में संस्कृति के लिए वही अविलंब वृत धारण करती है।'³

नारी से ही नर शक्तिवान कहलाता है। नारह सृष्टि के प्रारंभ से लेकर अब तक, पाषाणकाल से स्पूतनिक युग तक नर के जीवन का पोषण एवं उन्नयन करती रही है।

नारी शब्द की व्युत्पत्ति 'न' अथवा 'नर' शब्द से हुई है। नर+डीब=नारी। ऋग्वेद में 'नृ' का प्रयोग वीरता का काम करने, दान देने और नेतृत्व करने के अर्थ में हुआ है। स्त्री का नाम नारी भी इन्हीं विशेषताओं के कारण पड़ा।⁴

वास्तव में गृहस्थाश्रम की सफलता नारी पर आधारित है, इसलिए प्राचीनकाल में नारी प्रतिष्ठित पद पर विराजमान थी। मनु ने भी सामाजिक ग्रंथ 'मनुस्मृति' में लिखा है—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राफला क्रियाः।'⁵

अर्थात् जिस कुल में नारी की पूजा होती है, उस कुल पर देवता प्रसन्न होते हैं और जिस कुल में इन (स्त्रियों) की पूजा (वस्त्र, भूषण तथा मधुर वचनादि) द्वारा आदर-सत्कार नहीं होता, उस कुल में सब कर्म निष्फल होते हैं।

उपनिषदों में कहा गया है कि 'सृष्टि की संपूर्ण रिक्तता की पूर्ति स्त्री से मानी गई है।'⁶

शतपथ ब्राह्मण के अंतर्गत जीवन के हर क्षेत्र में नारी और पुरुष की समकक्षता का आख्यान करते हुए कहा गया है कि 'स्त्री और पुरुष दल के दलों की भाँति है।'⁷ उपन्यास-सम्राट प्रेमचंद ने विकासात्मक स्तर पर नारी को श्रेष्ठता प्रदान की है।

'मैं प्राणियों के विकास में नारी को पुरुषों के पद से श्रेष्ठ समझता हूँ। जैसे-प्रेम, त्याग और श्रद्धा, हिंसा, संग्राम और कलह से श्रेष्ठ है। स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है, जितना प्रकाश अँधेरे से।'⁸

धर्म स्त्री पर टिका है, सभ्यता स्त्री पर निर्भर है।⁹ नारी का यह स्वरूप कविवर प्रसाद की इन पंक्तियों में पूर्णतः साकार हो उठता है। प्रसाद जी ने तो नारी को श्रेष्ठता की उच्चतम सीमा पर ही बिठा दिया है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल में,

पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुंदर समतल में।¹⁰

भारतीय इतिहास इस तथ्य की जानकारी देता है कि नारी पुरुष-जीवन को सदैव से ही प्रभावित करती आई है। विश्वामित्र ने मेनका से, दुष्यंत ने शकुंतला से, जहाँगीर ने नूरजहाँ से हार मान ली थी। ये पुरुष नारी की अपार शक्ति के आगे घुटने टेकने के लिए विवश हो

चुके थे। वस्तुतः नारी समाज का वह अंग है, जो व्यक्ति और समाज के स्तर पर अनेक भूमिकाओं का एक साथ निर्वाह करती है। एक ही समय में वह एक से अधिक रूपों में जीवंत रहती है।

मनुष्य निरंतर अपने अंतरतम से नारी को सौंदर्य की विभूति से विभूषित करता है। कविगण स्वर्णिम कल्पना के धागों से उसके लिए एक जाल-सा बुनते रहते हैं। मानव-जीवन का सच्चा सौंदर्य इसी 'नारी' नाम में निहित है। स्त्री तो अपने नाम से ही कोमल और मंजुल है। इसलिए महादेवी वर्मा ने कहा है, 'पुरुष प्रतिशोधमय शोध है, स्त्री क्षमा। पुरुष शुष्क कर्तव्य है, स्त्री सरस सहानुभूति, पुरुष ब्रह्मा है तो स्त्री हृदय की प्रेरणा।' ¹¹

पतिव्रता नारी की प्रशंसा कबीरदास ने इस प्रकार की है—

पतिव्रता मैली भली, काली कुटिल कुरूप।

पतिव्रता के रूप पर वारों कोटि सरूप। ¹²

वैदिक वाङ्मय में कहा गया है कि 'स्त्री ही घर है।' ¹³ 'ऐतरेय ब्राह्मण' में नारी को सखा के पद पर प्रतिष्ठित करके उसकी महिमा पुरुष के समकक्ष स्वीकार की गई है। ¹⁴

भारतीय जीवन-पद्धति का भौतिक ढाँचा आध्यात्मिक चेतना के अनेक आवर्त से अधिष्ठित है। भारतीय दर्शन प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। उसके अनुसार नारी प्रकृति-रूपा है। गीता में इसी सत्य का पुनराख्यान अनेक रूपों में हुआ है।

मानव-जीवन की श्रेष्ठतम गरिमा के विधायक तत्त्व विद्या, वैभव, तेज और पराक्रम आदि को भारतीय मुनियों ने विभिन्न देवियों के रूप में अर्थात् नारी नाम से अभिहित किया है। सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा नाम इन्हीं विभूतियों के प्रतीक और पर्याय हैं।

इस प्रकार भारतीय जीवन-पद्धति के सभी पक्षों में नारी का वर्चस्व असंदिग्ध रूप से स्वीकृत है।

संदर्भ

1. डॉ० मीतालाल, प्रेमचंद का नारी-चित्रण, पृ० 11
2. श्रीमती सरला दुबे, आधुनिक हिंदी साहित्य में नारी, पृ० 11
3. कृष्णा अग्निहोत्री, संजनिया (जैसियाराम कहानी-संग्रह, पृ० 31)
4. सुशीला मित्तल, आधुनिक हिंदी कहानी में नारी की भूमिकाएं, पृ० 4
5. मनुस्मृति, मन्वर्थ मुक्तावली, श्लोक-56, पृ० 114
6. अयमाकाश, स्त्रियाँ पूर्यते, वृहदारण्यकोपनिषद्, पृ० 143
7. शतपथ ब्राह्मण, पृ० 14, 42, 45
8. प्रेमचंद, गोदान, पृ० 160-161
9. जैनेंद्रकुमार, परख, पृ० 49
10. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, लज्जा सर्ग, पृ० 84
11. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृ० 24
12. कबीर, कबीर ग्रंथावली, पृ० 43
13. ऋग्वेद, पृ० 3, 4, 5
14. ऐतरेय ब्राह्मण, पृ० 3, 7

‘कितने पाकिस्तान’ में नारी-पीड़ा की अभिव्यक्ति (यौन-शोषण के संदर्भ में)

डॉ० (श्रीमती) कविता त्यागी

स्त्रीत्ववादी चिंतन आज साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग बन चुका है, क्योंकि रचनाकार का सर्जक-मन मात्र बायवी कल्पनाओं में विचरण नहीं करता, वरन् अपने लेखन के लिए कच्ची सामग्री वह अपने आस-पास के जीवन से ग्रहण करता है। सृजन की यह प्रक्रिया उसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अपने युग के कटु सत्यों से संबद्ध कर देती है, तब नारी की पीड़ा से भी वह अछूता नहीं रह सकता और उसके प्रति संवेदना की अभिव्यक्ति रचनाकार का दायित्व बन जाता है। ‘दुनिया की आधी जनसंख्या महिलाओं की है, किंतु यह आधी जनसंख्या पुरुष-प्रधान समाज में पुरुष-निर्मित नियमों के तहत किसी तरह से अपना जीवन-यापन कर रही है।’¹ पुरुष की अर्धांगिनी कही जानेवाली, पुरुष के जीवन को प्रेम रूपी रस में निमज्जित करके उसे जीने-योग्य रसयुक्त एवं लक्ष्ययुक्त बनानेवाली इस महिला की सबसे बड़ी विडंबना इसके प्रति पुरुष की दंभयुक्त मानसिकता रही है। स्त्री को कब, क्या, कैसे करना है, यह सब पुरुष निर्धारित करता है। नारी के परंपरागत स्वरूप का अध्ययन करके यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि वह सदैव से पीड़ित रही है। यद्यपि किसी ज़माने में स्त्रियाँ स्वतंत्र भी रही होंगी, समाज के संचालन में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी, तथापि ऐसा बहुत कम या यों कहें कि अपवादस्वरूप ही देखने-सुनने में आया है। आम तौर पर स्त्रियों का साथ अमानवीय-व्यवहार, अत्याचार होते रहे, उनका शोषण तथा उनकी अकांक्षाओं का दमन होता रहा है। ‘यदि गहराई से इस शोषण, दमन व अत्याचार के कारणों का विश्लेषण किया जाए तो समाज में महिलाओं की शैक्षिक स्थिति ही इसके लिए उत्तरदायी है। महिलाओं में शिक्षा के अभाव का तात्पर्य उसमें आत्मनिर्भरता तथा आत्मविश्वास की कमी है, जिसके कारण वह अपनी समस्याओं का स्वतः समाधान करने में सक्षम नहीं है।’² ‘भारतीय महिलाओं की दैहिक समस्याओं में सबसे प्रमुख समस्या उनका यौन-शोषण है। उनके साथ छेड़छाड़ तो आम बात हो गयी है। बसों में, बाजारों में, स्कूल और कालेजों के प्रांगणों में वे पुरुष द्वारा छेड़छाड़ का शिकार होती हैं। उन पर आवाज़ कसना, उन्हें स्पर्श करने की चेष्टा करना, कुत्सित इशारा करना, चोंटना-नोंचना, बलात्कार करना आदि घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं, जिन पर सर्वोच्च प्राथमिकता के साथ नियंत्रण करने की आवश्यकता है।’³ पर्याप्त नियंत्रण के अभाव में आज भी जैसिका लाल, रुचिका और आरुषि तलवार जैसी लड़कियाँ जघन्य घटनाओं का शिकार हो रही हैं। यही सब बिंदु स्त्रीत्ववादी चिंतन में साहित्य के अंतर्गत उठाए जा रहे हैं, जो एक पुनीत कर्म और स्वस्थ मानवीयता का प्रथम धर्म है।

कमलेश्वर जी ने अपने उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' में नारी-पीड़ा के अनेक रूपों यथा-माँ के रूप में नारी-पीड़ा, पत्नी के रूप में नारी-पीड़ा, अपने विचारों तथा मन के अनुरूप जीवन-साथी न मिलने के कारण उत्पन्न नारी-पीड़ा आदि को मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान की है; किंतु इनमें सबसे मुख्य उसकी यौन-शोषण की पीड़ा है। स्त्री प्राचीनकाल से ही चाहे-अनचाहे पुरुष की वासना-सिद्धि का साधन बनकर व्यभिचार का शिकार होती रही है। प्रसृत कृति में अदीब की अदालत का आधार लेकर वैदिक सभ्यता से नवयुगीन सभ्यता में हिंदुस्तान-विभाजन तक के विभिन्न कालों में नारी के यौन-शोषण की मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है।

सुमेरी सभ्यता के पृथ्वी-सम्राट गिलगमेश बता रहे हैं कि 'मैंने इन देवताओं की जीवन-शैली को देखा है। ये लोग स्त्री के प्रति तत्काल आसक्त हो जाते हैं। इनकी वासना जाग पड़ती है और ये अपनी साधना तथा लक्ष्य भूल जाते हैं। सप्तसिंधु की आर्यसभ्यता भी अपने देवताओं को वश में रखने के लिए अप्सराओं का उपयोग करती है।¹⁴ अपनी इस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर देवता लोग मर्यादा का अतिक्रमण कर पापाचार करते हैं। ऋषि गौतम की अपूर्व सुंदरी पत्नी अहिल्या पर वैदिक देवता इंद्र ने आसक्त होकर गौतम ऋषि का भेष धारण किया और चंद्रमा को आश्रम के द्वार पर चौकसी के लिए नियुक्त करके ऋषिपत्नी अहिल्या के साथ संभोग किया। पता चलने पर ऋषि गौतम ने अपनी पतिव्रता पत्नी का पक्ष जाने-सुने बिना उसके प्रति अविश्वास से भरकर उसको शाप दे डाला—रूपगर्विता! हृदयहीना! जा पत्थर की शिला बन जा!¹⁵ बेचारी अहिल्या एक ओर इंद्र के व्यभिचार एवं दूसरी ओर अपने पति गौतम ऋषि द्वारा की गयी प्रताड़ना की शिकार बनी, क्योंकि विलासी आर्यों ने स्त्री को सदैव पुरुष की संपत्ति माना है। इसी संदर्भ में 'देवी तानिया ने देवों को आगाह करनेवाला विदग्ध भाषण दिया—मनुष्य ने ही तुम्हें सिरजा है। मनुष्य के बिना तुम्हारी और हम-जैसी देवियों की कोई औकात या अस्तित्व नहीं है। तुम समस्त देवता लोग प्रेम-विहीन और एकांगी व्यक्ति हो। तुम सब स्त्री पर आसक्त होकर उसका शील भंग कर सकते हो... अवैध संतानें पैदा कर सकते हो... तुमने स्त्री को मात्र भोग्या मानकर अवैध संतानों का देवलोक स्थापित कर लिया है, पर इस देवलोक के पास कोई संस्कार या परंपरा नहीं है।¹⁶ 'प्रेम की वह मर्यादा, जो मनुष्य ने विकसित कर ली है, उसका लेशमात्र अंश भी तुममें नहीं है। अप्सराओं को देखते ही देवताओं का तप भंग हो जाता है और वे वीर्यपात करने लगते हैं। सिंधु सभ्यता का ब्रह्मा अपनी पुत्री शतरूपा सरस्वती पर आसक्त होकर पिछले सौ दिव्य वर्षों से उसके साथ संभोग में लिप्त है। तुम सब सूर्य को पूजते हो, उसी सूर्य ने अपने भाई विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा को अपनी पत्नी बना रखा है। इसी क्रम में चंद्र गुरु-पत्नी तारा पर इतना मोहित हो गया कि वह बलपूर्वक तारा का अपहरण कर लाया। देवगुरु बृहस्पति ने अपनी पत्नी को लौटा देने के लिए चंद्र को कई बार प्रार्थनापूर्वक समझाया, परंतु चंद्र तो कामांध था। वह गुरु-पत्नी तारा के साथ व्यभिचार और बलात्कार करता रहा।¹⁷ मनुष्य के प्रेम और मर्यादा को देखकर 'तुम सबकी चहेती देवी, तुम्हारे स्वर्ग की रानी ईश्वर स्वयं सम्राट गिलगमेश जैसे मनुष्य के पास प्रणय-निवेदन लेकर गयी थी, तब नश्वर मनुष्य सम्राट गिलगमेश ने उसका अपमान किया और देवलोक की देवियों को पतिता कहा। उसने कहा कि हम देवियाँ नहीं, व्यभिचारिणी वेश्याएँ

हैं। किसी को नहीं मालूम कि एक देवी कितने देवताओं की अंकशायिनी रह चुकी है। हम स्त्रियाँ तुम्हारे पापाचार से पीड़ित हैं। तुमने हमें मात्र भोग्या बनाकर रखा है, इसलिए हम देवियाँ देवलोक छोड़कर मृत्युलोक जा रही हैं।⁸

किंतु मृत्युलोक में भी स्त्रियों की पीड़ा कम न थी। यहाँ भी पुरुष रूपी देवता ने नियंता तथा शासक बनकर स्त्री को मात्र देह तथा संपत्ति ही समझा। 'वह ऐसा दौर था, जब कपास की बत्तियों की लौ रोशनी से ज्यादा अँधेरा पैदा कर रही थी और सोती हुई बदकार सदी के सिर का हल्का सा गड्ढा सियासत के तकिये पर मौजूद था। सियासत के अलाव में हिंदुस्तान की यह दोगली सदी अपना जिस्म गरमा रही थी, और शाही बिस्तरों पर ऐंडूती हुई शहबत और ऐय्यासी की अंगड़ाइयाँ ले रही थी, हर हिंदू राजा और महाराजा अपनी लड़की को एक महकते गुलदस्ते की तरह सियासत के बाज़ार में नीलाम कर रहा था और अपनी लड़कियों के बदले में अपनी आराम और आराइश के लिए खिलवतों और जागीरों का सौदा कर रहा था। हिंदू लड़कियों की बिक्री और तिज़ारत के लिए खुद हिंदू सौदागर बाज़ार में मोलभाव के लिए मौजूद था। हिंदुस्तान का आदमी अपनी ग़ैरत और अजमत की गरिमा से शून्य हो चुका था... तब इस धरती पर परछाइयाँ थीं...मनुष्य नहीं था...'⁹ और तब 'चाहे यह नृशंस ही लगे, पर हिंदुस्तान में जब उसकी तहजीब औरत की आबरू की रक्षा नहीं कर सकी, तो खुद औरत ने अपनी अस्मिता की रक्षा की खातिर अपना बलिदान देकर संस्कृति का मुँह उजला किया।... दाराशिकोह की बीबी नादिराबानू तथा बाकी ओहदेदारों की औरतें उसी व्यक्तिगत वजूद और हिंदुस्तानी तहजीब और परंपरा के तहत मौत को गले लगाने को तैयार हैं... इस जालिम दौर में अगर औरत अपनी आबरू की हिफ़ाज़त के लिए विद्रोह करती है तो यह हिंदुस्तानी औरत का फैसला है और इसे इसका हक़ है। जौहर की खायत की परंपरा बर्बर है, लेकिन औरत की अस्मत् की बेकद्री और उसका उल्लंघन करना तो और भी बड़ी बर्बरता है।'¹⁰

औरत की अस्मत् की बेकद्री और बर्बरता हिंदुस्तान से बाहर की दुनिया में और भी अधिक विद्रूप होकर घृणा और यौन-जुगुप्सा की सीमा पार कर गयी कि इन हवशी पुरुषों को मनुष्य कहना भी मनुष्यता का अपमान है। ऐसे ही हवशी पुरुषों की शिकार बनी अपनी पीड़ा को शब्दबद्ध करती हुई 'किम-हकसुन अदीब की अदालत में कह रही है—सर! मैं कोरियन हूँ। तब मैं सत्रह साल की थी, जब 1941 में मुझे पेइचिंग से जापानी फौजों ने उठाया था और दूसरे महायुद्ध के दौरान मुझसे जापानी सोल्जरो ने लगातार पंद्रह बार प्रतिदिन बलात्कार किया। मुझे 'तीसहिनताई' कोर में भर्ती किया गया, जो सैक्स कोर थी, जिसे कंफर्ट कोर्ट के नाम से पुकारा जाता था। इस कोर में करीब चालीस हजार औरतें-लड़कियाँ ज़बरदस्ती भर्ती की गयी थीं और हम प्रतिदिन कम-से-कम पंद्रह जापानी फौज़ियों की पाशविक वासना को सहती और तृप्त करती थीं। ...तभी बिलकीस की तेज़ रुलाई फूट पड़ी—अदालते अलिया मुझे तो सिर्फ़ तश्वीर और डाक के ज़रिये ब्याहता के नाम पर इस गंदे पेशे में डाला गया... न तो मुझे उनकी जुबान आती थी, न उनकी तहजीब... पर वो अरब था, जो मुझे ब्याह का नाटक करके ले गया था, वह मुझसे अट्टाइस बरस बड़ा था और जैसे ये कि-हकसुन पंद्रह जापानियों की हवश का शिकार होती थी, उसी तरह मैं हर दिन बीसियों बार अपने उस खाविंद की कुदरती

और ग़ैरकुदरती हरकतों का शिकार होती थी।¹¹ अदालत के माथे पर सलवटें पड़ीं और यह सोचकर संतोष की साँस ली कि वर्तमान में दुनिया के अधिकांश देशों में प्रजातांत्रिक व्यवस्था है, जिसमें सामान्य जनता की सुरक्षा के लिए सेना है, न्याय करने के लिए जनसामान्य को अदालत में जाने की छूट है, अदालतों के भी ऊपर संविधान है, मीडिया है जिसके द्वारा आमजन के हितों की सुरक्षा की गारंटी हो जाती है; किंतु तभी अदीब ने लखनऊ के मुद्राक्षस टोबोटेक सिंह द्वारा दिया गया मसविदा लिया और उसे पढ़ना आरंभ किया—‘पत्नी चुपचाप अपने बाल सँवार रही थी कि तभी...वर्दीवाला अफ़सर अंदर आया और पति से बोला डरने या भागने की ज़रूरत नहीं है, अगर तुमने हमारी मदद की तो हम तुम्हें इनाम भी देंगे।...अब उसे अचानक लगा कि उस कमरे में कोई औरत है और वह एक विजेता सैनिक अफ़सर है। औरत की ओर उसने ध्यान से देखा... वह उसके पति पर गरजा— घर में जो भी खाने का सामान हो लेकर आ! पति आदेश सुनकर अंदर चला गया। उसके जाते ही जैसे वह मूरत की तरह खड़ी और हिली...अफ़सर ने देखा वह कुछ और ज़्यादा हिली...और फिर सहसा बाहर की ओर भागी। फलक मारते ही अफ़सर उसकी ओर झपटा और उसने उसे कमर से पकड़ लिया...अफ़सर ने उसके सारे कपड़े नॉच डाले...एक-एक धज्जी उसने चीरकर फेंक दी। वह बेहद उत्तेजित हो चुका था... और फिर...। कुछ समय पश्चात् उस अफ़सर के सैनिक आ धमके और चीखने लगे—सर!...या... हमें समूची बस्ती में सिर्फ़ चार औरतें मिलीं, जो इस कद्र बूढ़ी हैं कि कुत्ता भी उन्हें सूँघना नहीं चाहेगा...सर! आपका काम हो चुका...यह औरत हमें दे दीजिए।...और तब तूफ़ान—सा आ गया। वे सारे—के—सारे एक साथ उस पर टूट पड़े।¹² और अगली सुबह वही वर्दीवाला अफ़सर कुछ अँग्रेज़ पत्रकारों के साथ लौटा। टेपरिकार्ड चलने लगे, औरत का बयान दर्ज होने लगा— मैं अपने मुल्क की फौज का इस्तकबाल करती हूँ। उन्होंने बड़ी दिलेरी से हमारी रक्षा की है...हमारी इज्जत की हिफ़ाजत की है...इनका सलूक, इंसानपरस्ती और इख़लाक काबिले तारीफ़ है।¹³ इस बयान के पीछे प्रत्यक्ष में उस अफ़सर का दबाव होने के साथ अप्रत्यक्ष रूप में स्त्री का वह भय है, जो संभावित सामाजिक अपमान की कल्पना से अंतःकरण में उत्पन्न हुआ है, और जिसका कारण है उसके साथ बलात्कार होना, क्योंकि ‘महिलाओं की सामाजिक स्थिति को संविधान तथा विधि द्वारा प्रदत्त स्थिति व भूमिकाओं और सामाजिक परंपराओं द्वारा थोपी गयी स्थिति व भूमिकाओं के बीच की दरार का एक विशिष्ट उदाहरण माना जा सकता है। सैद्धांतिक रूप में जो कुछ स्त्रियों के लिए संभव है, व्यावहारिक रूप में नहीं।¹⁴ इस स्थिति का लाभ उठाकर एक ओर जहाँ रक्षक ही भक्षक बन रहे हैं, वहीं यथा राजा तथा प्रजा के सिद्धांत पर जनता में भी ऐसे विकृत तत्त्व बेखौफ़ पनप रहे हैं तथा औरत की अस्मत्ता का बर्बरता से हनन कर रहे हैं। समाज में नारी-पीड़ा की ऐसी स्थिति को लेखक ने ‘बूटासिंह एवं रेतपरी (जेनिब)’ की कहानी सृजित करके रूपायित किया है—‘बूटासिंह ने पलटकर देखा। एक सोलह-सत्रह साल की लड़की अपनी अस्मत्ता की रक्षा के लिए उसकी ओर दौड़ती चली आ रही थी। उसके कपड़े तार-तार थे। बाल बिखरे थे और वह बुरी तरह हाँफ़ रही थी। एक हिंसक—सा नौजवान उसका पीछा कर रहा था, वह अधनंगी लड़की बूटासिंह के पैरों पर गिरी—मुझे बचाओ...मुझे बचाओ...यह दरिंदा मेरी इज्जत लूटना चाहता है...कहती हुई वह उठी और बूटासिंह से चिपककर हाँफने

लगी।¹⁵ बूटासिंह ने अति निर्धन होने के बावजूद उस हवशी नौजवान को कुछ धन दिया और लड़की को उसकी हवश का शिकार होने से बचाकर उससे मुक्त कराया।

इसी प्रकार की स्थिति को रूपायित करते हुए अदीब ने एक दूसरी कहानी का सृजन विद्या नामक स्त्री को केंद्र में रखकर किया है। विद्या और अदीब अपने विद्यार्थी-जीवन में उदात्त भावों से परिपूर्ण एक-दूसरे मिलते हैं और परिस्थितिवश कुछ समय पश्चात् बिछुड़ जाते हैं। विद्या के पिता अपनी बेटी विद्या का विवाह करने की तैयारी करने लगते हैं, किंतु उन्हीं दिनों कुछ हिंदू लड़के, जो पार्क में व्यायाम करने के नाम पर इकट्ठा होते थे, विद्या का पीछा करने लगे। 'एक दिन उन्हीं में से दो लड़कों ने विद्या को पकड़ा और आलू के एक गोदाम में ले जाकर उसे अपनी हिंदू हवश का शिकार बनाया था। डर और शर्म के मारे वह अपने बाबूजी को कुछ नहीं बता सकी थी। एक बार फिर उन्हीं दोनों ने उसे बेआबरू किया, तब से विद्या को दौरे पड़ने लगे थे...वह अपने शहर से घबराने लगी थी। और उन्हीं दिनों... हिंदुस्तान-विभाजन की घोषणा से मारकाट शुरू हुई, जिसमें विद्या का सारा परिवार मारा गया। तब विद्या की रक्षा हेतु विधर्मी सैयद सिराज आगे आए। उन्होंने मानवता का निर्वाह करते हुए कहा था-यह लड़की हिंदू है... मैं नहीं चाहता कि यह किसी की हवश या छुरे का शिकार हो जाए। पाकिस्तान पहुँचते ही मैं किसी जायज नौजवान से इसकी शादी करा दूँगा।'¹⁶ पाकिस्तान में सैयद सिराज की बेगम रूयक की प्रेरणा एवं सहयोग से 'नदीम खाँ ने विद्या को अपनी तीसरी पत्नी के रूप में स्वीकार करके उसे भरपूर इज्जत और मुहब्बत दी।'¹⁷ इस प्रकार हम देखते हैं कि हवशी पुरुषों ने सधर्मी होते हुए भी औरत की अस्मत् को बर्बरता से कुचलते हुए मानवता को शर्मसार कर दिया और विषम परिस्थितियों में भी विद्या का जीवन और यौवन बरबादी से बचाने में विधर्मी पुरुषों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि मानवता से बड़ा कोई धर्म नहीं है।

प्रस्तुत कृति में लेखक ने एक ओर जहाँ पुरुष की पाशविक और व्यभिचारी प्रवृत्ति, स्त्रियों की पीड़ा की मार्मिक व यथार्थ अभिव्यक्ति की है, वहीं दूसरी ओर उपर्युक्त दोनों कहानियों में बूटासिंह, स्वयं अदीब, सैयद सिराज, नदीम खाँ आदि उदात्त-भावयुक्त पुरुष पात्रों को सृजित करके यह संदेश प्रेषित करने का सफल प्रयास किया है कि समग्र पुरुषजाति व्यभिचारी नहीं है, जो स्त्री को केवल भोग की वस्तु के रूप में ग्रहण करे और शक्ति तथा धर्म की आड़ में अपनी घृणित मानसिकता और कुवासना की क्षुधा शांत करे। कमलेश्वर जी ने मनुष्यता से परिपूर्ण पुरुष-पात्रों, जिन्हें पशु तथा देवता से भिन्न मनुष्य रूप में देखकर स्त्री की पीड़ा कम होती है, का सृजन करके मानवीयता एवं अपनी रचनाधर्मिता का प्रशंसनीय निर्वाह किया है जिससे समाज में स्त्रियों की पुरुषों के प्रति घृणा एवं भय की भावना क्षीण होगी तथा पुरुषों में स्त्रियों के प्रति सम्मान व प्रेम की भावना पुष्ट होगी। फलस्वरूप समाज में समरसता का विकास होगा।

संदर्भ

1. महिला विकास कार्यक्रम, डॉ॰ आशुरानी, इनाश्री पब्लिशर्स, जयपुर 1997, पृ॰ 14
2. वही, पृ॰ 19
3. भारतीय समाज : मुद्दे एवं समस्याएँ, धर्मवीर महाजन एवं डॉ॰ कमलेश महाजन, विवेक

प्रकाशन, दिल्ली 2005, पृ० 48

4. कितने पाकिस्तान, कमलेश्वर, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृ० 27
5. वही, पृ० 20
6. वही, पृ० 29
7. वही, पृ० 32
8. वही, पृ० 33
9. वही, पृ० 231
10. वही, पृ० 219
11. वही, पृ० 89
12. वही, पृ० 238
13. वही, पृ० 340
14. महिला विकास कार्यक्रम, डॉ० आशुरानी, पृ० 15
15. कितने पाकिस्तान, कमलेश्वर, पृ० 38
16. वही, पृ० 329
17. वही, पृ० 332

□ एच-7-9/207 सेक्टर-3
राजेंद्रनगर, साहिबाबाद, (गाज़ियाबाद)
मो० 09999752457
09899897459

सामान्य बी०टी०सी० एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापकों की दुर्दिचता का तुलनात्मक अध्ययन

प्रदीपकुमार सिंह

शोधछात्र

हंडिया पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, हंडिया, इलाहाबाद

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है तथा मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, जो समाज और वातावरण के साथ-साथ अपना अद्वितीय समायोजन स्थापित करता है। शिक्षा के द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी का समाजीकरण होता है तथा संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होती है। शिक्षा सामाजिक नियंत्रण का एक सशक्त साधन है, जो समाज को बनाए रखने व उनके विकास के लिए अति आवश्यक है।

छात्रों के सर्वांगीण विकास का मुख्य श्रेय शिक्षक को ही है, क्योंकि वह अपने निर्देशन से कुसमायोजित छात्र को समायोजित तथा शिक्षा-मनोविज्ञान की सहायता से छात्रों की पहचान कर, उत्तम शिक्षण-विधि का प्रयोग कर छात्रों को स्वयं, सुयोग्य, सक्षम प्राणी बनाने तथा राष्ट्र के कल्याण-हेतु तैयार करता है। किसी भी राष्ट्र व समाज के विकास का महत्वपूर्ण साधन मानव है। शिक्षा ही मानव को समाज में स्थापित करती है। कोई भी राष्ट्र तब तक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक उस राष्ट्र के मानव को विकास का सुअवसर प्राप्त न हो जाए। मानव-जाति के विकास का आधार शिक्षा है।

एक योग्य शिक्षक भौतिक साधनों के अभाव में भीर विद्यार्थियों को उत्तम शिक्षा प्रदान कर सकता है। शिक्षक के शिक्षण कार्य को प्रभावित करनेवाला एक प्रमुख कारक शिक्षक की संबंधित व्यवसाय में दुर्दिचता है, क्योंकि यदि शिक्षक की दुर्दिचता शिक्षण-व्यवसाय के प्रति होगी तो वह प्रभावी शिक्षण नहीं कर सकता है, जिसका असर उसकी व्यावसायिक दक्षता पर पड़ता है। शैक्षिक प्रक्रिया के विकास के क्षेत्र में वर्तमान शिक्षक की स्थिति सर्वथा भिन्न है। वह निर्धनता, उपेक्षा, असुरक्षा तथा अनुशासनहीनता से पीड़ित है। अतः उसकी कार्य-संलग्नता तथा रुचि में कमी है। फलतः उसकी दुर्दिचता की अनुभूति निरंतर बढ़ती जा रही है। शिक्षकों की इन समस्याओं का अध्ययन कर उसमें अपेक्षित सुधार आवश्यक है, ताकि वे अपने उत्तरदायित्वों का निष्ठापूर्वक निर्वाह कर सकें और शिक्षा में परिवर्तन एवं परिमार्जन कर समाज एवं राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर पहुँचा सकें।

भावी व वर्तमान शिक्षकों की गुणवत्ता में अभिवृद्धि के लिए उनकी दुर्दिचता का न्यून होना आवश्यक है। प्रश्न यह है कि शिक्षक की दुर्दिचता को उत्पन्न करनेवाले कौन-कौन से प्रमुख कारण हैं। उपर्युक्त विवरणों से प्रेरित होकर अध्ययनकर्ता के मन-मस्तिष्क में अकस्मात्

यह प्रश्न उठा। उ०प्र० में तत्कालीन भाजपा सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के विकास एवं शिक्षकों की कमी की पूर्ति हेतु सन् 1998-99 में बी०एड् प्रशिक्षणार्थियों को मेरिट के आधार पर चयन किया था। उनको विशिष्ट बी०टी०सी० का संक्षिप्त प्रशिक्षण देकर स्कूलों में बी०टी०सी० प्राप्त शिक्षकों के साथ तैनात कर दिया। अध्ययनकर्ता के मस्तिष्क में यह विचार आया कि सरकार का यह क़दम कहाँ तक सफल है, जबकि पूर्व के बी०टी०सी० प्रशिक्षण-प्राप्त अधिकांश अध्यापक इंटरमीडिएट स्तर की डिग्री प्राप्त हैं। अध्ययनकर्ता यह परीक्षण करना चाहता है कि एक वर्ग उच्चशिक्षा-प्राप्त है तथा दूसरा वर्ग सामान्यतया इंटरमीडिएट बी०टी०सी० प्रशिक्षण-प्राप्त है, क्या इन दोनों वर्गों के अध्यापकों में दुश्चिन्ता का स्तर समान है या आज की बेरोज़गारी को देखते हुए व्यवसाय का चयन किया है। प्रस्तुत शोध-प्रपत्र का उद्देश्य दुश्चिन्ता से संबंधित तत्त्वों का अध्ययन करना है तथा सामान्य बी०टी०सी० एवं विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षकों में दुश्चिन्ता का स्तर क्या है, अध्ययनकर्ता को प्रस्तुत अध्ययन हेतु प्रेरित किया। अध्ययनकर्ता को अपने संबंधित साहित्यों के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि संबंधित विषय में अत्यल्प ही कार्य हुए हैं। इसलिए अध्ययनकर्ता को प्रस्तुत शोध-प्रपत्र पर कार्य करने की आवश्यकता महसूस हुई।

प्रस्तुत शोध-प्रपत्र का शीर्षक है— 'सामान्य बी०टी०सी० एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापकों की दुश्चिन्ता का तुलनात्मक अध्ययन।'

अध्ययन के उद्देश्य :

प्रस्तुत शोध-प्रपत्र हेतु निम्नलिखित उद्देश्यों का निर्माण किया गया है—

1. सामान्य बी०टी०सी० एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापकों की दुश्चिन्ता का अध्ययन करना।
2. सामान्य बी०टी०सी० एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापिकाओं की दुश्चिन्ता का अध्ययन करना।
3. सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापकों एवं अध्यापिकाओं की दुश्चिन्ता में सह-संबंध का अध्ययन करना।

शोध-परिकल्पना :

1. सामान्य बी०टी०सी० एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापकों की दुश्चिन्ता में सार्थक अंतर नहीं है।
2. सामान्य बी०टी०सी० एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापिकाओं की दुश्चिन्ता में सार्थक अंतर नहीं है।
3. सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापकों एवं अध्यापिकाओं की दुश्चिन्ता में कोई सह-संबंध नहीं है।

शोध-विधि :

प्रस्तुत अध्ययन वर्णनात्मक अनुसंधान की सर्वेक्षण-विधि पर आधारित है, जिसमें इलाहाबाद जनपद के प्राथमिक विद्यालयों में कार्यरत सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० प्रशिक्षित अध्यापकों को जनसंख्या के रूप में लिया गया है। चयनित न्यादर्श के रूप में हंडिया तहसील के प्राथमिक विद्यालयों से 25 सामान्य बी०टी०सी० एवं 25 विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षकों का चयन यादृच्छिक न्यादर्श प्रतिचयन विधि से किया गया है। प्रदत्त संकलन हेतु ए०के०पी० सिन्हा एवं

एल०एन०के० सिन्हा द्वारा निर्मित दुर्श्चिता मापनी का प्रयोग किया गया है। प्रदत्तों के विश्लेषण हेतु मध्यमान, मानक विचलन एवं टी-अनुपात तथा सह-संबंध गुणांक ज्ञात किया गया है।

प्रदत्तों की गणना :

सारणी-1

सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापकों की दुर्श्चिता का सांख्यिकी विश्लेषण

माध्यम	N	M	S.D	D	OD	t	सार्थकता
सामान्य बी०टी०सी० शिक्षक	25	61.70	12.72	2.52	2.33	1.08	.01*
विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षक	25	64.22	14.51				

.01 पर असार्थक (2.64)

विश्लेषण : उक्त सारणी संख्या-1 से स्पष्ट है कि सामान्य बी०टी०सी० शिक्षकों की दुर्श्चिता के प्राप्तांकों का मध्यमान 61.70 है तथा मानक विचलन 12.72 है, जबकि विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षकों की दुर्श्चिता के प्राप्तांकों का मध्यमान 64.22 तथा मानक विचलन 14.51 है। परिगणित टी-अनुपात 1.08 है, जो स्वतंत्र्यांश (df) 48 के लिए सार्थकता स्तर पर .01 पर टी-सारणीमान 2.64 से कम है, जो असार्थक है। चूँकि विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षकों की दुर्श्चिता के प्राप्तांकों का मध्यमान 64.22, सामान्य बी०टी०सी० शिक्षकों की दुर्श्चिता के प्राप्तांकों का मध्यमान 61.70 से अधिक है, अतः विशिष्ट बी०टी०सी० प्रशिक्षित शिक्षकों की दुर्श्चिता सामान्य बी०टी०सी० प्रशिक्षित शिक्षकों की दुर्श्चिता से अधिक है, किंतु सार्थकता स्तर पर यह मान सार्थक नहीं है। अर्थात् सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षकों की दुर्श्चिता समान है।

व्याख्या : सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षकों की शैक्षिक समस्याएँ, अनुभूति की गई आवश्यकताएँ तथा प्रशासनिक गतिविधियों में समानता तथा स्थानीय परिस्थितियों का समान होना उनकी दुर्श्चिता में समानता के कारण हो सकते हैं।

सारणी-2

सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापकों की दुर्श्चिता का सांख्यिकी विश्लेषण

माध्यम	N	M	S.D	D	OD	t	सार्थकता
सामान्य बी०टी०सी० शिक्षिका	25	67.35	10.92	1.24	2.10	0.59	.01*
विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षिका	25	66.11	11.34				

.01 पर असार्थक (2.64)

विश्लेषण : उक्त सारणी संख्या-2 से स्पष्ट है कि सामान्य बी०टी०सी० शिक्षिकाओं की दुर्श्चिता के प्राप्तांकों का मध्यमान 67.35 है तथा मानक विचलन 10.92 है, जबकि

विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षिकाओं की दुर्श्चिता के प्राप्तांकों का मध्यमान 66.11 तथा मानक विचलन 11.34 है। परिगणित टी-अनुपात 0.59 है, जो स्वतंत्र्यांश (df) 48 के लिए सार्थकता स्तर पर .01 पर टी-सारणीमान 2.64 से बहुत कम है, जो असार्थक है। चूँकि सामान्य बी०टी०सी० शिक्षिकाओं की दुर्श्चिता के प्राप्तांकों का मध्यमान 67.35 विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षिकाओं की दुर्श्चिता के प्राप्तांकों का मध्यमान 66.11 से अधिक है। अतः सामान्य बी०टी०सी० शिक्षिकाओं की दुर्श्चिता सामान्य बी०टी०सी० शिक्षिकाओं की दुर्श्चिता से अधिक है। किंतु सार्थकता स्तर पर यह मान नगण्य है, अर्थात् सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० चयनित शिक्षिकाओं की दुर्श्चिता समान है।

व्याख्या : सामान्य बी०टी०सी० शिक्षिकाओं के शैक्षिक अनुभव का अधिक होना, उनकी कार्यकुशलता का अधिक होना, संबंधित व्यवसाय में सुरक्षा का दृष्टिकोण, सम्मानजनक वेतनमान प्राप्त करना आदि हो सकता है।

सारणी-3

सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० अध्यापक एवं अध्यापिकाओं की दुर्श्चिता का सांख्यिकी विश्लेषण

माध्यम	N	M	S.D	r
सामान्य बी०टी०सी० शिक्षिका	50	62.96	13.61	0.12
विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षिका		66.73	11.13	

विश्लेषण : उक्त सारणी संख्या-3 से स्पष्ट है कि सामान्य बी०टी०सी० शिक्षकों की दुर्श्चिता प्राप्तांकों का माध्यमान 62.96 तथा मानक विचलन 13.61 है, जबकि सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षिकाओं की दुर्श्चिता प्राप्तांकों का माध्यमान 66.73 तथा मानक विचलन 11.13 है। परिगणित सह-संबंध गुणांक .12 है, जो निम्न धनात्मक सह-संबंध गुणांक की श्रेणी में आता है।

व्याख्या : उक्त सारणी के विश्लेषण से स्पष्ट है कि सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षकों की दुर्श्चिता तथा सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षिकाओं की दुर्श्चिता धनात्मक रूप से अंतर संबंधित है अर्थात् जिन सामान्य एवं विशिष्ट बी०टी०सी० शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं की दुर्श्चिता में धनात्मक सह-संबंध है। इसका संभावित कारण व्यवसायगत गुण एवं शिक्षिकाओं में इसके समान दृष्टिकोण हो सकते हैं।

संदर्भ

1. मालती सारस्वत, शिक्षा मनोविज्ञान, आलोक प्रकाशन, लखनऊ, 2004
2. एस०पी० गुप्ता, उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद 2006
3. हेनरी गैरेट, मनोविज्ञान एवं शिक्षा में सांख्यिकी, वैकलिस फेफर एंड सिमंस प्रा० लि०, मुंबई
4. प्रतिभा उपाध्याय, भारतीय शिक्षा में उदीयमान प्रवृत्तियाँ, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद 2005
5. एस० पी० गुप्ता, जॉब सैटिसफैक्शन एंड द टीचर, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद 2007

प्राथमिक विद्यालयों में कक्षा-प्रबंध एवं उसको प्रभावित करने वाले कारक

गीता कुशवाहा

पारंपरिक रूप से शिक्षा तथा ज्ञानार्जन को व्यक्तिगत रुचि एवं प्रयासों का प्रतिफल माना जाता था, परंतु आजकल, शिक्षा को व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकता तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास का प्रथम सोपान माना जाता है। शिक्षा के उत्तरोत्तर विकास एवं समाजीकरण से कक्षा एवं विद्यालयों का प्रादुर्भाव हुआ। कक्षा शैक्षणिक उद्देश्यों की प्राप्ति का एक माध्यम है। शिक्षक एवं छात्र-छात्राएँ कक्षा के वातावरण में आपसी संबंधों, क्रियाओं एवं व्यवहार उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर अग्रसर होते हैं।

कक्षा-प्रबंध के बारे में विचार करते समय कक्षा में शिक्षकों के विभिन्न क्रिया-कलापों में समयवितरण एवं गतिविधियों पर विचार करने पर हम पाते हैं कि सामान्य रूप से शिक्षक अपना अधिकतर समय एवं प्रयास विद्यार्थियों को विभिन्न बातों पर सलाह एवं निर्देश देने, कक्षा में अनुशासन बनाए रखने एवं शैक्षणिक कार्यों में व्यय करते हैं। शिक्षक को छात्रों का सलाहकार, अनुशासनकर्ता तथा शैक्षणिक प्रक्रिया का केंद्रबिंदु माना जाता है।

अधिकतर शिक्षक स्वयं को प्राथमिक रूप से शिक्षण-प्रक्रिया के प्रति उत्तरदायी मानते हैं। पहले ऐसा माना जाता था कि सफल शिक्षक पैदा होते हैं, शिक्षक के व्यक्तित्व का आकर्षण एवं करिश्मा उनको जन्मजात प्राप्त होता है, परंतु आजकल इस मत को पूर्ण रूप से सही नहीं माना जाता। आजकल यह माना जाता है कि अच्छे कक्षा-प्रबंध, परिश्रम और आचरण से शिक्षा प्रक्रिया में उत्तरोत्तर सुधार की दृढ़ संभावनाएँ हैं। कक्षा के पूर्व नियोजन, व्यवस्था एवं प्रभावशाली प्रबंध से शिक्षण एवं सीखने की प्रक्रिया को अधिकाधिक सरल एवं सफल बनाया जा सकता है। कक्षा के माध्यम से, शिक्षण के उद्देश्यों की अधिकतम प्राप्ति में कक्षा-प्रबंध अपेक्षाकृत नया विषय है। इससे न केवल शिक्षक एवं छात्रों को शिक्षण एवं सीखने की प्रक्रिया में आत्म-संतोष की प्राप्ति होती है, अपितु दोनों पक्षों को शिक्षण-प्रक्रिया में अपनी पूरी भागीदारी का अनुभव होता है तथा शिक्षण-प्रक्रिया के पूरे होने पर उद्देश्यों की प्राप्ति और कमियों का भी आभास होता है। इससे भविष्य में प्रक्रिया के और अधिक उन्नत होने की संभावनाएँ बनती हैं।

कक्षा-प्रबंध :

कक्षा-प्रबंध से तात्पर्य ऐसे प्रबंध से है, जिसके फलस्वरूप कक्षा में शिक्षण एवं सीखने की प्रक्रिया जीवंत और आनंददायी हो जाती है तथा शिक्षण के उद्देश्यों की अधिकतम प्राप्ति संभव होती है। इसके अंतर्गत कक्षा के भौतिक, सामाजिक और शैक्षिक वातावरण को अधिगम प्रक्रिया के अनुकूल बनाया जाता है। साथ ही शिक्षक के व्यवहार तथा गुणों के

मनोवैज्ञानिक प्रयोग, माडलिंग तथा पूर्व नियोजन द्वारा शिक्षण के उद्देश्यों की अधिकतम प्राप्ति की जाती है।

कक्षा-प्रबंध के अंतर्गत संबंधित कार्यों का नियोजन, निर्देशन, समन्वयन, पर्यवेक्षण, मूल्यांकन आदि सभी कार्य आते हैं। कक्षा-प्रबंध से कक्षा की प्रभावकारिता का पता चलता है। सबसे पहले हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि कक्षा की प्रभावकारिता क्या हो? कैसी कक्षा को हम प्रभावी तथा क्रियाशील कह सकते हैं आदि। अकस्मात् जब आप किसी कक्षा को देखते हैं तो पता चल जाता है कि कक्षा क्रियाशील है या नहीं। जहाँ पर अध्यापक अपने शिक्षण कार्य में लगे हुए हैं। छात्र पढ़ने में व्यस्त हैं, कक्षा में स्वच्छता है, उसका आकर्षक स्वरूप बरबस मन को मोहित कर रहा है, बच्चे आनंदपूर्वक प्रसन्न मुद्रा में अपने अध्ययन के कार्यों में क्रियाशील दिखाई पड़ रहे हैं, निश्चित रूप से ऐसी कक्षा को प्रभावी कहना उचित होगा। कक्षा के वातावरण को प्रभावी बनाने वाले कुछ तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. कक्षाएँ बच्चों के लिए आकर्षण का केंद्र हों।
2. शिक्षक बच्चों की रुचियों का ध्यान रखते हुए शिक्षण उपागमों (सामग्री) का प्रयोग करते हुए अध्ययन कार्य करते हों।
3. शिक्षक अपने शिक्षण को रोचक एवं बोधगम्य बनाने के लिए उपलब्ध शिक्षण सामग्री का भरपूर उपयोग करते हों।
4. सीखने-सिखाने का उपयुक्त वातावरण हो।
5. प्रधानाध्यापक, अध्यापक एवं छात्रों में परस्पर घनिष्ठ संबंध हो।
6. कक्षा में प्रत्येक बच्चे पर बराबर ध्यान दिया जाता हो तथा बच्चों को सीखने में सहायता की जाती हो।
7. हर बच्चे की समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया जाता हो।
8. कक्षाएँ नियमित रूप से संचालित होती हों और पूरे समय तक बच्चे उपयोगी कार्यक्रमों में व्यस्त रहते हों।
9. बच्चों के लिए कक्षा में घर जैसा माहौल हो।
10. शिक्षण में विधियों एवं तकनीकों का प्रयोग किया जाता हो।
11. समय-समय पर विविध प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रम, साहित्य एवं खेलकूद संबंधी प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता हो।
12. बच्चों के शिक्षण में सहयोगी अधिगम, सक्रिय अधिगम आदि नवीन उपागमों का प्रयोग किया जाता हो।
13. छात्र, अध्यापक तथा समुदाय की सहभागिता कक्षा-प्रबंधन के लिए अत्यंत उपयोगी होती है।
14. शिक्षण के लिए नियमित रूप से अनुकूल वातावरण के निर्माण हेतु शिक्षक, अभिभावक और छात्र चिंताशील रहते हों।

कक्षा-प्रबंध के कार्य :

कक्षा-प्रबंध के अंतर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं—

1. कक्षा की भौतिक सुविधाओं तथा आवश्यक सामग्री की व्यवस्था

2. कक्षा में छात्रों का प्रवेश तथा वर्गीकरण
3. कक्षा संचालन में नियमों का निर्धारण एवं अनुपालन
4. शिक्षण कार्यों का कार्य-विभाजन
5. पाठ्य सहगामी क्रियाकालापों की व्यवस्था
6. शैक्षिक स्तरों का उन्नयन
7. सतत् एवं व्यापक मूल्यांकन
8. सूक्ष्म कार्य-योजना का निर्माण करना

कक्षा-प्रबंध को प्रभावित करनेवाले तत्त्व :

कक्षा के प्रभावपूर्ण एवं सफल प्रबंध के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक, इन प्रभावित करनेवाले तत्त्वों से भली-भाँति अवगत हो।

निम्नलिखित तत्त्व कक्षा-प्रबंध को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं—

1. कक्षा का वातावरण
2. पूर्व नियोजन
3. शिक्षक के गुण
4. मॉडर्निंग
5. समस्यात्मक परिस्थितियाँ
6. रोक-टोक करनेवाले विद्यार्थी

1. कक्षा का वातावरण :

कक्षा के महत्त्वपूर्ण एवं सफल प्रबंध के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक कक्षा के वातावरण को भली-भाँति समझे। किसी भी कक्षा में शिक्षण का वातावरण तीन प्रकार के वातावरण को मिलाकर बनता है—

- (1) भौतिक वातावरण
- (2) सामाजिक वातावरण
- (3) शैक्षिक वातावरण

2. पूर्व नियोजन :

पूर्व नियोजन सफल कक्षा-प्रबंध की कुंजी है। परंतु केवल पाठ के नियोजन मात्र से ही शिक्षक की जिम्मेदारी पूरी नहीं होती। एक सफल शिक्षक को शिक्षण के दौरान सामान्य रूप से आनेवाली परेशानियों एवं बच्चों के व्यवहारों से निपटने के बारे में अच्छी जानकारी होनी चाहिए। अन्यथा एक अच्छी तरह पूर्व नियोजित पाठ के सफल शिक्षण के बारे में भी संशय की स्थिति बनी रहेगी। पाठ्य पुस्तक पर आधारित जानकारी देने के पूर्व शिक्षक को विषय-वस्तु के बारे में अन्य स्रोतों की जानकारी छात्रों को देनी चाहिए। सीखने में उपादेय एवं अनुपादेय छात्रों का ध्यान रखते हुए शिक्षक को वांछित व्यवहारों को स्थापित करना चाहिए एवं अवांछित व्यवहारों का कक्षा से निराकरण करना चाहिए।

3. शिक्षक के गुण :

सफल कक्षा-प्रबंध के लिए शिक्षक को निम्नलिखित गुणों से परिपूर्ण होना चाहिए—

- (1) व्यवहार कुशलता
- (2) स्थिरता एवं निष्पक्षता
- (3) निर्देशों एवं कार्यों में स्पष्टता
- (4) स्वीकारोक्ति एवं प्रशंसा तथा सम्मान करने का गुण
- (5) दृढ़ता तथा छात्रों की आवश्यकतानुसार लचीलापन

4. मॉडलिंग :

मॉडलिंग का अनुप्रयोग अच्छे कक्षा-प्रबंध के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जिस प्रकार एक शिक्षक का व्यवहार अन्य शिक्षकों के व्यवहार से प्रभावित होता है, उसी प्रकार छात्र शिक्षक के व्यवहार से प्रभावित होते हैं। उदाहरणार्थ-गलती करने पर एक विद्यार्थी को शिक्षक द्वारा नियंत्रित करने के प्रयास से अन्य विद्यार्थी भी प्रभावित होते हैं। छात्र कक्षा के भीतर आत्मसम्मान का अनुभव करते हैं और साथियों की उपस्थिति में शिक्षक की डाँट-फटकार मिलने की संभावना से बचे रहने का प्रयास करते हैं। जिस प्रकार अवांछित व्यवहार छूट की तरह फैलता है ठीक उसी प्रकार वांछित सामाजिक व्यवहार का भी विस्तार होता है। मॉडलिंग प्रक्रिया छात्र, शिक्षक तथा विषयवस्तु पर निर्भर करती है। कक्षा समूह के आपसी विश्वास एवं संबंधों का इस प्रक्रिया पर प्रभाव पड़ता है। कक्षा के वातावरण में निम्नलिखित बातें कक्षा-प्रबंध को प्रभावित करती हैं-

1. यदि छात्र अपने शिक्षक को एक कुशल सम्माननीय और संसाधनों युक्त व्यक्ति के रूप में देखते हैं तो शिक्षक के प्रभावी होने की अधिक संभावनाएँ होती हैं।
2. मॉडल के रूप में छात्रों के लिए शिक्षक का महत्वपूर्ण होना आवश्यक है।
3. छात्रों पर उन व्यक्तियों तथा मॉडलों का अधिक प्रभाव पड़ता है, जो उनकी समस्याओं और उनके निवारण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं तथा आस-पास के वातावरण को प्रभावित करते हैं।
4. छात्रों को अपने मॉडल के प्रति समरूपता की भावना मॉडल को अधिक प्रभावी बनाती हैं इस दृष्टि से छात्रों का आपस में पठन-पाठन प्रभावी होता है।
5. किसी विशेष व्यवहार के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में सफल होने पर मॉडल का प्रभाव स्थायी बनता है।

5. समस्यात्मक परिस्थितियाँ :

यह अत्यंत महत्वपूर्ण एवं याद रखने योग्य है कि कक्षा में किसी तरह का अभद्र व्यवहार तथा अनुशासनहीनता न हो। अवांछित व्यवहार को एक बार नज़रअंदाज़ करने से कक्षा का वातावरण तेज़ी से ख़राब होता है। यह अत्यंत आवश्यक है कि ग़लती करनेवाले छात्रों को परिस्थिति अनुसार ठीक रास्ते पर लाया जाए। किसी भी परिस्थिति से निपटते समय यह आवश्यक है कि शिक्षक किसी भी तरह के द्वंद्व में न फँसे। उसे हमेशा अपने पालक होने की स्थिति को कायम रखना चाहिए, तभी वह कक्षा-प्रबंध में सफल हो सकता है।

6. रोक-टोक करने वाले विद्यार्थी :

कुछ छात्र स्वभाव से नटखट होते हैं और शिक्षक एवं कक्षा का ध्यान बँटाने के लिए

बीच में बोलते हैं। कुछ बच्चे शिक्षक के पढ़ाते समय बीच-बीच में अनावश्यक प्रश्न आदि भी पूछते हैं। शिक्षक को इस परिस्थिति एवं ऐसे बच्चों को ठीक तरह समझना चाहिए। सामान्यतः इस तरह के बच्चे या तो प्रतियोगिता की भावना रखते हैं या फिर अपने को असुरक्षित महसूस करते हैं या फिर ऐसे परिवारों से आते हैं, जहाँ उन्हें बोलने का अवसर प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति में शिक्षक निम्न प्रकार से स्थिति पर काबू पा सकता है—

- क. शिक्षक स्पष्ट निर्देशन दे सकता है कि पढ़ाते समय रोक-टोक न की जाए तथा पाठ के अंत में ही प्रश्न पूछे जाएँ।
- ख. पाठ के बीच में शिक्षक, छात्र का नाम लेकर, छात्रों को निर्देश करके प्रश्न पूछ सकता है।
- ग. शिक्षक अधिक उत्साही छात्र को निर्देश दे सकता है कि पाठ के नोट्स विस्तार से बनाए तथा बाद में शिक्षक को दिखाए।

संदर्भ

1. मालती सारस्वत एवं एस० एल० सिंघल, भारत में शैक्षिक प्रणाली का विकास, आलोक प्रकाशन, लखनऊ, 2008
2. ए०के० सिंघल, सर्वशिक्षा अभियान की दशा एवं दिशा, स्वतंत्र लेख, योजना सितंबर, 2008
3. जे०सी० भट्टाचार्य, अध्यापक शिक्षा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 2008
4. विद्या अग्रवाल, शैक्षिक प्रशासन, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2004
5. डा० राजबली यादव, कक्षा-प्रबंध और उसकी समस्याएँ, नवजीवन प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008
6. भाटिया एवं भाटिया, द प्रिंसिपल्स एंड मेथड्स आफ टीचिंग।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य

विवेक विक्रम सिंह, शोध छात्र,
रक्षा एवं सैन्यविज्ञान विभाग, टी०डी० कालेज, जौनपुर
डॉ०एम०पी० सिंह, रीडर (अवकाश-प्राप्त) रक्षा एवं सैन्यविज्ञान विभाग,
टी०डी० कालेज, जौनपुर (उ०प्र०)

सामान्य रूप से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति-संबंधों के परिवर्तित होते हुए ढाँचों के अंतर्गत एक-दूसरे से टकराती हुई राजकीय नीतियों के रूप में देखा जाता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र शक्ति के माध्यम से अपने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का इस प्रकार समायोजन करने का प्रयत्न करता है कि उसे अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त हो सके। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में लाभ का तात्पर्य राष्ट्रीय हितों के संवर्द्धन से है। इस रूप में राष्ट्रीय हित परस्पर विरोधी होते हैं। अतः उनके बीच संघर्ष की संभावनाएँ निरंतर विद्यमान रहती हैं। इस संघर्ष की स्थिति में शांति स्थापित करना मानव-सभ्यता के प्रारंभ से ही एक प्रमुख समस्या रही है। मानव-स्वभाव में सहयोग, शांति एवं सुरक्षा की भावना आदिकाल से ही सार्वभौम मानवीय मूल्य रही है। शांति एवं सुरक्षा की स्थापना के उद्देश्य से मानव-समाज ने कभी संधियों एवं समझौतों को माध्यम बनाया तो कभी अंतर्राष्ट्रीय विधियों को मान्यता प्रदान की। परंतु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विवादमूलक प्रकृति तथा राष्ट्रों द्वारा अपनी राष्ट्रीय संप्रभुता को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किए जाने के कारण विश्व के देशों द्वारा इन संधियों एवं विधियों को अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया, जिसके परिणामस्वरूप सहमति, सहयोग एवं शांति के स्थान पर आपसी विद्वेष की भावना ने जन्म लिया। 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में स्वाधीन राष्ट्रों के आपसी संबंधों की व्याख्या 'शक्ति-संतुलन सिद्धांत' के आधार पर की गई तथा इसे अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए प्रमुख सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया गया। नार्मन डी० पामर एवं हार्वर्ड सी० पार्किन्स' ने इस सिद्धांत को अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के बुनियादी सिद्धांत के रूप में स्थापित किया है। शक्ति-संतुलन की अवधारणा के अंतर्गत राष्ट्र अपने हितों के परिप्रेक्ष्य में मैत्री संधियों को संपन्न करते हैं तथा इन संधियों को अपने राष्ट्रीय हितों के अनुरूप निरंतर परिवर्तित करते रहते हैं। 18वीं सदी में अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में प्रमुख शक्तियों की अधिकता के कारण इस काल को शक्ति-संतुलन का स्वर्ण कहा गया।¹ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति-संतुलन सिद्धांत का प्रारंभ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषकों द्वारा इस उद्देश्य से किया गया कि अन्य विज्ञानों की भाँति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का भी अपना विशिष्ट नियम होना चाहिए। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति-संतुलन-सिद्धांत का प्रारंभ अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की स्थापना के उद्देश्य से किया गया था, परंतु व्यवहार में इसने राष्ट्रों के बीच शस्त्र-प्रतिस्पर्धा प्रारंभ कर एक निरंतर चलने वाले शक्ति-संघर्ष को जन्म दिया।

अंतर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना में शक्ति-संतुलन-सिद्धांत की असफलता

ने 'सामूहिक सुरक्षा-सिद्धांत' के रूप में एक नए सिद्धांत को स्थापित किया। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा शक्ति के ऐसे वितरण का निर्देशन करती है, जिसके अंतर्गत शक्ति की प्रबलता शांति एवं व्यवस्था के संरक्षक राष्ट्रों के पक्ष में सुरक्षित रहती है। सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा इस मान्यता पर आधारित है कि यदि कोई राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र पर आक्रमण करता है तो अन्य सभी राष्ट्र मिलकर आक्रमणकारी का सामना करेंगे। इस रूप में यह सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के निर्माण का आधार प्रस्तुत करता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सामूहिक सुरक्षा-सिद्धांत का सर्वप्रथम प्रयोग 17वीं शताब्दी के 'वेस्टफीलिया की संधि' (1648) में किया गया। इसमें कहा गया था कि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों के बीच शांति-स्थापना के परिप्रेक्ष्य में संबद्ध सभी राष्ट्र सम्मिलित कार्यवाही करेंगे तथा आक्रांता राष्ट्र को आक्रमणकारी के विरुद्ध प्रत्येक संभव सहयोग एवं सहायता प्रदान करेंगे।³ 17वीं शताब्दी की ही 'आस्नाब्रक' की संधि के अनच्छेद 17 में भी कहा गया था कि 'संविदा करने वाले सभी और प्रत्येक पक्ष को इस शांति-संधि के प्रत्येक और समस्त रूपों में प्रतिरक्षा एवं अस्तित्व रक्षा के लिए उत्तरदायी माना जाएगा, चाहे इसके विरोध में प्रस्तुत होनेवाला कोई भी हो।'⁴ सन् 1713 में फ्राँसीसी दार्शनिक अबे डी०सेन्ट पीयरे ने समस्त राज्यों के लिए ऐसे गठबंधन की योजना प्रस्तुत की थी, जिसके माध्यम से इसके समस्त सदस्यों को क्षेत्रीय सुरक्षा की गारंटी दी जा सके तथा यदि कोई राष्ट्र इसके विरुद्ध चुनौती प्रस्तुत करे तो शस्त्र एवं शक्ति द्वारा उसे प्रतिबंधित किया जा सके।⁵ क्वेटर शांतिवादी संप्रदाय के विलियम पेन ने भी यूरोप में शांति एवं व्यवस्था को बनाए रखने के उद्देश्य से योजनाएँ प्रस्तुत की थीं।⁶ सन् 1805 में विलियम पिट का भी सुझाव था कि समस्त यूरोपीय शक्तियों को व्यापक शांति-भंग करने के किसी भी प्रयत्न के विरोध में नवीन यथापूर्व स्थिति का मिलकर समर्थन करना चाहिए।

फिर भी सामूहिक सुरक्षा-सिद्धांत को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बीसवीं सदी के प्रारंभ में ही वास्तविक व्यावहारिक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ की स्थापना ने इस सिद्धांत को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया। अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की स्थापना के उद्देश्य से प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् पेरिस शांति-सम्मेलन के माध्यम से, पराजित जर्मनी के साथ संपन्न, वर्साय की संधि के प्रावधानों के अंतर्गत स्थापित राष्ट्रसंघ अमेरिकी राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन के आदर्शवादी विचारों पर आधारित था। अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन प्रथम विश्वयुद्ध को 'युद्धांतक युद्ध' मानते थे तथा युद्ध की समाप्ति के पश्चात् एक ऐसे विश्व की रचना करना चाहते थे, जिसके अंतर्गत राष्ट्र आपसी विवादों का समाधान शांतिपूर्ण विधियों से राष्ट्रसंघ के प्रावधानों के अंतर्गत कर सकें।⁷ इस प्रकार प्रथम युद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ की स्थापना अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के उद्देश्य से किया गया एक विशिष्ट प्रयत्न था। राष्ट्रसंघ का विधान राष्ट्रों के बीच के समझौते का परिणाम था, जिसमें प्रस्तावना तथा 26 धाराएँ थीं। राष्ट्रसंघ की प्रस्तावना में इसके उद्देश्य निहित थे, जिसमें कहा गया था, कि 'हम उच्च समझौता करनेवाले पक्षकार अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की अभिवृद्धि एवं अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की प्राप्ति के उद्देश्य से इस दायित्व को स्वीकार करते हैं कि आपसी संबंधों में बल का प्रयोग नहीं करेंगे, राष्ट्रों के बीच विभिन्न देशों के बीच अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के संदर्भ में विश्वास उत्पन्न करेंगे, तथा आपस में की गई संधियों के प्रति सम्मान

प्रदर्शित करेंगे। इस उद्देश्य से हम राष्ट्रसंघ के इस विधान को मान्यता प्रदान करते हैं।¹⁸

यद्यपि राष्ट्रसंघ की स्थापना अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के इतिहास में एक नवीनतम एवं अनूठा प्रयास था, परंतु यह संस्था अपने निर्माताओं की आकांक्षाओं को पूर्ण नहीं कर सकी। 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रारंभ होना स्पष्ट प्रमाण था कि जिन उद्देश्यों की प्राप्ति-हेतु यह संस्था निर्मित की गई थी, उनकी प्राप्ति में पूर्णतः असफल रही। द्वितीय विश्वयुद्ध ने मार्शल फॉच की उस भविष्यवाणी को सत्य सिद्ध किया, जिसके अंतर्गत उन्होंने पेरिस शांति सम्मेलन की व्यवस्था को अगले बीस वर्षों के लिये विरामसंधि कहा था। द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ होने के साथ ही विश्वशांति के लिए प्रयत्नशील चिंतकों एवं विश्लेषकों ने एक बार पुनः स्थायी विश्वशांति की संभावनाओं पर चिंतन प्रारंभ कर दिया। राष्ट्रसंघ उनके समक्ष उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत था। वस्तुतः अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विश्लेषक राष्ट्र संघ की कमियों को दूर करते हुए एक प्रभावी विश्व-संस्था का निर्माण करना चाहते थे, जो स्थायी विश्वशांति की स्थापना में समर्थ हो तथा विश्व को युद्ध की विभीषिका से मुक्त रख सके।

राष्ट्रसंघ के ही समान संयुक्त राष्ट्रसंघ की संस्था भी एकाएक अस्तित्व में नहीं आई थी, बल्कि यह लंबे चिंतन का परिणाम थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के गठन में द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वरूप में आए व्यापक परिवर्तनों की भी विशिष्ट भूमिका थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप अत्यंत व्यापक हो चुका था। इसने वास्तविक रूप में अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य प्राप्त कर लिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तविक अर्थों में यूरोप केंद्रित थी। इस अवधि में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संपूर्ण स्वरूप का निर्धारण कुछ महत्वपूर्ण लोकतांत्रिक यूरोपीय राष्ट्रों के दृष्टिकोण के आधार पर ही किया गया। परंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात्, मुख्यतः ब्रिटिश साम्राज्य के पतन के कारण, बड़ी संख्या में नव स्वतंत्र राष्ट्रों के अभ्युदय ने न केवल अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को व्यापक स्वरूप प्रदान किया, बल्कि इसे लोकतांत्रिक भी बनाया।¹⁹ द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व तक राजनीतिक प्रक्रिया से संबद्ध व्यक्तियों की संख्या अल्प थी तथा इस प्रक्रिया का संचालन भी छोटे से विशिष्ट वर्ग द्वारा किया जाता था। परंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् राजनीतिक प्रक्रिया के प्रति सामान्य व्यक्ति की बढ़ती हुई सहभागिता ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को व्यापक एवं जटिल स्वरूप प्रदान किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् प्रौद्योगिकी, विशेषतः सैन्य प्रौद्योगिकी, ने भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप के निर्धारण को प्रभावित किया। सैन्य प्रौद्योगिकी के विकास के कारण नित्य-प्रति नए आयुधों का विकास होने लगा, जिसने सुरक्षा की अवधारणा को ही परिवर्तित कर दिया। भविष्य के युद्ध के अनिश्चित स्वरूप के भय ने विदेश नीति तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, दोनों के लिए जटिलताएँ उत्पन्न कीं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को प्रभावित करने वाले दो अन्य महत्वपूर्ण कारक-शांति के प्रति बढ़ती हुई राष्ट्रों की प्रतिबद्धता तथा इस उद्देश्य से अंतर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण भी है, जिसने विश्व के देशों को एक-दूसरे के काफ़ी नज़दीक ला दिया। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की परंपरागत अवधारणा के अंतर्गत शांतिपूर्ण विधियों को महत्व दिया जाता था, फिर भी बल-प्रयोग यह सोचे-बिना किया जाता था कि इससे शांति के लिए ख़तरा उत्पन्न होगा या नहीं। परंतु द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान परमाण्विक शक्ति के

प्रयोग ने युद्ध के संपूर्ण स्वरूप को परिवर्तित कर दिया। इसने युद्ध के क्षेत्र को भी अत्यधिक विस्तृत कर दिया। फलतः युद्ध से बचने तथा शांति-स्थापना के प्रयत्नों को प्रमुखता दी जाने लगी। परिवर्तित परिवेश में शांति-स्थापना के लिए, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों की अनिवार्यता महसूस की जाने लगी। इसने अंतर्राष्ट्रीय संगठन की संभावनाओं को परिलक्षित किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् के परिवर्तित अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में शांति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का लक्ष्य हो गया तथा अंतर्राष्ट्रीय संगठन इस लक्ष्य तक पहुँचने का संस्थागत साधन।¹⁰

यद्यपि 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' की संस्था 1945 के सैन फ्रैन्सिस्को सम्मेलन के माध्यम से अस्तित्व में आई थी, फिर भी इसके गठन की प्रक्रिया द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने के साथ ही प्रारंभ हो गई थी। सन् 1939 तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अधिकांश पर्यवेक्षक एवं विश्लेषक आश्वस्त हो चुके थे कि अंतर्राष्ट्रीय संगठन के अभाव में स्थायी विश्वशांति की स्थापना संभव नहीं है। अतः राष्ट्रसंघ की कमियों को दूर करते हुए एक प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण के प्रयत्न युद्ध प्रारंभ होने के साथ ही प्रारंभ हो गए थे। अमेरिकी विदेश-सचिव कर्डल हल ने लिखा था कि 'उसी क्षण, जबकि पोलैंड पर हिटलर के आक्रमण ने शांति क्रायम रखने के तत्कालीन समस्त संभावनाओं के दिवालियेपन को प्रदर्शित कर दिया, विदेश विभाग में हमें यह दृष्टिगोचर होने लगा कि एक नवीन अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का कार्य प्रारंभ कर देना चाहिए।'¹¹

संदर्भ

1. Norman D. Palmer and Howard C. Perkins: International Relations, Boston, 1953, P. 309
2. महेंद्रकुमार, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष, शिवलाल अग्रवाल एंड कंपनी, आगरा, 1976, पृ० 249
3. Schuman, F.L.: The Common wealth of Man. Newyork: Alfred A. Knopf. 1952, P. 353
4. Cited in George A. Finch: The Source of Modern International Law (Washington, D.C.: Carnegie Endowment for International Peace, 1937) P. 40
5. Schuman, Ibid P. 348
6. Kumar, Mahendra: The Social and Political philosophy of Quakers (Unpublished thesis, Lucknow University, 1963) P. 347-59. Cited in Kanpur Mahendra, Ibid P. 383
7. Robert E. Osgood: "Woodrow Wilson, Collective Security and the Lesson of History," Earl Latham, ed. The Philosophy and policies of woodrow wilion (chicago: university of chicago press, 1958), P. 189
8. Chakrabarti, Radharaman: UNO: A study in Essentials, K.P. Bagachi and Company, Calcutta, 1998., Appendix-1, P. 185
9. महेंद्रकुमार, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष, पृ० 15-16
10. John H. Herz: International Politics in the Atomic Age (Newyork, 1959) PP. 25-36 Cited in Kumar Mahendra Ibid P. 21
11. United States, Department of State Bulletin, vii (July 1942), P. 639.

महिला उद्यमिता एवं सामाजिक सुरक्षा

डॉ० मधुलिका तिवारी

रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एल०आर० पी०जी० कॉलेज, साहिबाबाद
गाजियाबाद (उ०प्र०)

प्राचीनकाल से ही महिलाएँ हमारे देश के विकास और उसकी प्रगति में अपना अमूल्य किंतु मूक योगदान देती रही हैं। विकास का प्रत्येक पक्ष चाहे शिक्षा हो या संस्कृति, विज्ञान हो या ललित कला, व्यवसाय हो या कृषि, भारतीय महिलाओं ने उसे समुन्नत करने तथा उसे उन्नति के शिखर पर पहुँचाने में अपनी सराहनीय भूमिका निभाई है।

समाज के निर्माण में महिला एवं पुरुष समान भूमिका का निर्वाह करते हैं। कोई भी देश एक को नकारकर, दूसरे को स्वीकारकर विकसित नहीं हो सकता। इस परिवर्तनशील समाज में जहाँ एक ओर विकास की प्रक्रिया दृष्टिगोचर हो रही है, वहीं किसी कोने में कुछ व्यवधान भी दिखाई देते रहे हैं। मनुष्य ने आज जितनी भौतिक उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, वे स्त्री या पुरुष में से किसी एक की ही नहीं हैं, वरन इसमें इन दोनों का समतुल्य योगदान रहा है।¹

यूरोप में होनेवाली औद्योगिक क्रांति का कुछ प्रभाव भारत में भी पड़ा था। यहाँ पर भी छोटे पैमाने पर औद्योगीकरण की शुरुआत की गयी, और धीरे-धीरे यहाँ नए उद्योगधंधों का प्रसार होने लगा, जिसके साथ-साथ उत्पादनवृद्धि और सस्ते व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध श्रम की आवश्यकता भी अनुभव की गई। परिणामस्वरूप तत्कालीन निम्न वर्ग की स्त्रियों ने औद्योगिक संस्थानों में कार्य करना प्रारंभ कर दिया। लेकिन श्रमजीवी महिलाओं के उदाहरण हमें प्राचीन भारतीय समाज में भी मिलते हैं।

प्राचीनकाल में महिलाओं को कपड़ा रँगने, काढ़ने, टोकरी बनाने इत्यादि उद्योगों में मजदूरी पर लगाया जाता था।² मोहन जोदड़ो व हड़प्पा के अवशेषों में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि उस काल में स्त्रियाँ सूत कातने व कपड़ा बुनने का कार्य करती थीं। तब पुरुष मिट्टी के बर्तन बनाते थे और स्त्रियाँ उन पर चित्रकारी का कार्य करती थीं। मध्यकाल में आते-आते यद्यपि महिलाओं की स्थिति में गिरावट आ गई थी, परंतु हमें मध्यकाल में भी महिला श्रमजीवी के उदाहरण मिलते हैं। वर्तमानकाल में वैसे तो देश की अर्थव्यवस्था के लगभग प्रत्येकक्षेत्र में स्त्री उद्यमी हैं, किंतु उनकी संख्या सबसे अधिक चाय, रबर के बगीचों, कारखानों इत्यादि में है।³

प्राचीनकाल में स्त्रियों को इस बात की स्वतंत्रता थी कि वे श्रमसाध्य कार्यों में से कुछ अपने घर पर ही कर सकती थीं। इसमें वे अपने कार्य के समय अपने बच्चों व घर की

देखभाल भी कर सकती थीं। उस समय में स्त्री-श्रमिकों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। सेवायोजकों से उनके संबंध अच्छे रहते थे, तथा उनके अस्तित्व एवं न्यायोचित हितों की पूर्ण रक्षा की जाती थी।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारत में स्त्री-श्रमिकों को अनेक सुविधाएँ एवं सुरक्षा प्रदान की गई, संविधान के नीति-निर्देशक तत्त्वों में औद्योगिक नीतियों का निर्धारण करते समय यह ध्यान रखा गया कि स्त्री और पुरुष को समान रूप से जीविकोपार्जन करने का अधिकार प्राप्त हो तथा दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले, तथा स्त्री-श्रमिकों का अनुचित शोषण नहीं किया जाए तथा उनकी सुरक्षा की व्यवस्था की जाए।⁴

बदलती हुई आर्थिक स्थिति के कारण नारियों की शिक्षा, नौकरी की दशा में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। परिवार की आर्थिक स्थिति कमज़ोर होने पर अथवा आत्मनिर्भर और सामर्थ बनने के लिए नारी को घर-परिवार की चारदीवारी लौंघकर बाहर की दुनिया में जाना पड़ता है। कामकाजी महिलाएँ शिक्षित और अशिक्षित दोनों होती हैं। उन्हें घर-बाहर दोनों की जिम्मेदारी निभानी पड़ती है। कामकाजी महिलाओं को कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उन्हें अपने बच्चों व परिवार को भी देखना पड़ता है तथा गृहस्थी के साथ-साथ अपने कार्यालय के कार्य का भी बोझ सहना पड़ता है, जिससे उन्हें मानसिक तनाव को झेलना पड़ता है। कारखानों में मजदूरी करनेवाली कामकाजी महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय होती है। इन्हें कारखाने से आकर घर का भी सभी कार्य करना पड़ता है, जिससे थकावट हाने के कारण ये चिड़चिड़ी हो जाती हैं, जिससे परिवार में कई बार तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।⁵

श्रमिक महिलाओं के कार्य करने की दशा में जब पति-पत्नी दोनों घर से बाहर रहते हैं, तो बच्चे प्रेम, सुरक्षा और मार्ग-दर्शन आदि से वंचित हो जाते हैं तथा बिगड़ जाते हैं।

हमारे देश में नारी की क्षमताएँ और उसकी प्रतिभा उस समय से अधिक उजागर हुई जब राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे समाजसेवी नेताओं ने अपने सुधार-आंदोलनों में नारीशिक्षा व उत्थान को प्रमुख स्थान दिया। इनकी प्रेरणा से ही 1870-80 के बीच प्रथम महिला स्नातक बनी और 1882 ई० में प्रथम महिला कानूनी शिक्षा के लिए ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय गयी, तथा 1883 ई० में प्रथम महिला डॉक्टरी की पढ़ाई पढ़ने के लिए विदेश गई।⁶ शिक्षा के अतिरिक्त राजनीति के क्षेत्र में भी महिलाओं की भागीदारी सक्रिय रही है। 73वें व 74वें संविधान-संशोधन के साथ नारी को पुरुष से कहीं ज्यादा अधिकार, शिक्षा, रोजगार एवं राजनीति के क्षेत्र में प्रदान किए गए हैं। हमारी सरकार नारी-उत्थान के लिए जागरूक है। आज की भारतीय नारी सभी क्षेत्र में, चाहे वह प्रशासनिक क्षेत्र हो अथवा निजी क्षेत्र, अपनी अग्रणी भूमिका निभा रही है। यूनिसेफ़ द्वारा भी नारी-उत्थान तथा उसकी सुरक्षा के लिए अनेक कार्यक्रम प्रतिपादित किए जा रहे हैं और भविष्य में यह आशा भी की जाती है कि वह दिन दूर नहीं, जब भारतीय नारी पुरुष के समान स्तर को प्राप्त कर राष्ट्र-विकास की मुख्य धारा में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सकेगी।⁷

महिलाओं का आर्थिक कार्यों में योगदान बढ़ाने, कार्यशील बनाने और उत्पादक व्यक्ति के रूप में राष्ट्र की आर्थिक मुख्यधारा से जोड़ने के लिए, प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश और कुटीर उद्योगों की स्थापना के लिए आसान किस्तों पर ऋण तथा सुविधाएँ उपलब्ध करायी

जा रही हैं, जिससे आज के मशीनीकरण के दौर में महिलाएँ आगे आ सकें तथा आर्थिक रूप से मजबूत होकर पुरुष-प्रधान समाज में अपनी स्थिति को मजबूत करते हुए अपने परिवार का स्तर ऊँचा उठा सकें, इसी कारण आज महिला घर की चारदीवारी लांघकर बढ़े आत्म-विश्वास के साथ समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिलाकर अगे बढ़ रही है। आज स्त्री अपनी हिम्मत, मेहनत व संघर्ष से प्रत्येक क्षेत्र में अपना वर्चस्व बना रही है, आज वह देवी की तरह अपनी पूजा नहीं करवाना चाहती, वह समाज में अपना स्थान बनाना चाहती है।⁸

स्वतंत्रता के 61-62 वर्षों के बाद भी स्त्रियों में आपेक्षित सुधार नहीं हो सका। यद्यपि उनकी स्थिति सुधारने के अनेक प्रयास किए जा रहे हैं, फिर भी समुचित सुधार की आवश्यकता है। इतनी जागरूकता होने के फलस्वरूप भी महिलाओं की सुरक्षा में कमी आई है। आँकड़ों के अनुसार देश-भर में पिछले 5-7 वर्षों में महिलाओं के ख़िलाफ़ होनेवाले अपराधों में 40 से 45 प्रतिशत तक वृद्धि हुई है। महिलाओं के प्रति होने वाले अपराधों का मुख्य कारण है, समाज में विकसित हो रही उपभोक्तावादी संस्कृति और संचार-माध्यमों, विशेषकर दूरदर्शन, फ़िल्मों तथा विदेशी चैनलों द्वारा दिखाई जा रही नारी की विकृत छवि।⁹

पुरुष उत्पीड़न के लिए उन नागरिकों व परिस्थितियों को दूढ़ता रहा है, जहाँ उसे प्रतिरोध व प्रतिहिंसा का सामना न करना पड़े। पुरुष अपने पद व प्रतिष्ठा का लाभ उठाकर नारी को सदैव अपमानित व उत्पीड़ित करता रहता है; परंतु समाज में बहुत कम ऐसी नारियाँ हैं जिन्होंने इस उत्पीड़न के विरुद्ध, पुरुषों के विरुद्ध आवाज़ उठायी और पुरुषों को सबक सिखाया, वरना तो बदनामी व रोज़गार छूटने के डर से महिलाएँ इन अपराधी पुरुषों को भविष्य में अपराध करने के लिए बढ़ावा देती रही हैं। व्यवसाय के प्रत्येक क्षेत्र में अक्सर इस तरह की ख़बरें सुनने को मिलती हैं कि सफलता की सीढ़ी चढ़ने के लिए उस क्षेत्र के प्रधान पुरुष को खुश करना भी आवश्यक योग्यताओं में से एक है। आज के कामकाजी समाज में हज़ारों लाखों की संख्या में महिलायें हैं, जिनको आये-दिन कार्य-क्षेत्रों में नियोजकों, सहयोगियों में अजनबी साथियों के साथ कितने ही यौन-संबंधी भयावह अनुभवों के बीच से गुज़रना पड़ता है लेकिन नारी की विवशता बदनामी के भय के तले दब कर रह जाती है और उन्हें न्याय नहीं मिल पाता, जिससे अपराधी पुरुषों को बल मिलता है। नारी डरती है कि मामला ज़्यादा आगे बढ़ जाएगा, परिवार की निंदा होगी इत्यादि। इस प्रकार नारी अपने परिवार को सुरक्षित रखने के लिए दुष्चरित्र पुरुषों की रक्षा करती है और दोष मिलता है स्त्री को।¹¹

इस पुरुष-प्रधान समाज में नारी भी पुरुषों से सुरक्षा व संरक्षण की अपेक्षा करती रही है। जहाँ तक सुरक्षा का प्रश्न है, अख़बार में नित्य-प्रति छपनेवाली घटनाएँ इस सच को उजागर करती हैं, साथ ही राष्ट्रीय महिला आयोग की रिपोर्ट में अंकित किया गया है कि महिलाओं की त्रासदी तो यह है, वह घर से बाहर ही नहीं, अपितु घर के अंदर भी सुरक्षित नहीं हैं। हमारी सरकार ने महिलाओं की सुरक्षा के लिए अनेक क़ानून बनाए हैं जैसे एक ही तरह के काम के लिए स्त्री-पुरुषों को एक-जैसा वेतन दिलाया जाना, जिस काम पर पुरुषों को भर्ती किया जाए, उस काम पर स्त्रियों को भी भर्ती होने का हक़ है, अगर वह उस काम के काबिल है, काम पर लगाने वाला व्यक्ति (मालिक) किसी भी महिला कर्मचारी से वेतन

में, भर्ती में, बढ़ोतरी में, बदली में भेदभाव नहीं कर सकता, यदि कोई भी व्यक्ति आपको इसलिए काम कर लगाने से इंकार करता है कि आप महिला हैं तो उस व्यक्ति को सजा हो सकती है।¹²

फैक्ट्री में काम करनेवाली महिलाओं के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ भी निश्चित की गयी हैं।

महिलाओं से एक निश्चित वजन से ज्यादा वजन नहीं उठवाया जा सकता।

महिलाओं से किसी चलती मशीन को साफ़ करवाना या तेल लगवाना मना है। महिलाओं से एक सप्ताह में 48 घंटों से ज्यादा काम नहीं लिया जा सकता, फैक्ट्री में ओवर टाइम काम नहीं लिया जा सकता है।

सप्ताह में एक दिन अवकाश अवश्य मिलना चाहिए। महिलाओं से पाँच घंटों से अधिक लगातार काम नहीं करवाया जा सकता। प्रसूति सुविधा अधिनियम 1961 ई० के अंतर्गत महिलाओं को विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं।¹³

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् महिलाओं को उत्पीड़न से मुक्त कराने के लिए हमारे संविधान में अनेक संवैधानिक एवं कानूनी व्यवस्थाएँ करायी गयी हैं, लेकिन उनके उचित क्रियान्वयन का अभाव है। जैसे हमारे देश की न्यायिक प्रक्रिया पूर्णतः साक्ष्यों पर आधारित है और साक्ष्यों के अभाव में अधिकतर अमानुषिक कार्य करने वाले दोषी मुक्त हो जाते हैं तथा न्यायिक प्रक्रिया के दौर में महिलाओं से बहुत अश्लील प्रश्न पूछे जाते हैं, जिससे महिलाओं का सामाजिक अपमान होता है तथा अपराध करनेवाले पुरुष खुले रूप में घूमते रहते हैं तथा शिकारग्रस्त महिला अपमानित जीवन व्यतीत करती हैं तथा समाज में उनके परिवार की भी बहुत बदनामी होती है।¹⁴

इस प्रकार ये संवैधानिक प्रयास महिलाओं के समग्र विकास व सुरक्षा का साधन नहीं हैं उनकी सुरक्षा के लिए आवश्यक है महिलाओं में चेतना एवं सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन। महिलाओं की सामाजिक सुरक्षा के लिए कुछ उपाय किए जा सकते हैं जैसे नारी पर होने वाले अपराधों के दोषियों को कड़ी सजा दी जाए तथा पीड़ित स्त्री को न्याय मिलने में विलंब न हो। मुकदमों की सुनवाई तुरंत की जाए।

महिला थानों को खोला जाए उसमें महिलाएँ अपने ऊपर होने वाली आपराधिक कार्यवाही के विरुद्ध रिपोर्ट लिखवाकर न्याय की माँग कर सकें। बलात्कार के मुकदमों की सुनवाई तथा निर्णय महिला-अधिकारियों द्वारा की जाए।¹⁵

राष्ट्रीय महिला आयोग द्वारा नारी-उत्पीड़न को रोकने के लिए सुझाए गए उपायों को तुरंत स्वीकृति प्रदान की जाए तथा सरकार क्रियान्वयन की व्यवस्था करे। संचार-माध्यमों द्वारा महिलाओं के विकृत प्रदर्शन पर प्रतिबंध लगाया जाए, सुविचारित महिला-नीति का निर्णय किया जाए। महिलाओं की आर्थिक व सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए गैर-सरकारी संगठनों का विस्तार किया जाए, महिलाओं की सामाजिक सुरक्षाके लिए महिला-आरक्षण विधेयक शीघ्र स्वीकृत किया जाना चाहिए, क्योंकि आज नारी की स्थिति को सुरक्षित एवं सम्मानित करने के लिए उसे शिक्षित करना अति आवश्यक है। अतः स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाए।¹⁶

नारी की सामाजिक व आर्थिक स्थिति सुधारने तथा उसे समाज में सम्मानित व भयमुक्त तथा शोषण-मुक्त जीवन प्रदान करने के लिए आवश्यकता एक ऐसे स्त्री-उन्मुख राष्ट्रीय कार्यक्रम की है, जिसके अंतर्गत सही अर्थों में नारी की प्रगति के प्रयास हों। हमें नारी के लिए उसकी समस्याओं और पीड़ाओं से संदर्भित शिक्षा-व्यवस्था तैयार करनी होगी, उसके लिये घर, खेत, सड़क, खदान व कारखानों में उचित मजदूरी का पाठ्यक्रम, देह-शोषण के विरुद्ध विरोध का पाठ्यक्रम, दहेज-उत्पीड़न के दण्ड का पाठ्यक्रम और सामाजिक निरंकुशता के प्रतिरोध का पाठ्यक्रम बनाना होगा। आज नारी को संघर्ष की साक्षरता की आवश्यकता है, उसे स्वाभिमान वर्णमाला की आवश्यकता है उसे आत्मबल एवं साहस की शब्दावली की आवश्यकता है तभी वह अपने लिए समाज में एक सम्माननीय स्थान बना सकती है और राष्ट्र के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान दे सकती है।

संदर्भ

1. डॉ० मीनाक्षी व्यास, नारी-चेतना और सामाजिक विधान, रोशनी पब्लिकेशन 110/138 बी जवाहरनगर, कानपुर (2008) पृ० 4-5
2. पदमिनी सेनगुप्ता, वुमैन बर्कर्स ऑफ इंडिया, एशिया पब्लिकेशन हाउस, मुंबई 1960 पृ० 2
3. वही, पृ० 5
4. प्रकाशनारायण नाटाणी, महिला जागृति और कानून, आविष्कार पब्लिशर्स, व्यास बिल्डिंग, चौड़ा रास्ता, जयपुर (2002), पृ० 26
5. डॉ० दुर्गा परमार, श्रमजीवी महिलाएं और समकालीन पारिवारिक संगठन, साहित्य भवन प्रा० लि० के० पी० कक्कड़ रोड, इलाहाबाद (1982), पृ० 28-30
6. ज्ञानेंद्र रावत, औरत : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, विश्वभारती पब्लिकेशंस, 4378/4बी अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली
7. प्रज्ञा शर्मा, महिला विकास और सशक्तिकरण, पोइंटर पब्लिशर्स, जयपुर (2001) पृ० 49-50
8. वही, पृ० 20-23
9. सुधारानी श्रीवास्तव, महिलाओं के प्रति अपराध, कॉमनवेल्थ पब्लिशर्स, (1999) नई दिल्ली
10. डॉ० मीनाक्षी व्यास, नारी-चेतना और सामाजिक विधान पृ० 68
11. प्रकाशनारायण नाटाणी, महिला जागृति और कानून, पृ० 21-22
12. डॉ० हरिदास रामजी शेण्डे 'सुदर्शन', नारी-उत्पीड़न : समस्या एवं समाधान, ग्रंथ विकास सी-37, बर्फखाना, राजा पार्क, जयपुर (2007), पृ० 138-139
14. डॉ० आर०पी० तिवारी एवं डॉ० डी०पी० शुक्ला, भारतीय नारी, वर्तमान समस्याएँ और भावी समाधान, ए०पी०एच० पब्लिशिंग कारपोरेशन, 5 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली (1999), पृ० 45-46
15. वही, पृ० 179-182
16. प्रकाशनारायण नाटाणी, महिला जागृति और कानून, पृ० 106-107

डिण्डौरी ज़िले के पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्षों की शैक्षणिक योग्यता का अध्ययन

डॉ० श्रीमती कुमुद दुबे
व्याख्याता, शासकीय शिक्षा महाविद्यालय
जबलपुर (म.प्र.)

डिण्डौरी ज़िला एक आदिवासी-बहुल क्षेत्र है, जो जबलपुर, बालाघाट और छिंदवाड़ा ज़िलों से घिरा हुआ है। यहाँ मुख्य रूप से गोड़, बैगा, प्रधान, जनजातियाँ निवास करती हैं। नर्मदा नदी की घाटी एवं सघन वनों से घिरा हुआ है, प्रकृति की नैसर्गिक छटा यहाँ पर पग पग पर बिखरती है।

आदिवासी क्षेत्र विज्ञान की आधुनिक उपलब्धियों से सर्वथा अछूते, संस्कृति के वर्तमान स्वरूप से सर्वथा अपरिचित, कृषि उद्योग-धंधों, शिक्षा आदि से सर्वथा अछूते आदिमानव से कुछ विकसित जीवन जीते रहे हैं। मध्यप्रदेश का काफी बड़ा क्षेत्र आदिवासियों से बसा हुआ है। इनकी अनेक जातियाँ और अनेक बोलियाँ हैं। प्रत्येक जाति की अपनी विशेषताएँ और प्रत्येक बोली के अपने अलग-अलग लहजे और शब्दावली है। भौगोलिक दृष्टि से पास रहते हुए भी भाषा और रीति-रिवाजों की दृष्टि से ये जातियाँ परस्पर काफी दूर हैं। यदि इनमें कोई साम्य है, तो वह है अशिक्षा, गरीबी, नवीन सभ्यता से भय, अर्धनग्नता और प्राकृतिक साधनों पर गुज़ारा करने की प्रवृत्ति। इतना होने पर भी इन जातियों में हमारे लिए कुछ आकर्षण है, इनमें प्रमुख हैं— जीवन की सरलता, सच्चाई, ईमानदारी और मानस ग्रंथि हीनता, खुली उन्मुक्तता है। इनकी सरलता का लाभ उठाकर पास-पड़ोस के सभ्यजनों ने इनका खूब शोषण किया है। वर्षों से वे लोग सुसंस्कृत कहे जानेवाले समाज के अत्याचारों का शिकार बनते रहे।

‘प्राथमिक शिक्षा की प्रगति समूचे देश की सामान्य, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रगति की सूचक है।’ जे०पी० नायक

शोधकर्ता ने राज्य शिक्षा केंद्र भोपाल द्वारा लघु शोधकार्य सर्वशिक्षा अभियान के विभिन्न घटकों के संचालन में पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्षों की शैक्षणिक योग्यता का अध्ययन किया है।

सर्वशिक्षा अभियान के अंतर्गत सरकार प्रारंभिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दे रही है, और शिक्षा पर विभिन्न प्रकार की योजनाओं को संचालित भी कर रही है, ताकि 6 वर्ष से 14 वर्ष तक का कोई बच्चा शिक्षा से वंचित न हो, लेकिन शासन के सारे प्रयासों के बावजूद इन योजनाओं के संचालन में आशातीत सफलता नहीं मिल रही है, इसलिए शासन ने एक

अभिनव प्रयोग के रूप में पालक-शिक्षक संघ का गठन किया है, ताकि समाज के सभी वर्गों को शिक्षा से जोड़ा जाए एवं उन्हें शिक्षा के प्रति जाग्रत किया जाए। सभी अभिभावक अपने-अपने बच्चों को विद्यालय में प्रवेश दिला सकें, और अपने दायित्व को समझ सकें।

डिण्डौरी ज़िले के सभी विकासखण्डों का चयन किया गया है। इन विकासखंडों में से कुल प्राथमिक व माध्यमिक शालाओं की संख्या का लगभग 5 से 7 प्रतिशत निदर्श लिया गया है, अर्थात् कुल 107 स्कूलों के पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्षों का चयन किया गया है।

विकास खंड बार कुल शासकीय प्राथमिक व माध्यमिक विद्यालयों की संख्या तक चयनित विद्यालय की संख्या (वर्ष 2007 के अनुसार)

विकासखंड	प्राथमिक वि. की संख्या	माध्यमिक वि. की संख्या	चयनित विद्यालयों की संख्या	प्रतिशत
अमरपुर	179	33	15	7.1
बजाग	168	36	13	6.4
समनापुर	190	32	13	5.9
डिण्डौरी	277	53	20	6.1
करंजिया	180	38	11	5.1
मेहदवानी	182	40	22	9.9
शहपुरा	200	56	13	5.1
योग	1376	288	107	6.5

अध्ययन के लिए समस्या का चयन कर लेने के पश्चात् यह निर्धारित करना आवश्यक हो जाता है कि किस शोध-प्रारूप का चुनाव किया जाए, जिससे अध्ययन-कार्य सुगमतापूर्वक हो सके। इसलिए वर्तमान अध्ययन की प्रकृति वर्णनात्मक एवं निदानात्मक है। 'सर्वशिक्षा अभियान के विभिन्न घटकों में पालक-शिक्षक संघ अध्यक्षों की शैक्षणिक योग्यता का अध्ययन' के प्रभावों की चुनौती का पता लगाना वर्तमान अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है।

पालक शिक्षक संघ के अध्यक्षों की शैक्षणिक योग्यता

विकासखंड	प्राथमरी		माध्यमिक		हाईस्कूल		हा. सेकेंडरी		स्नातक		स्नातकात्तर		योग
	संख्या	%	संख्या	%	संख्या	%	संख्या	%	संख्या	%	संख्या	%	
अमरपुर (N=15)	5	33.3	3	20.0	5	33.3	2	13.3	0	0	0	0	15
बजाग (N=13)	3	23.1	5	38.5	3	23.1	2	15.4	0	0	0	0	13
डिण्डौरी (N=20)	9	45.0	5	25.0	5	25.0	1	5.0	0	0	0	0	20
करजिया (N=11)	0	0.0	5	45.5	1	9.1	4	36.4	0	0	1	9.091	11
मेहदवानी (N=22)	14	63.6	8	36.4	0	0	0	0	0	0	0	0	22
समनापुर (N=13)	7	53.8	2	15.4	2	15.4	1	7.7	1	7.692	0	0	13
शहपुरा (N=13)	6	46.2	3	23.1	3	23.1	1	7.7	0	0	0	0	13
योग (N=107)	44	41.1	31	29.0	19	17.8	11	10.3	1	0.935	1	0.935	107

उपर्युक्त सारणी के आधार पर पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्षों की शैक्षणिक योग्यता ज्ञात करने का प्रयास किया गया, जिनमें अमरपुर विकासखंड के 33.3 प्रतिशत उत्तरदाता प्रायमरी, 20 प्रतिशत माध्यमिक स्तर, 33.3 प्रतिशत हाईस्कूल तथा 13.3 प्रतिशत हायर सेकेंडरी तक शिक्षित हैं। बजाग विकासखंड के 23.1 प्रतिशत उत्तरदाता प्रायमरी, 38.5 प्रतिशत माध्यमिक स्तर, 23.1 प्रतिशत हाईस्कूल तथा 15.4 प्रतिशत हायर सेकेंडरी तक शिक्षित हैं। डिण्डौरी विकासखंड के 45 प्रतिशत उत्तरदाता प्रायमरी, 25 प्रतिशत माध्यमिक स्तर तथा इतने ही प्रतिशत हाईस्कूल तथा 5 प्रतिशत हायर सेकेंडरी तक शिक्षित हैं। करंजिया विकासखंड के 45.5 प्रतिशत माध्यमिक स्तर, 9.1 प्रतिशत हाईस्कूल, 36.4 प्रतिशत हायर सेकेंडरी तथा 9.09 प्रतिशत स्नातकोत्तर तक शिक्षित हैं। मेहदवानी विकासखंड के 63.6 प्रतिशत अध्यक्ष प्रायमरी, 36.4 प्रतिशत माध्यमिक स्तर तक शिक्षा प्राप्त हैं। समनापुर विकासखंड के 53.8 प्रतिशत प्रायमरी, 15.4 प्रतिशत माध्यमिक स्तर व इतने ही प्रतिशत हाईस्कूल, 7.7 प्रतिशत हायर सेकेंडरी तथा 7.69 प्रतिशत उत्तरदाता स्नातक स्तर तक शिक्षा प्राप्त किए हुए हैं। इसी प्रकार शहपुरा विकासखंड के 46.2 प्रतिशत अध्यक्ष प्रायमरी, 23.1 प्रतिशत माध्यमिक स्तर व इतने ही प्रतिशत हाईस्कूल तथा मात्र 7.7 प्रतिशत हायर सेकेंडरी तक शिक्षा प्राप्त किए हुए हैं।

अतः सारणी के विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि सर्वाधिक अध्यक्ष प्रायमरी स्तर तक शिक्षा प्राप्त किए हुए हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में शोधार्थी ने सर्वशिक्षा अभियान के विभिन्न घटकों के संचालन में पालक-शिक्षक संघ की भूमिका एवं उसकी क्रियाशीलता का अध्ययन, डिण्डौरी जिले के प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों के संदर्भ में किया है। शोधकार्य के दौरान प्राप्त आँकड़ों के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है—

प्राप्त आँकड़ों के विश्लेषण से यह विदित हुआ है कि आदिवासी क्षेत्रों में संचालित विद्यालयों में पालक-शिक्षक संघ के अधिकतर अध्यक्ष मात्र प्राथमिक स्तर तक ही शिक्षा प्राप्त किए हैं। माध्यमिक स्तर तक शिक्षा प्राप्त करने वाले 29 प्रतिशत पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्ष हैं। चयनित विद्यालयों में से मात्र 2 पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्ष की शैक्षणिक स्थिति स्नातक तथा स्नातकोत्तर पाई गई है। इस प्रकार पालक-शिक्षक संघ से दृष्टिगोचर हुआ है, जो पालक-शिक्षक संघ की क्रियात्मक स्थिति को प्रभावित करता है और शिक्षा के लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग में बाधक की भाँति है।

उपर्युक्त समस्त निष्कर्षों पर दृष्टि डालने पर यह विदित होता है कि अधिकतर पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्ष अशिक्षित एवं निर्धन हैं और उनका अधिकतर ध्यान रोजगार की तलाश तथा परिवार की समस्या की ओर लगा रहता है, जिसके कारण पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्ष अपने अधिकारों तथा अपने कर्तव्यों के निर्वाह में उदासीन पाए गए हैं।

बच्चों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने हेतु उनके प्राप्त अभिमतों से यह विदित होता है कि उचित मार्गदर्शन के मार्ग में पालक-शिक्षक संघ का अल्पशिक्षित दृष्टिकोण बाधक है, जिससे बच्चों को शिक्षा के प्रति जागरूक करने में उनकी भूमिका उदासीन पाई गई। इन सभी तथ्यों पर ध्यान दिया जाए तो निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अपव्यय

एवं अवरोधन को कम करने की प्रवृत्ति निश्चित रूप से प्रभावी होगी। इस प्रकार आदिवासी क्षेत्रों में पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्षों की चयन-प्रक्रिया पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है।

शोधार्थी ने जो एक लंबे समय से शिक्षा-जगत् से जुड़ा हुआ है, अपने अनुभव तथा अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर जो सुझाव प्रस्तुत किए हैं, वे निम्नानुसार हैं—

सुझाव

- आदिवासी क्षेत्रों के विद्यालयों में पालक-शिक्षक संघ की गठन-प्रक्रिया पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है।
- आदिवासी क्षेत्रों के विद्यालयों में पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्षों (जिनकी आर्थिक स्थिति दयनीय है) को विद्यालयों की मासिक बैठकों में उपस्थित होने पर उसे अर्थ-लाभ प्रदान करने के प्रावधान पर विचार करना उचित होगा, क्योंकि विद्यालयों की बैठकों में उपस्थित होने पर उन्हें मजदूरी से वंचित रहना पड़ता है, जो उनके लिए अति आवश्यक है, जिससे वे पालक-शिक्षक संघ की बैठकों में उपस्थित नहीं हो पाते हैं।
- पालक-शिक्षक संघ के अध्यक्षों को बच्चों की स्कूल उपस्थिति पर भी ध्यान देना चाहिए ताकि विद्यालयों में बच्चों की उपस्थिति प्रतिशत में वृद्धि हो सके।
- 'किसी भी राष्ट्र की प्रगति का निर्माण विधानसभाओं, न्यायालयों और फैक्ट्रियों में नहीं वरन् विद्यालयों में होता है।'—एस० बालकृष्ण जोशी

□ 768 नार्थ सिविल लाइन
पी०एस०एम० कैम्पस
जबलपुर (म०प्र०)
मो० 9424925634
फ़ोन 0761-2628219



बचपन की सतरंगी छवियाँ : जादूगर बादल

डॉ० शकुंतला कालरा

ऐसोसियेट, प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

‘बचपन निर्मल ओस है, दूधिया चाँदनी है और एक तितली। बचपन के इतने बेशुमार रंग हैं कि इनके सामने इंद्रधनुष भी फीका। बचपन रहता है तो एक-एक रंग दमकता है, जब छूटता है, तो हर रंग याद आता है। तुम मेरे बीते बचपन के रंग हो। बचपन के इन्हीं रंगों में डूबकर तुम्हारे जैसे भोलेपन के साथ मैंने ये कविताएँ सचमुच तुम्हारे लिए लिखी हैं।’ आत्मकथ्य में कवि का कथन इस बात की पुष्टि करता है कि प्रस्तुत संकलन बचपन की सतरंगी छवियाँ हैं। श्री शलभ जी की भूमिका भी यही कहती है— ‘सचमुच कवि बचपन में उतरा है, उसे जिया है, तब जाकर लिखा है।’ बच्चे के मन और इच्छा संसार को आत्मसात कर लिखी जाने वाली ये कविताएँ उल्लास, उत्साह और ताजगी से भरपूर हैं।

‘जादूगर बादल’ में कुल 29 कविताएँ हैं। संकलन की कुछ विशिष्ट कविताएँ भृंग जी की बाल-कविता के आस्वाद और बुनावट से परिचित कराती हैं। इनमें ग़ज़ब की चुस्ती-फुर्ती है। पारंपरिक राह पर चलते हुए भी वे लीक से हटकर चलती हैं। छुट्टियाँ हर बच्चे की कमज़ोरी हैं। पढ़ाई के तनाव से मुक्त होकर वह कुछ अलग चाहता है। अपने संगी-साथियों के साथ अथवा परिवार के साथ मौज-मस्ती करना चाहता है या बाहर जाकर सैर-सपाटा, दादी के साथ छुट्टियाँ मनाना चाहता है, वह भी तीर्थ में संयुक्त परिवार के प्रेम-सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में पलता-बढ़ता। भृंग जी का बच्चा यह तो चाहता ही है, लेकिन अपनी संस्कृति के प्रतीक तीर्थ-स्थान देखना चाहता है और वह अभी अपनी दादी के साथ। उड़न खटोले में घूमना बच्चों को भाता है तो हर की पौड़ी पर नहाना दादी के भक्ति-भाव का सूचक है। दोनों में ही बालक की उत्साहमयी प्रसन्नता को उभारा गया है। दादी के साथ बच्चे का भोला-प्यारा मीठा सा मज़ाक भी है—

हरिद्वार ले चलो घुमाने, दादी अम्मा प्यारी।
बैठे-ठाले बीत न जाएँ, ये छुट्टियाँ हमारी।
मुँह के दाँत भूल मत जाना, मुश्किल होगी भारी।
जाकर पहले हर की पौड़ी पर है हमें नहाना।
इस तीर्थ के सारे मंदिर आप हमें दिखलाना।
उड़न खटोले की भी दादी करनी हमें सवारी
बैठे ठाले बीत न जाएँ, ये छुट्टियाँ हमारी।

शलभ जी के अनुसार, ‘मुँह के दाँत भूल मत जाना’ पंक्तियाँ बच्चे की दादी के प्रति रागात्मक सहृदयता और आत्मीय रिश्तों की गरमाहट को दर्शाती हैं। बच्चों को उनके प्रिय

खेल/खिलौने/ खेलों के विभिन्न उपकरण/ खेल या जादू दिखाने वाला जादूगर या मदारी बहुत अच्छे लगते हैं। उनके कौतुकपूर्ण करतब बच्चों को आश्चर्यचकित कर देते हैं—

छड़ी घूमाते आया पानी। फिर उसने की ये शैतानी।
मिरची जी का बना बताशा। ख़त्म हो गया खेल-तमाशा
खुशी हवा में हाथ खुला तो, पाँच कबूतर ले उस पर।

‘फर-फर उड़ती पतंग’ जब आसमान में इक-दूजे से लड़ती है तो हर बच्चे का मन झूम-झूम जाता है। निश्चय ही ऐसी कविताएँ चाहे परंपरागत हैं, पर अपने अनोखे अंदाज़ से ध्यान खींचती हैं—

बिना पंख कैसे उड़ जाती होती है हैरानी।
इसे काटने और लूटने का है खेल निराला।
डोर पकड़ता गिरा धम्म से, भैया मोटू लाला।

पर्यावरण आज विश्वस्तरीय समस्या बन चुका है। इसके संरक्षण के प्रति चेतना जगाती ‘आओ पेड़ लगाएँ’ कविता में धरती पर हरियाली के माध्यम से खुशहाली लाते पेड़ों के महत्त्व को बच्चे समझ चुके हैं, इसलिए वे मिलकर संकल्प करते हैं कि पेड़ लगाकर वे इस बंजरभूमि को हरा-भरा बना देंगे—

पेड़ लगाकर हम बंजर धरती को हरी बनाएँ।
खुले हाथ से सबको बाँटें, देखो ये हरियाली।
हरियाली से आती भैया! धरती पर खुशहाली।

पर्यावरण-रक्षा के लिए प्रेरित करती इस कविता में प्रेरणा का भाव आरोपित नहीं है, बल्कि कविता का अभिन्न अंग है। कविता बच्चे को प्राकृतिक सौंदर्य से जोड़ती है तथा उनमें वैज्ञानिक दृष्टि पैदा करती है।

प्रकृति मानव की आदिम सहचरी रही है। बच्चे को उसके प्रति ‘कनक-से दिन, मोती-सी रात, सुनहली शाम गुलाबी प्रातः’ कौतुक और विस्मय की भावना सदा उसकी ओर खींचती रही है। प्रकृति के प्रति कवि का सौंदर्य-बोध एक अलग अंदाज़ में है। नानी के घर की फुलवारी, उसमें लगा फूलों का मेला बच्चों को वहाँ जाने का आमंत्रण देता है। कवि के भीतर का बच्चा फूलों को सजीव रूप में देखता है। मानवीकरण अलंकार में कवि की कल्पना अद्वितीय है—

सुना है चंपा रोज़ नाचती हरी-मखमली साड़ी में।
भँवरे डटकर करें सवारी, फूलों वाली गाड़ी में।
लगा है नानी के घर मेला फूलों का।

प्रकृति को बच्चा जिस अजब कौतुक-भाव से देखता है, वह निम्न पंक्तियों में देखिए—

अम्मा क्या होता है सूरज, बड़ा आग का इक गोला।
इतनी धूप कहाँ से लाता? अम्मा मुझको बतलाओ।
गुल्लक या सँदूक बड़ा-सा, हो इस पर तो दिखलाओ।
बच्चों की कविताएँ हों और उनमें पशु-पक्षी न हों तो वे कैसी कविताएँ होंगी? भृंग

जी की 'चुलबुल चिड़िया' स्वयं तो हर पल ऊँचा ही ऊँचा उड़ने का सपना देखती ही है, दूसरों को भी दिखाती है—

तिनके चुन-चुन यहाँ-वहाँ से, नीड़ बनाती अपना।

ऊँचा ही ऊँचा उड़ने का, देखे हर पल सपना।

इसी प्रकार 'हाथी की बारात' जैसी अत्यंत मिठास से भरी कविताएँ हैं। उसकी बारात में कोयल मीठे स्वरों में गा रही है भालू, शेर, गीदड़, लोमड़ी मिलकर नाच रहे हैं। हथिनी उसके गले में जयमाला डालती है। भोज में आज के दूल्हे की भाँति हाथी अचानक बिदक जाता है। उसे खाने में गन्ने नहीं मिलते तो वह शादी के मंडप से बिना दुल्हन के ही जाना चाहता है। सारी रात उसे मनाने में बीतती है—

सूँड़ हिलाता हाथी पहुँचा, जब हथिनी के द्वारा।

हथिनी ने पहनाया उसको, तब फूलों का हारा।

तड़-तड़-तड़ बंदूक चली फिर, एक नहीं छः सात

खाने में हाथी को गन्ना, दिया न जब दिखलाई,

बोला शादी नहीं करूँगा, कैसी मुश्किल आई।

सबने मिलकर खूब मनाया, उसको सारी रात।

बंदर-बंदरिया का नाच दिखाने वाला मदारी हो या 'सर्कस का जोकर', इस पर अनेक बाल कविताएँ लिखी गई हैं, किंतु भुंग जी का जोकर बच्चे पर अनूठा प्रभाव डालता है। बच्चे को जोकर इतना भाता है कि वह स्वयं भी बड़ा होकर जोकर की भाँति ऊल-जलूल हरकतों से दर्शकों को हँसाना चाहता है—

मेरा भी जी करता मम्मी! मैं जोकर बन जाऊँ।

ढेरों करतब अच्छे-अच्छे, मैं करके दिखलाऊँ।

शलभजी बच्चे की इस अनूठी चाह का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं—'बच्चे को माता-पिता के सपनों से क्या लेना-देना, जिसमें माता-पिता उसे डाक्टर, इंजीनियर, वकील या राष्ट्रनेता बनते देखना चाहते हैं। बस बच्चे के पास तो अपने सपने और अपनी चाह है। ऐसा न हो तो फिर बच्चा कैसा? इन्हीं रंगों और अनुभूतियों की पकड़ ही सचमुच बाल-कविता की सही पकड़ है?

निश्चय ही इन कविताओं में बच्चों की दुनिया के ऐसे अनेक मोहक सपने हैं।

आज का युग विज्ञान का युग है और बच्चा उसकी हर-छोटी बड़ी जानकारी चाहता है। पाठ्यक्रम से प्राप्त जानकारी उसे नीरस प्रतीत होती है वही कविता के माध्यम से सरस हो उठती है। मोबाइल कविता अत्यंत मजेदार है। मोबाइल बच्चों के कौतुकी मन को न केवल चमत्कृत करता है, वरन् तरह-तरह से उनका मनोरंजन भी करता है—

रोज़ नई बातें सिखलाए यह मेरा मोबाइल फ़ोन।

झटपट बात करा देता है यह सारे संसार से।

जब जी चाहे इससे खींचो फ़ोटो प्यारे-प्यारे।

छिपे हुए हैं इसके अंदर खेलों के गुब्बारे।

इन कविताओं में अपने देश का हर मौसम है। अपनी संस्कृति, अपने उमंगधर्मी

उत्सव एवं त्यौहार है।

आज संचार-माध्यमों के विकास ने बच्चों के ज्ञान-स्तर का अत्यंत विस्तार किया है। वह हर बात की जानकारी रखता है। भृंग जी का बालक अत्यंत जागरूक है। वह अख़बार को सरसरी निगाह से देखता भर नहीं, वरन् अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त करता है। उसे संपादकों से शिकायत है, जो अख़बार में बच्चों को हाशिए पर लाते जा रहे हैं। बच्चे उनमें अपने लिए एक 'कोना' ढूँढ़ते रह जाते हैं। उनकी कारुणिक त्रासदी देखिए—

पहले इसमें रविवार को गीत कहानी छपते थे।
रंग-बिरंगे कार्टून भी मुझको इसमें दिखते थे।
जाने क्या हो गया आजकल। भैया इन अख़बारों को।
रोक दिया क्यों जानबूझ कर बचपन-भरी बहारों को।

बच्चों की कविताओं के विविध विषयों में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक स्वर भी यहाँ देखे जा सकते हैं— 'अपना देश महान' ऐसी ही कविता है, जिसमें देश के वीरों की शौर्य-गाथा के साथ-साथ हिंदी भाषा की माला के विविध मनकों—सूर, कबीर, मीरा, तुलसी आदि का भी स्मरण किया गया है।

और अंत में चर्चा करते हैं 'जादूगर बादल' शीर्षक कविता की, जो गज़ब-गज़ब के खेल दिखाता है। जिसके आसमान में आते ही दिन में धूप सरपट भाग जाती है और रात को तारे छिप जाते हैं। अपने सभी फव्वारों को एक साथ खोल देने वाले बादलों को बच्चा चुनौती देता है—कि अगर वह सच्चा या बड़ा जादूगर है तो वह सूरज-चंद्रा को धरती पर भेज उसकी नाव चलवाए—

दिन में सरपट धूप भागती और रात में तारे,
एक साथ चालू कर देते अपने सब फव्वारे
तुम सच्चे जादूगर हो तो ऐसा खेल दिखाओ,
सूरज-चंद्रा भेज यहाँ पर नाव मेरी चलवाओ।

यह क्षितिज अद्भुत है और वह धरती पर आकर सूरज-चंद्रा द्वारा नाव चलाने की कल्पना का बालमन से ही उभर सकता है। बाल-सुलभ मनोभाव, अजब अनोखी कल्पना, अनूठे मोहक सपने, उनका अंतर्बाह्य संसार यानी बच्चों की पूरी दुनिया इनमें आकार लेती प्रतीत होती है। छंदों में आबद्ध, लय-ताल से युक्त, सरल-सहज भाषा में सुंदर बिंबों का दृश्यांकन कराती ये कविताएँ बच्चों के स्वभाव, उनकी प्रकृति को ध्यान में रखकर लिखी गई हैं। कहीं भी आज्ञा-निषेध की उपदेशात्मकता नहीं है। सर्वत्र बालगत भोलापन है, हृदय का निश्चल उद्रेक है। बालमन की संवेदना का जुड़ाव है। यह सब तभी संभव हो पाया है क्योंकि कवि के मन में बालक बैठा है, उसकी सहज अनुभूतियाँ हैं, उसकी भोली चाहतें और मासूम सपने हैं। भाषा की सादी बालोपयोगी है। यही इन कविताओं की शक्ति भी है और श्रेष्ठता भी। और यही विशेषताएँ उन्हें भीड़ से अलग रखती हैं—शलभ जी के शब्दों में—

'इधर हिंदी बाल-कविता में विपुल सर्जन हो रहा है, पर ये कविताएँ निश्चय ही भीड़ से हटकर कुछ कहती हैं। लय, बिंब, भाषा का कसाव, अलंकार-सौंदर्य, अनुभूति की पकड़ और अभिव्यक्ति का कौशल इन कविताओं की शक्ति है, जिसके बीच में एक भरपूर बच्चा

बार-बार उभरता ही नहीं, पूरे दम-खम के साथ खिलखिलाता है। ये कविताएँ बाल-भगवान की उपासना के अक्षत हैं।...

डॉ० भैरूलाल गर्ग (संपादक बालवाटिका) की दृष्टि में भी 'जादूगर बादल' की कविताएँ विषय-वैविध्य के साथ शिल्प-वैभव से भी पूर्ण हैं। वहाँ समूचा बाल-संसार मूर्तिमान हो उठा है। डॉ० राष्ट्रबंधु की दृष्टि में इन कविताओं में बाल-भावना का लुभावनापन है।...छंदों और शब्दों के बहुरंगी परिधानों से सज्जित इसकी कविताएँ उद्देश्यपरक एवं रोचक हैं।

फलैप पर डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल के विचार भी इस संकलन को अप्रतिम संग्रह घोषित करते हैं। उनकी दृष्टि में गीतात्मक शैली और लय में लिखी सभी रचनाएँ बालमनोविज्ञान के अनुरूप सरल और सहज हैं तथा बच्चों में पढ़ने की ललक जगाने वाली हैं।

समाहार रूप में कहा जा सकता है कि इसमें प्रौढ़ कवित का नहीं, बच्चों का अपना भाव-लोक है। बाल-छवियों का एक पूरा इंद्रधनुष इस संकलन के माध्यम से धरती पर उतर आया है। कवि का रचना-मन उन सभी मनोरम रंगों के चाक्षुष बिंबों को लय-ताल के साथ अंकित करने में सफल हुआ है।

विनोद भृंग यद्यपि लंबे समय से बच्चों के लिए कविताएँ लिख रहे हैं, किंतु संग्रह-रूप में यह उनका पहला संग्रह है। पूरी कविताओं से गुजरने के बाद इस क्षेत्र में उनकी आगे की यात्रा आश्वस्त करने वाली है। संकलन की कुछ विशिष्ट कविताएँ अपने अद्भुत आस्वाद एवं बुनावट से भविष्य की सुखद संभावनाओं का संकेत देती हैं। बालमन से सीधे सटकर लिखी इन कविताओं के लिए कवि साधुवाद का पात्र है।

जादूगर बादल; रचनाकार : विनोद भृंग; प्रकाशक : नीरजा स्मृति बाल साहित्य न्यास, 245, नया आवास विकास, सहारनपुर 247001; वितरक : हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ०प्र०)

□ एन० डी-57, प्रीतमपुरा
दिल्ली 110034
मो० 9868735123



डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल
का नया ग़ज़ल-संग्रह
आदमी है कहाँ
मूल्य : 150 रुपए

प्रकाशक :
हिंदी साहित्य निकेतन
बिजनौर (उ०प्र०)



आधी हक्कीकृत आधा फ़साना बनाम पूरी हक्कीकृत पूरा फ़साना डॉ० विपिनकुमार गिरि

बचपन चाहे अभाव में बीते या संपन्नता में, कोई अंतर नहीं पड़ता। असल बात है बचपन की स्मृतियों की सुखद अनुभूतियाँ। प्रत्येक व्यक्ति की न जाने कितनी स्मृतियाँ बचपन से जुड़ी होती हैं, जिन्हें वह अपने सीने में दबाए रहता है। ये स्मृतियाँ ऐसी होती हैं, जिनमें लोरी से भी बढ़कर सुख देने की शक्ति होती है। बचपन की इन्हीं सुखकर और आनंददायक स्मृतियों को व्यक्ति बार-बार जीना चाहता है। साल-दर-साल जीवन अवसान की ओर भले ही जाए, किंतु बचपन की ये स्मृतियाँ उसकी जिजीविषा को और अधिक बढ़ाती रहती हैं।

बचपन और उसकी स्मृतियों से जुड़ी उक्त सभी बातें मुझे उस समय जीवंत प्रतीत हुईं, जब मेरे सामने प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० बलजीत सिंह की सद्यः प्रकाशित संस्मरणात्मक पुस्तक 'आधी हक्कीकृत आधा फ़साना' आई। लगभग 40 संस्मरणों को जिस कलात्मक शैली में डॉ० सिंह ने प्रस्तुत किया है, उसका अवलोकन करने पर यही प्रमाणित होता है कि उनकी पुस्तक के सहारे हम स्वयं उनके बचपन के सहयात्री बन जाते हैं। अधिकांश संस्मरण उनकी आरंभिक शिक्षा-दीक्षा से जुड़ी घटनाओं से संबंधित हैं, जबकि कुछ संस्मरण जीवन के अन्य प्रसंगों से संबंधित हैं। सर्वाधिक विचलित करनेवाले संस्मरण अध्यापकों के व्यवहार से संबंधित हैं। कुछ संस्मरणों को पढ़ते हुए बड़ी व्यथा होती है कि क्या अनुशासन का अर्थ अमानवीय हो जाना है? 'मेरे पास भेजो गधों को' संस्मरण का आरंभ डॉ० सिंह कुछ इस तरह करते हैं—'मैं भगवान से प्रायः यह प्रार्थना करता हूँ कि भले ही मुझे अगले जन्म में नरक में जीवन बिताना पड़े, किंतु उन परिस्थितियों का सामना मुझे कभी न करना पड़े, जो शिक्षा-प्राप्ति के प्रारंभिक काल में इस जीवन में मुझे झेलनी पड़ी हैं।'

जीवनपर्यंत शिक्षा को समर्पित एक शिक्षक द्वारा अपने जीवन के इस सोपान पर अपनी पीड़ा की ऐसे शब्दों में अभिव्यक्ति वास्तव में व्यवस्था के सामने बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न खड़ा करती है। डॉ० सिंह ने शिक्षा-जगत् की जिन खामियों को उजागर किया है, वे वास्तव में उस समय में ही नहीं, अपितु आज भी अनेक स्थानों पर मौजूद हैं। अपने बेटों की शिक्षा के संदर्भ में मेरे अधिकांश अनुभव ऐसे हैं, जिन्हें याद करके मन ग्लानि और घृणा से भर उठता है। छोटे बेटे के संदर्भ में ऐसी घटना से मुझे गुज़रना पड़ा है, जिसने उसके बालमन को झकझोर कर रख दिया; किंतु बहुत सूझबूझ के साथ बेटे की पढ़ाई को पटरी पर लाया जा सका। अनुशासन के नाम पर जिस प्रताड़ना के दौर से गुज़रना पड़ता है, वह किसी भी दृष्टि से स्वीकार करना मुश्किल है। यह दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि डॉ० सिंह को स्कूली अनुशासन के नाम पर केवल प्रताड़ना से भरी घटनाओं से दो-चार होना पड़ा। ले-देकर एक-दो प्रसंग ही ऐसे हैं, जिनमें गुरु के प्रति आदर-श्रद्धा का भाव उमड़ता है, वरना अधिकांश तो ऐसे हैं, जिन्हें पढ़कर वितृष्णा होती

है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि डॉ. सिंह ने अनुशासन के इस विकृत रूप को लिपिबद्ध क्यों कर दिया! अच्छा होता, इन विकृतियों पर पर्दा ही पड़ा रहता। कम-से-कम गुरु के प्रति आस्था-विश्वास-श्रद्धा के संबंध अक्षुण्ण बने रहते।

खैर, डॉ. सिंह के संस्मरणों की इस पहली कृति के लिए बधाई। डॉ. सिंह अपनी हर बात को पैनेपन से कहने के अभ्यस्त हैं। उनके चिंतन का यही पैनापन उन्हें अन्य रचनाशिल्पियों से अलग पंक्ति में लाकर खड़ा कर देता है। 'आधी हक्रीकृत आधा फ़साना' के संस्मरणों में जो संस्मरण शिक्षा-जगत् के अलावा संकलित किए गए हैं, वे भी अपने-आप में बेजोड़ हैं। सभी संस्मरणों का वैशिष्ट्य यह है कि उनके शीर्षक कौतूहलवर्धक हैं। शीर्षक पढ़ते ही पाठक जिज्ञासा के साथ संस्मरण पढ़ने लगता है और उसे बिना पढ़े नहीं छोड़ता। इस क्रम में कुछ शीर्षक क़ाबिले-गौर हैं—'फिर आ गया बेसरम!', 'अबे तू आएगा, तेरा बाप आएगा', 'ऐसे गधों को कौन आशीर्वाद दे', 'अबे कान कागज़ के लगवा रखे हैं क्या?', 'अब आजा, साले, हरामी', 'रसोई की छत पर भैंसा', 'हैडमास्टर मेरा फुप्फा है', 'अरे बेईमान, एक ओर सू चल', 'तेरे ताले अलीगढ़ के थे क्या' आदि।

बचपन और अध्ययनकाल के अलावा जो संस्मरण संकलित हैं, उनमें व्यंग्य है, गुदगुदी है, करुणा है, मानवीय आस्था के प्रज्वलित दीप हैं। 'फ़रिश्ता जो टैम्पू चलाता था' और 'अवर्णनीय सुखवाले आँसू' जैसे संस्मरण आज स्वार्थपरक और व्यावसायिक दौर में बहुत-कुछ सोचने पर विवश करते हैं। डॉ. सिंह जहाँ विषयवस्तु के चयन में सिद्धहस्त हैं, वहीं शैलिक वैशिष्ट्य में भी उनका कोई जवाब नहीं है। डॉ. सिंह किसी भी छोटे या नीरस विषय को अपने जादुई भाषायी स्पर्श से प्राणवान बनाने में माहिर हैं। भाषा में चुटीलापन उनकी अपनी निजी विशेषता है। उनकी भाषा का एक नमूना देखिए—'क्या दुनिया में कोई अदालत ऐसी है, जहाँ मुजरिम को दंड तो मिल जाए, किंतु उसे इसका कुछ पता न हो कि उसका अपराध क्या है? उस समय के स्कूल ऐसी ही अदालतें थीं, और उस समय के अध्यापक व हैडमास्टर ऐसे जज थे, जिनके निर्णय के खिलाफ़ कोई अपील नहीं हो सकती थी।'

'आधी हक्रीकृत आधा फ़साना' के संस्मरणों में सत्य के साथ कुछ कल्पना के रंग भी दिए गए हैं। लेखक ने उन्हें सृजन के ऐसे धरातल पर उतारा है कि उनकी बहुरंगी छटा पाठक को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। लगातार सृजन-यात्रा में कवि-कर्म अपनाते हुए डॉ. सिंह ने संस्मरण विधा को चुना है और इस विधा में सशक्त उपस्थिति दर्ज कराई है। जिस कलात्मकता के साथ पुस्तक का प्रकाशन किया गया है, वह बेजोड़ है। डॉ. सिंह के संस्मरण पढ़ने का तो बहाना बन गया, असलियत तो यह है कि उनके बहाने से अपना बचपन, अपना गाँव और अपना सफ़र बार-बार ख़ूब याद आए।

आधी हक्रीकृत आधा फ़साना (संस्मरणात्मक व्यंग्य); लेखक : डॉ. बलजीत सिंह;
प्रकाशक : हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर; प्रथम संस्करण 2011; मूल्य : 200.00

□ रीडर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग

राजकीय महिला महाविद्यालय, बेहट 247121 (सहारनपुर)

मो० 98737391728

ज्ञान एवं मनोरंजन प्रदायक बालोपयोगी कहानियाँ

डॉ० शकुंतला कालरा

ऐसोसिएट, प्रोफेसर, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ० चक्र ने बालसाहित्य की गद्य एवं पद्य दोनों विधाओं में समानाधिकार से लेखनी चलाई है। काव्य-विधा में भी उन्हें पर्याप्त ख्याति मिली है। 'लट्टू-सी यह धरती घूमे' उनकी चर्चित बाल-कविताओं की पुस्तक है। 'आजादी के दीवाने' उनका इससे पूर्व एक कहानी-संग्रह है। 'कंजूस गोंतालू' उनका उपन्यास है।

प्रस्तुत संग्रह आज के परिवेश से जुड़ा है, जिसमें उसी के आसपास की प्रेरक एवं शिक्षाप्रद कहानियाँ हैं। आज उपभोगवादी संस्कृति में साँस लेता बच्चा उन्हीं संस्कारों को ग्रहण कर रहा है, जो आज बाजारवाद उन्हें दे रहा है। परिणामतः धनोपार्जन की दौड़ में जीवनमूल्यों का हास हो रहा है। मूल्यों की पुनर्स्थापना को केंद्र में रखते हुए चक्र जी ने 19 कहानियों का एक गुलदस्ता बच्चों को उपहारस्वरूप भेंट किया है। राकेश चक्र जी ने बच्चों के लिए हर प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। 'राकेश चक्र की श्रेष्ठ कहानियों' में विविध विषयों से जुड़ी बालमन की अभिव्यक्ति है।

'बच्चों की मनोरंजक कहानियाँ' हाल ही में प्रकाशित बाल-कहानियों का संग्रह है। प्रस्तुत संग्रह की कहानियों का विषय-क्षेत्र बच्चों के अपने आस-पास के परिवेश का है। सपना जो सच हो गया, छोटी दिव्या की बड़ी सीख, आसमान की सैर, तीन सहपाठी, ईशान के दादा जी, पिल्ला तूफान में भटक गया, चंदा और सूरज, पिता जी देश के लिए मरते, ठन-ठन गोपाल, जामुन का पेड़, दो गधों की आरती आदि सभी कहानियाँ बाल-मनोविज्ञान, बालसुलभ चेष्याओं, सपनों एवं कल्पनाओं की कहानियाँ हैं। यानी ये कहानियाँ बच्चों की अपनी दुनिया की कहानियाँ हैं। पुरोवाक् में डॉ० देवसरे जी का कथन इसी तथ्य को उद्घाटित करता है—'राकेश जी ने कहानियों के विषय एवं कथानक बच्चों की अपनी दुनिया से चुने हैं। ये कहानियाँ बालमन की अनुभूति को छूती हैं। उनकी संवेदना को जगाती हैं, उन्हें गुदगुदाती एवं अप्रत्यक्ष रूप से कोई प्रेरणा भी देती हैं।

संग्रह की पहली कहानी 'सपना जो सच हो गया' है, जिसमें शिवानी और पल्लवी सहपाठिन हैं। मेधावी कक्षा में प्रथम आती है। बच्चों में प्रतिस्पर्धा का होना अच्छी बात है, और यह एक गुण हो सकता है, किंतु यदि प्रतिस्पर्धा ईर्ष्या में परिणत हो जाए तो वह दोष बन जाता है। यह एक विकार है और विकारग्रस्त व्यक्ति सदा दुःखी होता रहता है। उसमें अन्य विकार भी जन्म ले लेते हैं। क्रोध का आना तो स्वाभाविक है। स्वभावगत खीज, चिड़चिड़ापन उसे घेर लेता है, परिणामतः वह व्यक्ति हमेशा कुदृता रहता है। यानी हर तरह की कुंठाएँ उसे घेर लेती हैं। इस कहानी के प्रमुख पात्र के हृदय-परिवर्तन द्वारा लेखक ने बताया है कि किसी

से आगे बढ़ने का अर्थ उसे गिराना नहीं, वरन् पुरुषार्थ के द्वारा स्वयं आगे बढ़ना है।

‘छोटी दिव्या की बड़ी सीख’ में बच्चों को अपनी पुस्तकें खरीदकर पढ़ने की प्रेरणा दी गई है। देश-भक्ति के संस्कार रोपने वाली एक कहानी है—‘पिता जी देश के लिए मरते’ बलिदानी व्यक्ति के त्याग से देश के साथ-साथ पूरा परिवार भी गौरवान्वित होता है।

‘ठन-ठन गोपाल’ में इस अंधविश्वास को तोड़ा गया है कि जैसा नाम हो, व्यक्ति का व्यक्तित्व भी वैसा ही होता है। लेखक के अनुसार नाम और गुण में कोई संबंध नहीं। ‘नैनसुख’ नेत्रहीन हो सकता है, लक्ष्मीचंद भिखारी भी। बचपन में नाम को लेकर ठन-ठन गोपाल को बच्चे सदा चिढ़ाते हैं, किंतु अपने उदार स्वभाव से जब वह किसी की धन द्वारा सहायता करता है, तो धनवानों से भी ज्यादा उसका आदर होता है।

‘तीन सहपाठी’ टूटी रेल-पट्टी देखकर अपनी सूझबूझ से रेलगाड़ी को दुर्घटनाग्रस्त होने से बचा लेते हैं। यदि देश का हर नागरिक इसी प्रकार सजग रहे तो देश के दुश्मनों के मनसूबों पर पानी फेरा जा सकता है। एक कहानी है ‘ईशान के दादाजी’, जिसमें बच्चों के स्वभाव का चित्रण है कि वे हर समय बच्चों के आदेशमय वाक्यों से दुःखी रहते हैं। हरदम पढ़ाई-पढ़ाई की रट लगाने वाले अभिभावक यह भूल जाते हैं कि शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक स्वास्थ्य के लिए खेल-कूद भी ज़रूरी है। बच्चों को हर बात अगर खेल-खेल में समझाई जाए तो उसके परिणाम अधिक सुखद और अनुकूल होते हैं।

‘पिल्ला तूफान में भटक गया’ पशु-प्रेम को दर्शाती है। पशु-पक्षियों के प्रति दया-भाव जगाती यह कहानी मानवीय संवेदना से ओत-प्रोत कहानी है। ‘चंदा और सूरज’ एक लोककथा पर आधारित कहानी है। दोनों भाई सदा लड़ते-झगड़ते रहते हैं। उनके इस स्वभाव से दुखी होकर उन्हें माँ एक-दूसरे से सदा अलग रहने का शाप देती है। कहते हैं तबसे चाँद-सूरज कभी नहीं मिलते। ‘जामुन का पेड़’ समय की क्रीमत् पर आधारित है तो ‘दो गधों की आरती’ हास्यरस की कहानी है। ‘राम और परमाई डकैत’ में रामू के द्वारा परमाई डकैत के हृदय-परिवर्तन की कहानी है। बच्चे के साहस और अँगुलीमाल के दृष्टान्त से डकैत प्रभावित होता है। वह सेठ का सामान भी चोरी होने से बचा लेता है और हमेशा के लिए उन्हें सद्मार्ग में लाने में भी सफल होना है।

लेखक को अपने उद्देश्य में सर्वत्र सफलता मिली है। इन कहानियाँ का विषय-फलक पूर्णरूपेण सार्थक है। उनकी प्रस्तुति, भाषा-शैली अत्यंत रोचक है। इन्हें पढ़ने में बच्चों को निश्चय ही रस आएगा, क्योंकि इन कहानियों में वे सर्वत्र विद्यमान हैं।

बच्चों की मनोरंजक कहानियाँ; लेखक : राकेश चक्र; प्रकाशक : अग्नि प्रकाशन, डब्ल्यू 112, ग्रेटर कैलाश 1, फर्स्ट फ्लोर, नयी दिल्ली 110048; प्रथम संस्करण 2009

□ एन० डी-57, प्रीतमपुरा

दिल्ली 110034

मो० 9868735123



जीवंत व्यंग्य-संकलन 51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ

डॉ० गंगाप्रसाद गुप्त बरसैया

श्री गजेंद्र तिवारी से मेरी पहली भेंट बागबाहरा में सन् 1963 की जुलाई में हुई थी। श्री नारायणलाल परमार वहाँ जाने-माने नियमित छपनेवाले साहित्यकार शिक्षक थे। मुझे भी पढ़ने-लिखने में रुचि थी। इसी नाते परमारजी से संपर्क हुआ। उन्हीं के निवास पर पहली बार गजेंद्र तिवारी से। वे उन दिनों उदीयमान लेखक थे और विविध पत्रिकाओं में उनकी भी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं।

श्री तिवारी गद्य लिखते-लिखते व्यंग्य-क्षेत्र में रम गए। उनके अब तक पाँच व्यंग्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'अमृत संदेश' दैनिक रायपुर के वे विगत 15 वर्षों से 'बात-बेबात की' व्यंग्य-स्तंभ के नियमित लेखक हैं। पहले 'युगधर्म' (दैनिक रायपुर) में भी नियमित लिखते रहे। अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी उनके व्यंग्य प्रकाशित होते रहे हैं। कहने का आशय यह कि वे एक स्थापित, सुपरिचित, प्रतिष्ठित, वरिष्ठ लेखक हैं। 15 वर्षों तक किसी दैनिक में नियमित व्यंग्य-स्तंभ का निर्वाह किसी टुटपुँजिये साधारण लेखक के बूते की बात नहीं है।

'अलादीन की ख्वाहिश' 'जलने वाले जला करें', 'रंज लीडर को बहुत है' तथा 'ला खर्चा निकाल' व्यंग्य-संग्रहों के बाद अब उनका पाँचवाँ व्यंग्य-संग्रह '51 श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ' शीर्षक से मेरे सामने है। ज़ाहिर है कि इसमें श्री तिवारी के चुने हुए श्रेष्ठ 51 व्यंग्य लेख संगृहीत हैं।

किसी भी व्यंग्य-लेखक में जीवन, जगत, परिवेश और वातावरण का अच्छा ज्ञान होना ज़रूरी है। उसमें दुनियादारी और उसके अंतःसूत्रों की गहरी समझ होनी चाहिए। उसे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, प्राकृतिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक, विधिक आदि क्षेत्रों की अच्छी और व्यापक जानकारी होनी चाहिए। इसके बिना कोई भी व्यंग्य प्रामाणिक और प्रभावशाली तथा विश्वसनीय नहीं बन पाता। वह छिछला और बचकाना ही रहता है। व्यंग्यकार के पास अच्छा शब्दकोष, भाषा की गहरी पकड़ तथा अन्य भाषाओं का भी बोध होना चाहिए। इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण है अभिव्यक्ति का शिल्प-कौशल। व्यंग्यकार की भाषा सीधी-सपाट अभिधात्मक नहीं होती। वक्रोक्ति उसका प्राण है। चुलबुलापन, चुटीलापन, ताजगी, व्यंग्य-विनोद का पैनापन, कहावतों-मुहावरों का सटीक प्रयोग उसे रोचक तथा प्रभावशाली बनाते हैं। व्यंग्य लेख तो 'इंटरवीनस इंजेक्शन' की तरह होते हैं। लगते और चुभते कहीं हैं, पर प्रभाव पूरे शरीर में करते हैं। व्यंग्यकार का उद्देश्य किसी व्यक्ति-विशेष को चोट पहुँचाना नहीं होता। व्यक्ति तो समाज का प्रतीक या प्रतिनिधि होता है। व्यंग्य का लक्ष्य विसंगति पर चोट करके सुधारना

है। समाज को झकझोरकर चेताना है, ताकि वह उस विसंगति या बुराई से मुक्त हो सके और संबंधित पक्ष यह जान ले कि सब लोग उसके कृत्य से सभी परिचित हैं और अनुचित मानते हैं। इसे सुधारना चाहिए। व्यंग्यकार सुधारक या उपदेशक नहीं है। वह तो सचेतक की और आलोचक की भूमिका अदा करता है। व्यंग्यकार के प्रतीक और संकेत अर्थगर्भित तथा सहज संप्रेषणीय होने चाहिए। नित नई घटनेवाली घटनाओं पर उसकी पैनी नज़र होनी चाहिए। एक ही शब्द विभिन्न पात्रों और संदर्भों में विशेष अर्थध्वनित करते हैं। इसकी पहचान आवश्यक है, तभी प्रयोग पैना और तीखा बनेगा।

इनसे भी बड़ी बात है व्यंग्य-लेखक में गहरी संवेदनात्मकता होनी चाहिए। देश, समाज, मानवता के प्रति निष्ठा तथा लेखन में तटस्थता और ईमानदारी हो। विसंगतियाँ व्यंग्य की उत्प्रेरक हैं। विसंगतियाँ संवेदनशील लेखक को आंतरिक पीड़ा देती हैं। इसी पीड़ा से व्यंग्य का जन्म होता है। व्यंग्य में सीधे-सीधे काने को काना और भ्रष्ट को भ्रष्ट कहना खतरनाक तथा अनुचित है। व्यंग्यकार का कौशल यही है कि वह ऐसी शब्दावली और शैली अपनाए, जिसमें काना और भ्रष्ट समझ में आ जाय, पर वह सीधे पकड़ने की स्थिति में न हो। इसके लिए सतत साधना और अभ्यास की ज़रूरत होती है। यह कोई जादू का खेल नहीं है कि चुटकी बजाते हो सके। यह सबके सामर्थ्य की बात भी नहीं है। श्री तिवारी के व्यंग्य-लेखों में ये सभी गुण विद्यमान हैं। उनमें समर्थ लेखक की भरपूर क्षमता है, उनका ज्ञान और संवेदना- संसार व्यापक है। इसीलिए वे अविराम लिख रहे हैं।

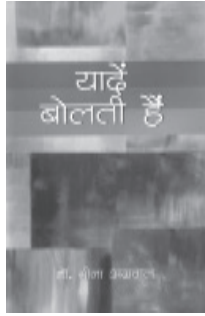
मेरे सामने उनका जो संग्रह है, उसमें 51 व्यंग्य हैं। वे इस बात की गवाही देते हैं कि एडवोकेट होने के नाते श्री तिवारी को अदालत, वकालत, अफसरी-दफ्तरी दुनिया और सामाजिकों के सोच और आचरण का विशद ज्ञान तथा अनुभव है। वे उसे बखूबी उजागर कर सकते हैं। वे एक-एक की कारतूतों का जीवंत लेखा-जोखा कहीं वर्णन-शैली में, कहीं संवाद-शैली में, कहीं विश्लेषण और चिंतन-शैली में प्रस्तुत करते हैं। जीवन-जगत के अनेक नये-पुराने संदर्भ उनमें हैं। भ्रष्टाचार, अनैतिकता, शोषण, फैशन, अर्थलोभ आज व्यक्ति और पूरे समाज के रोम-रोम में व्याप्त है। इसके तमाम पक्ष इसमें प्रमुखता से देखे जा सकते हैं। वहाँ विज्ञान का वायरस है तो फर्राटासिंह की सोच भी, क्रिकेट का प्रसंग है तो बेईमानी का अभिनंदन भी। सरकारी मशीनरी की निर्ममता, उदासीनता, निकम्मापन है तो अप-डाउन की दिनचर्या, स्वरुचि भोज के दृश्य, अस्पताल-दफ्तरों की अव्यवस्था, आरा मशीन, चेंबराइटिस, सबलोक का समाजवाद, सरकारी गवाह, सूखा महोत्सव, साहित्य का गणित, सब चलता है की मानसिकता, जन्मसिद्ध अधिकार के चिंतन, लोकतंत्र आदि के दृश्य और अनुभव भी। कुल मिलाकर यह एक ऐसी जीवंत व्यापक दुनिया है, जहाँ आप बिना ऊबे चक्कर लगाकर अनंद ले सकते हैं और दुनिया के ढके-मुँदे बाहरी-भीतरी सत्य तथ्यों से परिचित हो सकते हैं।

51 व्यंग्य रचनाएँ; व्यंग्यकार : गजेंद्र तिवारी; संपादक : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल;
प्रकाशक : डायमंड पाकेट बुक्स, नई दिल्ली; संस्करण 2009; मूल्य : 125.00

□ सेवानिवृत्त प्राचार्य,

12-एम आई जी, चौबे कॉलोनी, छतरपुर (म०प्र०)

मो० 9425376413



जीवन को सुख एवं आनंद देनेवाली रचनाएँ यादें बोलती हैं

आर्यभूषण गर्ग

अभी कुछ दिन पहले डाक से एक पैकेट प्राप्त हुआ। खोला तो मिला डॉ० मीना अग्रवाल जी का कविता-संग्रह 'यादें बोलती हैं'। मन सुखद आश्चर्य से भर उठा। मीनाजी की अपनी भूमिका और डॉ० अरुणजी की सदानिरा लेखनी के अजस्र धाराप्रवाह में बहते शब्दों के इंद्रजाल को पढ़ा तो पुस्तक की कथा-व्यथा का परोक्ष से परिचय हुआ। सहज कौतूहल में डूबी उत्सुकता से पहली रचना पढ़ी 'चिड़ियों के साथ'। आज की दादी-नानी की भी दादी और दादी सासू माँ की यादों का पिटारा लगभग एक शती के विस्तार में फैली पाँच-छह पीढ़ियों की यादें और संस्मरण। सचमुच ये यादें बहुत मुखर हैं। वे निस्संकोच उनके एलबम के पन्नों से उठीं और मेरे मस्तिष्क के कंप्यूटर में वायरस की तरह से घुसकर मेरी बड़े यत्न से सहेजी-सँवारी हुई क्रमानुसार बँधी हुई स्मृतियों की फाइलों को उलट-पुलटकर गईं और कंप्यूटर निष्क्रिय हो गया। एक-एक स्मृतियों के पन्ने हवा के तेज़ झोंकों में उड़कर इधर-उधर बिखर गए। मेरा मन इधर-उधर दौड़ते हुए एक-एक कर उन पन्नों को समेटता है, मैं उन्हें प्रयत्न करके क्रमवार समेटता हूँ और कुछ समय के लिए खो जाता हूँ।

जिस कविता-संग्रह की पहली रचना इतनी प्रभावी-अंतर्मन में गहरे उतरनेवाली हो वह संग्रह डॉ० अरुण के शब्दों में निश्चय ही पाठक को काव्यानंद की गंगा में स्नान कराके पावन करेगा ही। कोई भी संवेदनशील मन इनमें डूबते-उतराते एक अतींद्रिय आनंद का अनुभव करेगा ही, यह नारी-मन की यादें हैं—उनके बचपन की, दादी माँ के कठोर अनुशासन की, काकी माँ के वात्सल्य-भरे प्यार की और सासू माँ के मातृत्व-भरे स्नेह की अनेक कहानी कहते दुलार-भरे व्यवहार की। 'चिड़ियों का साथ' लंबी कविता पढ़ते-पढ़ते पाठक का मन भी उन्हीं की तरह उस अभिव्यक्ति के माधुर्य में अपनी स्मृतियों के अंतहीन आकाश में विचरण करने लगता है। इस कविता में कल्पना की उड़ान नहीं, भोगे और जिए हुए क्षणों का चित्रण है, जो सहज ही मन को छूता है।

अगली दो रचनाएँ, जिन्होंने ध्यान आकृष्ट किया वे हैं 'कुछ नया लिखूँ' और 'बोलता प्रश्न'। 'कुछ नया लिखूँ' और 'माँ' तो लगभग एक ही भावभूमि पर लिखी गईं दो रचनाएँ हैं, जो समाज में नारी की स्थिति को देखकर पीड़ित हैं, दुखी हैं और 'डूबते को तिनके का सहारा' के रूप में माँ का सहारा और प्रोत्साहन चाहती हैं। उसके डगमगाते आत्मविश्वास को माँ की यादों का संबल अपेक्षित है। एक संवेदनशील नारी-मन का श्रेष्ठ, भावानुकूल चित्रण है, जो कहीं-न-कहीं पाठक के मन को छूता है।

'बोलता प्रश्न' में नारी की दमित अस्मिता का, अस्तित्व बनाए रखने की आकांक्षाओं

को पूरा करने का आक्रोश ध्वनित होता है। जन्म से लेकर प्रौढ़ावस्था तक वह निरंतर केवल सहती है और जब भी वह प्रतिरोध करने की चेष्टा करती है, उसको दबा दिया जाता है। यह सच तो है, पर मुझे लगता है कि नारी की इस स्थिति में आज के युग में बदलाव आया है। स्थितियाँ काफी बदल रही हैं। अब नारी शिक्षा प्राप्त कर, आर्थिक रूप से भी पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर चलने को तत्पर है और जीवन में अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्ष करती भी दिखाई पड़ती है। अखबारों की सूचनाओं के अनुसार कई कन्याओं ने दहेज लोभी, शराबी अथवा अधिक उम्र वाले लड़कों से विवाह करने से इंकार कर दिया और बारात को बैरंग वापस जाना पड़ा है। अब कन्या के पिता को वर के पिता के चरणों में पगड़ी रखने की आवश्यकता के उदाहरण नगण्य ही हैं। अतः हताश और निराश होने की मनःस्थिति से उबर आना ही स्वाभाविक है। रचना 'दृढ़ आधार' और 'मन बावरे' में कवयित्री की ऐसी ही भावनाएँ परिलक्षित हुई हैं। वह यह कहती दिखाई पड़ती हैं—

‘इसलिए तू डर मत
निर्भय होकर आगे बढ़
ऊँचाइयाँ चढ़
अनुभव की शाला में
नया जीवन गढ़।’

यह प्रेरणात्मक आह्वान, यह उद्बोधन, क्षितिज पर होते अरुणोदय, उषा के आने की आहट और फिर जीवन को ऊर्जा प्रदान करनेवाले भास्कर के आगमन का सूचक है।

एक और श्रेष्ठ रचना है 'आखिर क्यों', जो नारी-जीवन के पूरे परिदृश्य को चित्रांकित करती है और यह प्रश्न उछालकर सारे पुरुष-समाज से जवाबतलब करती है। इसके लिए जिस अदम्य साहस की आवश्यकता है, वह स्वाभिमान कवयित्री के मन में ही न रहकर लेखनी की नोक पर तो आया। आशा जागती है कि अब नारी-मन भटकेगा नहीं, अत्याचार नहीं सहेगा और अस्तित्व की इस लड़ाई में नारी सम्मानपूर्वक अधिकार लेकर ही रहेगी।

'मैं और तुम' एक छोटा-सा पायल की रुनझुन की झंकार सुनाता, कोमल भावनाओं को छूता-सा वास्तविक गीत है। विद्रोह के स्वरो को जगाती लंबी कविताओं के बीच एक सुमधुर अंतराल-सी यह रचना मन को आह्लाद से भर देती है। भावुकतापूर्ण उलाहना देती-सी यह छोटी-सी रचना मन में संतोष जगाती है कि अभी भी कोमलता का अंश शेष है। अनेकानेक बधाइयाँ।

पुनः एक श्रेष्ठ रचना सामने है 'सृजन'। जिसमें कविता अपनी सहेली भावना का संग-साथ लेकर, खोए हुए आत्मविश्वास को जगाकर, दृढ़ आधार लेकर नए युग को, आनेवाले कल को, नए संस्कार देने को, सृजन करने को संकल्पित होती है और 'जीवन' रचना में सार्थक जीवन की परिभाषा गढ़ती है। एक नई आशा का संगीत गुनगुनाने लगता है।

कन्या भ्रूणहत्या पर 'धनिया का सपना' एक सुंदर रचना है। धनिया का सपना एक माँ का सपना है बेटी के जन्म का। मन की कल्पना के चलचित्रों का, जो अल्ट्रासाउंड रिपोर्ट के आघात से चूर-चूर हो जाता है।

'नारी' रचना में नारी के समस्त संभावित गुणों का वंदन है, जो नारी की संपूर्णता

के प्रति कवयित्री का शत-शत नमन व्याख्यायित करता है। अगला गीत 'नारी और नदी' एक प्रेरणात्मक गीत है।

'सीढ़ियाँ-दर-सीढ़ियाँ' भी एक अच्छी रचना है। प्रेरणात्मक उपदेश से भरी हुई, जो अरुणजी के इस कथन का पूर्णतया समर्थन करती दिखाई पड़ी है कि 'कहीं न कहीं डॉ० मीना के हृदय में एक शिक्षिका निरंतर उपस्थित रही है'। मैं भी स्वीकार करता हूँ कि कवि-मन अपनी सोच से निस्संग होकर नहीं रह सकता। उसकी रचनाओं में उसके व्यक्तित्व की परछाई अवश्य अपना आभास कराती रहती है।

वर्तमान का महत्त्व और अस्तित्व बताती रचना 'केवल आज' प्रशंसनीय प्रयास है। अच्छे भविष्य के पीछे दौड़नेवाले महत्वाकांक्षी व्यक्ति, जो कल की आशा में अपने आज को भुला बैठते हैं, उनके लिए एक सबक है, जो बहुत सरल भाषा में आदमी को जीना सिखाता है। 'हमारी संस्कृति' में कवयित्री ने भारतीय जीवन में पाश्चात्य संस्कृति के दुष्प्रभाव के प्रति सचेत करने का सफल प्रयास किया है और भारतीय जनमानस को धुँधला करनेवाली धूल को झाड़ने का संदेश दिया है।

एक और विषय, जिस पर डॉ० मीना जी ने लेखनी उठाई है, वह है 'संदेह' जिसके नकारात्मक विषैले प्रभाव से जीवन का ताना-बाना जीर्ण-शीर्ण होने लगता है। जीवन में सुख-शांति रखने के लिए संदेह के विषैले नाग को प्रारंभ में ही कुचल देना आवश्यक है। उनका संदेश है—

'इस सत्य को जानना है जरूरी
क्योंकि यही है जीवन का सार
हम संदेह से रहें दूर
ताकि बजता रहे जीवन का संतूर।'

सचमुच इतनी प्राणवान, भावपूर्ण एवं जीवन को सुख एवं आनंद देनेवाली रचनाओं का सृजन करनेवाली कवयित्री डॉ० मीना अग्रवाल जी साधुवाद एवं बधाई की पात्र हैं।

यादें बोलती हैं (कविता संग्रह); कवयित्री : डॉ० मीना अग्रवाल; प्रकाशक : हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उ०प्र०); संस्करण : 2010; मूल्य

□ द्वारा डॉ० युवराज गर्ग
कालिया मंदिर के सामने
नगीना रोड, धामपुर (बिजनौर)
मो० 09457803837



समय और साहित्य की मीमांसा है अभिनव मीमांसा

लखनऊ से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका 'अभिनव मीमांसा' किसी भी दलीय दलदल से पूरी तरह सुरक्षित है। पत्रिका सामयिक संदर्भों की साहित्यिक मीमांसा है। अक्टूबर से अप्रैल 2011 तक के अंक के संपादकीय में विवेक पांडेय ने अंयंत महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक प्रश्न उठाया है कि रचने का उद्देश्य क्या हो? वे लेखन का दायरा 'देह' तक सिमटते देखकर असहज हैं, क्योंकि 'देह' से जुड़े सृजन की उस 'जन' के लिए क्या अहमियत है, जो 'श्रम' से जुड़ा है। वे सांस्कृतिक विरासत को ऊर्जस्वित करनेवाले तत्त्वों से जुड़ने को अभिप्रेरित करते हैं। आज राजनेताओं की तरह बुद्धिजीवियों का भी गंभीरता से अपनी भूमिका को न निभाना भविष्य की बेहतरी के लिए शुभ संकेत नहीं है। मीडिया द्वारा सौंदर्य को उसकी वास्तविकता और सात्त्विकता से परे रखकर मात्र कामुक बनाने का प्रदर्शन जारी है, जो समाज में विकृति फैलाने के लिए पर्याप्त है। ऐसे समय में संपादक साहित्यकारों की ओर इस उम्मीद में टकटकी लगाए हैं कि इससे बचाने की ताकत साहित्य में ही है। जब साहित्य सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकारों से जुड़ता है, तब परिवर्तन होकर ही रहता है। साहित्य को सामंतों और बाजारों से बचाने की कवायद करनी होगी। पत्रिका में कविता, कहानी, कलाक्षेत्र, आलोचना तथा साक्षात्कार जैसी विधाएँ समाहित हैं। डॉ॰ विजयबहादुर सिंह का साक्षात्कार किसी साहित्यिक दस्तावेज़ की तरह बहुत महत्त्वपूर्ण है। रस-चिंतन से लेकर कलावाद तक की अभिव्यक्ति हुई है। सवालियों के ज़वाब सारगर्भित और संगत हैं। उनकी कविता-यात्रा और संवेदना, कल्पना तथा रुझान से परिचित होने का अवसर मिलता है। पवनकुमार वर्मा की चर्चित कृति 'बीइंग इंडियन' पर आधारित श्री शिवपूजन त्रिपाठी का आलेख अंक की विशिष्ट उपलब्धि है। वैश्विक परिदृश्य में भारत की स्थिति पर तार्किक प्रस्तुति लेख की गंभीरता सिद्ध करती है। मत्स्येंद्र शुक्ल की कविताएँ जहाँ कमज़ोर राष्ट्राध्यक्ष का नकारात्मक बयान पढ़ने में समर्थ हैं, वहीं पिछले दरवाज़े से आती विषाक्त हवा की आहट भी पहचान लेती हैं। इंसान के अंदर की इंसानियत मरते देखकर उनका चिंतित होना स्वाभाविक लगता है। जन्म शताब्दी के अवसर पर शमशेर, अज्ञेय और नागार्जुन को याद करते लेख पठनीय हैं। पत्रिका सृजन की विविधता से भरपूर है। संस्कृति, कला, संगीत, मीडिया पर रोचक सामग्री के साथ समीक्षा को भी समेटे हुए है। काव्यपक्ष को और सशक्त होना चाहिए था। प्रूफरीडिंग में सजगता अपेक्षित है। पत्रिका में पाठकों की प्रतिक्रिया के लिए भी स्थान मिले तो अच्छा हो।

अभिनव मीमांसा, संपादक : विवेक पांडेय, 1/99 विजयखंड, गोमतीनगर, लखनऊ

समीक्षक : शिवाकांत त्रिपाठी

सी-247, आवास विकास कालोनी

मीरा भवन, सिविल लाईंस, प्रतापगढ़ (उ०प्र०)

हिन्दी साहित्य निकेतन
16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०)
फोन : 01342-263232, 09368141411

ई-मेल :
giriraj3100@rediffmail.com
giriraj@hindisahityaniketan.com
वेबसाइट :
www.hindisahityaniketan.com

महत्त्वपूर्ण कोश एवं संदर्भ ग्रंथ

गुज़ल और उसका व्याकरण/निश्तर खानकाही एवं डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश : भाग-1/डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	495.00
हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश : भाग-2/डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	700.00
शोधसंदर्भ-भाग-1/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	500.00
शोधसंदर्भ-भाग-2/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	550.00
शोधसंदर्भ-भाग-3/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	525.00
शोधसंदर्भ-भाग-4/ डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	595.00
शोधसंदर्भ-भाग-5/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	895.00
तुकांत कोश/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल	300.00

समीक्षा एवं समालोचना

वादविवाद प्रतियोगिता : पक्ष और विपक्ष/डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
डॉ० कुँअर बेचैन के साहित्य में प्रतीक विधान/डॉ० अंजु भटनागर	500.00
मृदुला गर्ग कृत अनित्य : इतिहास और आख्यान का संबंध/डॉ० ज्योति सिंह	150.00
मृदुला गर्ग और नारी-अस्मिता का प्रश्न/ डॉ० ज्योति सिंह	300.00
काका हाथरसी : एक समीक्षा-यात्रा/डॉ० मिथिलेश माहेश्वरी	300.00
सांप्रदायिकता और हिंदी कथासाहित्य/डॉ० मनोज कुमार	250.00
अपनी कविताओं में अशोक चक्रधर/डॉ० दीपा के०	250.00
आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य में संगीत (पुरस्कृत)/डॉ० मीना अग्रवाल	450.00
डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य/डॉ० हरीशकुमार सिंह	350.00
साठोत्तरी हिंदी-गुज़ल : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
का योगदान/डॉ० अनिलकुमार शर्मा	350.00
एक साक्षात्कार : पं० अमृतलाल नागर के साथ/डॉ० शंकर क्षेम	150.00
गुज़ल : सौंदर्य और यथार्थ/अनिरुद्ध सिन्हा	150.00
समय के हस्ताक्षर (हिंदी के आधुनिक कवि)/डॉ० ज्योति व्यास	150.00
कालिदास के साहित्य में भौगोलिक तत्त्व/डॉ० लालबहादुर रावल	300.00

जनपद बिजनौर के आधुनिककालीन साहित्यकार/डॉ० अशोककुमार	350.00
बिजनौर क्षेत्र की ग्रामोद्योग-संबंधी शब्दावली का अध्ययन/डॉ० ओमदत्त आर्य	500.00
आस्थावाद एवं अन्य निबंध/डॉ० मिथिलेश दीक्षित	300.00
साहित्य और संस्कृति/डॉ० मिथिलेश दीक्षित	300.00
हास्य-निबंध : स्वतंत्रता के पश्चात्/डॉ० आशा रावत	350.00
आज़ादी के बाद का हिंदी गद्य-व्यंग्य/डॉ० प्रेम जनमेजय	350.00
हिंदी बालकाव्य के विविध पक्ष/विनोदचंद्र पांडेय	300.00
फिजी में प्रवासी भारतीय/डॉ० शुचि गुप्ता	300.00
मुक्तिबोध का रचना-संसार/डॉ० शिवशंकर लधवे	200.00

हास्य-व्यंग्य

मेरी हास्य-व्यंग्य कविताएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
मेरे इक्यावन व्यंग्य/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	300.00
चुनी हुई हास्य कविताएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	250.00
मंचीय व्यंग्य एकांकी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बाबू झोलानाथ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	60.00
राजनीति में गिरगिटवाद/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
भज्जी का जूता/महेशचंद्र द्विवेदी	150.00
क्लियर फंडा/महेशचंद्र द्विवेदी	120.00
प्रिय-अप्रिय प्रशासकीय प्रसंग/महेशचंद्र द्विवेदी	170.00
वसीयतनामा/पं० सूर्यनारायण व्यास, सं० राजशेखर व्यास	150.00
नो टेंशन/डॉ० सुरेश अवस्थी	170.00
काका की विशिष्ट रचनाएँ/काका हाथरसी	160.00
काका के व्यंग्य-बाण/काका हाथरसी	60.00
कक्के के छक्के/काका हाथरसी	160.00
लूटनीति मंथन करी/काका हाथरसी	160.00
खिलखिलाहट/काका हाथरसी	60.00
पैसे कहाँ से दें/डॉ० आशा रावत	200.00
चाहिए एक और भगतसिंह/डॉ० आशा रावत	100.00
गुरुदक्षिणा (व्यंग्य उपन्यास)/डॉ० आशा रावत	100.00
नमस्कार प्रजातंत्र/महेश राजा	150.00
ए जी सुनिए/अशोक चक्रधर	100.00
इसलिए बौद्ध जी इसलिए/अशोक चक्रधर	100.00
चुटपुटकुले/अशोक चक्रधर	60.00
तमाशा/अशोक चक्रधर	60.00
रंग जमा लो/अशोक चक्रधर	65.00
सो तो है/अशोक चक्रधर	60.00
हँसो और मर जाओ/अशोक चक्रधर	60.00

नमस्ते जी/डॉ० बलजीत सिंह	150.00
अब हँसने की बारी है/डॉ० बलजीत सिंह	200.00
1991 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	50.00
1992 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	50.00
1993 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	50.00
1994 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	60.00
1995 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	65.00
1996 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
1997 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
1998 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
1999 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	120.00
2002 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
2003 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
2004 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	170.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियाँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कविताएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
पिछले दशक के श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य एकांकी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
शिवशर्मा के चुने हुए व्यंग्य/डॉ० शिव शर्मा	50.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास)/डॉ० शिव शर्मा	150.00
अपने-अपने भस्मासुर/डॉ० शिव शर्मा	150.00
उलटा-पुलटा/डॉ० राकेश शरद	60.00
हास्य-व्यंग्य : मधुप पांडेय के संग/मधुप पांडेय	160.00
धमकीबाज़ी के युग में/निश्तर खानकाही	60.00
ला खर्चा निकाल/गजेंद्र तिवारी	200.00
जलनेवाले जला करें/गजेंद्र तिवारी	60.00
प्रतिनिधि व्यंग्य/दामोदरदत्त दीक्षित	100.00
कवयित्री सम्मेलन/सुरेंद्रमोहन मिश्र	100.00
पेट में दाढ़ियाँ हैं/सूर्यकुमार पांडेय	100.00
ये है इंडिया/डॉ० हरीशकुमार सिंह	120.00
आँखों देखा हाल/डॉ० हरीशकुमार सिंह	150.00
लिफ्ट करा दे/डॉ० हरीशकुमार सिंह	200.00
देवेंद्र के कार्टून/देवेंद्र शर्मा	80.00
कार्टून कौतुक/देवेंद्र शर्मा	120.00
लिफाफे का अर्थशास्त्र/डॉ० पिलकेन्द्र अरोरा	120.00

कहानी

जिज्ञासा और अन्य कहानियाँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	60.00
--	-------

पच्चीस कहानियाँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
कथा जारी है/बाबूसिंह चौहान	150.00
इक्कीस कहानियाँ/सत्यराज	100.00
अंदर धूप बाहर धूप (नारी-मन की कहानियाँ)/डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
उत्तराखंड की लोकगाथाएँ/डॉ० दिनेशचंद्र बलूनी	200.00
एक बौना मानव/महेशचंद्र द्विवेदी	100.00
लव जिहाद/महेशचंद्र द्विवेदी	200.00
कौन कितना निकट/रेणु 'राजवंशी' गुप्ता	120.00
लघु कथाएँ/डॉ० हरिशरण वर्मा	150.00

उपन्यास

अनोखा उपहार/श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
आसरा/श्रीमती सुषमा अग्रवाल	100.00
तीन बीघा ज़मीन/श्रीमती सुषमा अग्रवाल	200.00
कालचक्र से परे/श्रीमती नीरजा द्विवेदी	200.00
और लहरें उफनती रहीं/डॉ० तारादत्त निर्विरोध	200.00
बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास)/डॉ० शिव शर्मा	150.00
अराज-राज/डॉ० मोहन गुप्त	200.00
सुराज-राज/डॉ० मोहन गुप्त	350.00
एक गुमनाम फौजी की डायरी/डॉ० आशा रावत	150.00
एक चेहरे की कहानी/डॉ० आशा रावत	150.00
गुरुदक्षिणा (व्यंग्य-उपन्यास)/डॉ० आशा रावत	100.00

एकांकी-नाटक

मंचीय व्यंग्य एकांकी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बच्चों के हास्य नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बच्चों के रोचक नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बच्चों के अनुपम नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
बच्चों के उत्तम नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
भारतीय गौरव के बाल नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
ग्यारह नुक्कड़ नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
नीली आँखें/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	60.00
संसार : एक नाट्यशाला/बाबूसिंह चौहान	150.00
ग्यारह एकांकी/डॉ० हरिशरण वर्मा	200.00
दमन/रामाश्रय दीक्षित	100.00

ललित निबंध एवं रेखाचित्र

कैसे-कैसे लोग मिले/निश्तर खानकाही	125.00
यादों का मधुबन/कृष्ण राघव	150.00
समय के चाक पर/डॉ० लालबहादुर रावल	125.00
समय एक नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
दर्पण झूठ बोलता है/बाबूसिंह चौहान	60.00
मकड़जाल में आदमी/बाबूसिंह चौहान	80.00
उफनती नदियों के सामने/बाबूसिंह चौहान	100.00
पीठ पर नील गगन/बाबूसिंह चौहान	100.00
इन दिनों समर में/डॉ० कृष्णकुमार रत्नू	250.00

गीत-गुज़ल

निश्तर खानकाही समग्र (प्रकाशनाधीन)/निश्तर खानकाही	500.00
मोम की बैसाखियाँ (गुज़ल-संग्रह)/निश्तर खानकाही	50.00
गुज़ल मैंने छोड़ी (गुज़ल-संग्रह)/निश्तर खानकाही	80.00
गुज़लों के शहर में (गुज़ल-संग्रह)/निश्तर खानकाही	200.00
मेरे लहू की आग (गुज़ल-संग्रह)/निश्तर खानकाही	150.00
कोई आवाज़ देता है/डॉ० कुँअर बेचैन	150.00
दिन दिवंगत हुए/डॉ० कुँअर बेचैन	150.00
कुँअर बेचैन के नवगीत/डॉ० कुँअर बेचैन	200.00
कुँअर बेचैन के प्रेमगीत/डॉ० कुँअर बेचैन	150.00
पर्स पर तितली (हाइकु)/डॉ० कुँअर बेचैन	200.00
मातृभूमि के लिए/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	200.00
संघर्ष जारी है/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	170.00
देश हम जलने न देंगे/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
जीवन-पथ में/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
तुम भी मेरे साथ चलो/रमेश पोखरियाल 'निशंक'	150.00
शमा हर रंग में जलती है/रामेश्वरप्रसाद	150.00
अक्षर हूँ मैं (कविताएँ)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
सन्नाटे में गूँज (गुज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
भीतर शोर बहुत है (गुज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	160.00
मौसम बदल गया कितना (गुज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	100.00
रोशनी बनकर जिओ (गुज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
शिकायत न करो तुम (गुज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
आदमी है कहाँ (गुज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
हिंदी की सर्वश्रेष्ठ गुज़लें/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	150.00
सच सूली पर टँगने हैं/डॉ० अजय जनमेजय	80.00

तुम्हारे बाद (अनुपलब्ध)/डॉ० अजय जनमेजय	80.00
आदमी के हक में (गज़ल-संग्रह)/डॉ० रामगोपाल भारतीय	100.00
यहाँ तक वहाँ से (कविताएँ)/रमेश कौशिक	200.00
हास्य नहीं व्यंग्य (कविताएँ)/रमेश कौशिक	150.00
गांधारी का सच (खंडकाव्य)/आर्यभूषण गर्ग	200.00
राधेय (खंडकाव्य)/डॉ० आकुल	120.00
असित चंद्र : अवदात चंद्रिका (काव्य-नाटक)/डॉ० आकुल	120.00
जिंदगी गाती तो है/डॉ० आकुल	120.00
आसमान मेरा भी है (गज़ल-संग्रह)/किशनस्वरूप	100.00
बूँद-बूँद सागर में (गज़ल-संग्रह)/किशनस्वरूप	100.00
पंथ के पाँवड़े (काव्य-संग्रह)/किशनस्वरूप	100.00
आँचल-आँचल खुशबू (गज़ल-संग्रह)/कर्नल तिलकराज	100.00
जख़्म खिलने को हैं (गज़ल-संग्रह)/कर्नल तिलकराज	100.00
अग्निमुता/राजेंद्र शर्मा	150.00
सीतायनी/डॉ० शंकर क्षेम	150.00
हिरना लौट चलें (गीत-संग्रह)/शचींद्र भटनागर	150.00
तिराहे पर (गज़ल-संग्रह)/शचींद्र भटनागर	150.00
ढाई आखर प्रेम के (गीत-संग्रह)/शचींद्र भटनागर	200.00
अखंडित अस्मिता (मुक्तक-संग्रह)/शचींद्र भटनागर	200.00
गुलमुहर की छाँव में (गज़ल-संग्रह)/मनोज अबोध	100.00
स्नेहा/तारा प्रकाश	100.00
उजियारा आशाओं का/तारा प्रकाश	150.00
बुलंदी इरादों की/तारा प्रकाश	150.00
चलने से मंज़िल मिलती है/तारा प्रकाश	200.00
इंद्रधनुष/तारा प्रकाश	200.00
सुरों के खत/अश्विनीकुमार 'विष्णु'	100.00
सुनहरे मंत्र का जादू/अश्विनीकुमार 'विष्णु'	100.00
सफ़र में साथ-साथ (मुक्तक-संग्रह)/डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
जो सच कहे (हाइकु-संग्रह)/डॉ० मीना अग्रवाल	150.00
यादें बोलती हैं (कविताएँ)/डॉ० मीना अग्रवाल	200.00
एक मुट्ठी धूप/नीरजा सिंह	100.00
कटे हाथों के हस्ताक्षर/डॉ० कमल मुसद्दी	150.00
फ़ासले मिट जाएँगे (गज़लें)/डॉ० बलजीत सिंह	150.00
शब्द-शब्द संदेश (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह	150.00
जीवन है मुस्कान (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह	150.00
भीतर का संगीत (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह	200.00
सुख के बिरवे रोप (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह	200.00

इंद्रधनुष के रंग (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह	200.00
बहती नदी हो जाइए (गज़ल-संग्रह)/डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	150.00
जीवन-अमृत : पर्यावरण चेतना (दोहा-संग्रह)/डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
अक्षर-अक्षर हो अमर (दोहा-संग्रह)/डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
वैदुष्यमणि विद्योत्तमा (खंडकाव्य)/डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'	200.00
स्मृतियाँ/श्रीमती सुषमा अग्रवाल	100.00
अनजाने आकाश में/महेशचंद्र द्विवेदी	170.00
बातें कुछ अनकही/सत्येंद्र गुप्ता	200.00
मैंने देखा है/सत्येंद्र गुप्ता	200.00
हौसला तो है/सत्येंद्र गुप्ता	200.00
जज़्बात की धूप/धूप धौलपुरी	250.00
आड़ी-तिरछी यादों-सा कुछ/नवलकिशोर शर्मा	180.00
एड्स शतक/पूरणसिंह सैनी	150.00
खोजें जीवन सत्य (दोहा-संग्रह)/डॉ० ओमदत्त आर्य	150.00
राष्ट्र-शक्ति/सलेकचंद संगल	150.00
माँ तुझे प्रणाम/सलेकचंद संगल	150.00

आत्मकथा-संस्मरण

मेरा जीवन : ए-वन/काका हाथरसी	100.00
आत्मसरोवर/ओम्प्रकाश अग्रवाल	125.00
निष्ठा के शिखर-बिंदु/नीरजा द्विवेदी	200.00
सफ़र साठ साल का/डॉ० अजय जनमेजय (संपादक)	400.00
यादों की गुल्लक/गीतिका गोयल, अनुभूति भटनागर (संपादक)	300.00
आधी हकीकत आधा फ़साना/डॉ० बलजीतसिंह	150.00

बाल-साहित्य

धरती पर चाँद (बालगीत)/शंभूनाथ तिवारी	150.00
हम बगिया के फूल (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह	150.00
आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह	150.00
जादूगर बादल (बालगीत)/विनोद भृंग	150.00
आटे-बाटे दही चटाके (शिशुगीत)/बालकृष्ण गर्ग	150.00
चुनमुन की कहानियाँ (पुरस्कृत)/गीतिका गोयल	150.00
किशोर मन की कहानियाँ/डॉ० सरला अग्रवाल	150.00
हरा समंदर गोपी चंद्र (अनुपलब्ध)/डॉ० अजय जनमेजय	150.00
अक्कड़-बक्कड़ हो हो हो (अनुपलब्ध)/डॉ० अजय जनमेजय	100.00
नन्हे पंख ऊँची उड़ान (अनुपलब्ध)/डॉ० अजय जनमेजय	150.00

मानव-विकास की कहानी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	200.00
पार्टी गेम्स/चाँदनी कक्कड़	125.00

विविध

उत्तराखण्ड में आध्यात्मिक पर्यटन/डॉ० सरिता शाह	200.00
निशतर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल	
पर्यावरण : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	200.00
नारी : कल और आज	200.00
निशतर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
विश्व आतंकवाद : क्यों और कैसे	125.00
हिंसा : कैसी-कैसी	200.00
दंगे : क्यों और कैसे (पुरस्कृत)	100.00
रमेशचंद्र दीक्षित, गिरिराज शाह, निशतर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	
मानवाधिकार : दशा और दिशा (पुरस्कृत)	300.00
रमेशचंद्र दीक्षित, गिरिराज शाह, गिरिराजशरण अग्रवाल	
सुरक्षा-संस्कृति	150.00
अपराध-अपराधी : अन्वेषण एवं अभियोजन/डॉ० गिरिराज शाह	200.00
गुरु नानकदेव/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	40.00
अमृतवाणी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल	60.00
वेद-वेदान्त दर्शन/डॉ० मूलचन्द दालभ	300.00
प्रकृति : एक ज्ञेय तत्त्व/डॉ० मूलचन्द दालभ	300.00
कन्हैया गीता /डॉ० मूलचन्द दालभ	900.00
मैं हरिद्वार बोल रहा हूँ/डॉ० कमलकांत बुधकर	395.00
टास्कफोर्स : हैलथकेयर प्रोजेक्ट्स/डॉ० गोविंद शर्मा एवं रवि लंगर	450.00
सिद्धाश्रम का संन्यासी/मनोज भारद्वाज	150.00
समुद्री दैत्य सुनामी/डॉ० लालबहादुर रावल	150.00

हिन्दी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०)

फोन : 01342-263232, 09368141411

हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश

(सचित्र)

संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

डॉ० मीना अग्रवाल

‘हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश’ के दो भागों का भरपूर स्वागत हुआ था। अब इसका तीसरा भाग प्रकाशित करने की योजना बनाई गई है। इस खंड में प्रत्येक साहित्यकार का चित्र भी प्रकाशित किया जाएगा।

आपसे आग्रह है कि कृपया अपना परिचय निम्न क्रम से भिजवाएँ—

1. नाम
2. जन्मतिथि
3. जन्मस्थान
4. शिक्षा
5. कार्यक्षेत्र
6. प्रकाशित कृतियाँ
7. पुरस्कार-सम्मान
8. पता
9. दूरभाष नं० (मोबाइल तथा ई मेल आदि)

परिचय के साथ अपना छायाचित्र भी प्रेषित करें। कृपया अपने छायाचित्र के पीछे अपना नाम तथा शहर का नाम अवश्य लिखें।

निश्चय ही ‘हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश’ साहित्यकारों के परस्पर परिचय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा।

अपना परिचय व चित्र इस पते पर भेजें—

हिंदी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ.प्र.)

दूरभाष : 01342-263232, 09368141411

शोध संदर्भ-5

संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

डॉ० मीना अग्रवाल

‘शोध-संदर्भ’ के अब तक प्रकाशित चार खंडों में उपाधिपरक हिंदी-शोध के आरंभ से सन् 2003 तक स्वीकृत शोधप्रबंधों का वर्गीकृत विवरण दिया गया था। अब शोध-संदर्भ-5 भी प्रकाशित हो गया है, जिसमें सन् 2003 के बाद स्वीकृत शोधप्रबंधों का वर्गीकृत विवरण सम्मिलित किया गया है।

ग्रंथ में विवरण निम्नलिखित क्रम में प्रकाशित किए गए हैं—

1. शोधकर्ता का नाम
2. जन्मतिथि
3. शोध का विषय
4. विश्वविद्यालय का नाम
5. उपाधि वर्ष
6. निदेशक का नाम व पता
7. प्रकाशन का विवरण
8. पता

इस विशिष्ट ग्रंथ का मूल्य 895 रुपए है, किंतु शोध-निदेशकों, हिंदी-प्राध्यापकों तथा शोध-छात्रों को यह ग्रंथ मात्र 500 रुपए में दिया जा रहा है।

ग्रंथ की प्रतियाँ सीमित संख्या में प्रकाशित की गई हैं। अतः निराशा से बचने के लिए अपना आदेश तथा धनराशि का बैंक ड्राफ्ट हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर के नाम यथाशीघ्र निम्न पते पर भेजिए। सी०बी०एस० शाखाओं के चेक स्वीकार्य होंगे।

हिंदी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ.प्र.)

01342-263232, 09368141411

आजीवन सदस्य

डॉ० रामानंद शर्मा

अध्यक्ष हिंदी विभाग, हिंदू (पी०जी०) कालेज
9, जिगर कालोनी
मुरादाबाद (उ०प्र०)

डॉ० मधुलिका तिवारी

रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग,
एल०आर० पी०जी० कॉलिज, साहिबाबाद
गाजियाबाद (उ०प्र०)

डॉ० शंकरलाल शर्मा 'क्षेम'

अध्यक्ष हिंदी विभाग,
आ०एस० (पी०जी०) कालेज
धामपुर (बिजनौर)

डॉ० शाहबुद्दीन निजाज़ मुहम्मद शेख

प्राचार्य, लोकसेवा कला व विज्ञान महा०
औरंगाबाद,
अध्यक्ष, राष्ट्रीय हिंदी सेवा महासंघ
78/484 सिविल हडको,
अहमदनगर 414003 (महा०)

डॉ० लियाक़त मियां भाई शेख

अखिलेश नगर, प्लॉट क्र० 11
नए बस स्टैंड के पास
गंगापुर,
ज़िला औरंगाबाद (महा०)

डॉ० अशोक द्रौपद गायकवाड़

कृतज्ञता, अवधूत पार्क
आरोह निसर्ग के पास
कादंबरी नगरी के सामने
पाइप लाइन रोड, सावेडी
अहमदनगर (महा०) 414003

प्रा० दत्तात्रेय माधवराव टीलेकर

द्वारा संतोष मेडिकल
साई प्रेस्टिज, फ्लैट क्रमांक 13
पाटिल अली, ओतूर
तह० जुन्नर, ज़िला पुणे (महा०) 412409